पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५९

सपादक
प्रो० सागरमल जैन

आचार्य मेरुतुङ्ग कृत

जैनमेघदूतम्

2851

भूमिका, मूल, टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित

डॉ० रविशंकर मिश्र

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५१

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

आचार्य मेरुतुङ्गकृत

जैन मेघदूतम्

महीमेरुगणिकृत बालावबोधवृत्ति, विस्तृत भूमिका एवं
हिन्दी अनुवाद समन्वित

भूमिका लेखक एवं वृत्तिसम्पादक
डॉ० रविशंकर मिश्र M. A. Ph. D.

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ सहयोग—पू० कलाप्रभ सूरिजी की प्रेरणा से अञ्चलगच्छीय
जैनसंघ बम्बई के पाँच हजार के अर्थ सहयोग से मुद्रित

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड,
बी० एच० यू०, वाराणसी-५
फोन : ३११४६२

●

प्रथम संस्करण १९८९

●

विस्तृत भूमिका :
डॉ० रविशंकर मिश्र
वृत्ति सम्पादन
डॉ० रविशंकर मिश्र
हिन्दी अनुवाद
डॉ० रविशंकर मिश्र
पं० ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी

●

मूल्य : १००) रु०

●

MERUTUNG'S JAINA MEGHADUTA
By : Dr. Ravi Shankara Mishra
Price : Rs. 100.00
First Edition : 1989

●

मुद्रक :
वर्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

सामान्यतया जैन धर्म वैराग्य प्रधान रहा है। अतः उसका अधिकांश साहित्य वैराग्यपरक एवं उपदेशमूलक है और इसी आधार पर प्रायः यह आक्षेप भी लगाया जाता है कि जैन परम्परा में रस-प्रधान साहित्य का अभाव है। किन्तु यदि हम वस्तुतः जैन आचार्यों की कृतियों का विश्लेषण करें तो विद्वत् जगत का यह आक्षेप निराधार सिद्ध हो जायेगा। जैन आचार्यों ने साहित्य की सभी विधाओं का संस्पर्श किया है। दुर्भाग्य केवल यही है कि उन जैन आचार्यों की कृतियाँ विद्वत् जगत के सम्मुख नहीं आ सकीं। कालिदास के 'मेघदूत' का नाम विद्वत् जगत में सर्व विश्रुत है किन्तु उसी तरह के 'जैनमेघदूत', 'शीलदूत', 'नेमिदूत' आदि के सन्दर्भ में विद्वत् जगत अपरिचित ही है। ये कृतियाँ विद्वत् जगत के सम्मुख आयें—इसी को दृष्टि में रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने इनके शोधात्मक अध्ययन और प्रकाशन की व्यवस्था की है। इस क्रम में 'जैनमेघदूत' नामक यह कृति विद्वत् जगत के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

इस कृति का शोधात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन डॉ० रविशंकर मिश्र ने विद्याश्रम के शोध-छात्र के रूप में किया है। उन्होंने अपने इस अध्ययन में 'जैन-मेघदूत' की कालिदास के 'मेघदूत' से तुलना की है। इस समस्त शोध को हमने ग्रन्थ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह मात्र भूमिका नहीं है अपितु अपने आप में एक सम्पूर्ण ग्रन्थ है। डॉ० रविशंकर मिश्र ने इसमें न केवल 'जैनमेघदूत' के विभिन्न पक्षों पर गम्भीर रूप से विचार किया है अपितु कालि-दास के मेघदूत के साथ उन सभी पक्षों की तुलना भी की है। साथ ही उन्होंने दूतकाव्य की परम्परा और जैन दूतकाव्यों का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया है। आचार्य मेरुतुंग की यह कृति टीका सहित श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई थी और वर्तमान में अनुपलब्ध है। अतः हमने यह आवश्यक समझा कि मूलग्रन्थ के साथ-साथ उसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया जाय। आत्मानन्द सभा से जो संस्करण प्रकाशित हुआ था उसमें एक टीका भी प्रकाशित हुई थी किन्तु इस अवधि में हमें गणिवर्य कलाप्रभसूरि जी से यह ज्ञात हुआ कि इस पर महीमेरुगणिकृत बालावबोध वृत्ति भी उपलब्ध है जो सम्प्रति अप्रकाशित है। उनके निर्देशानुसार हमने उक्त बालावबोध वृत्ति की हस्तप्रत को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। हमें उसकी हस्तप्रत लालभाई दलपतभाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद से प्राप्त हुई। इसके सम्पादन का भार भी डॉ० रविशंकर मिश्र को ही सौंपा गया। हमें यह कहते हुए प्रसन्नता है कि उन्होंने अत्यन्त श्रम करके इस बालावबोध वृत्ति की प्रामाणिक प्रेस कापी तैयार की। मूलग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का प्रारम्भिक कार्य भी डॉ० रविशंकर मिश्र ने ही किया था किन्तु भाषा-सौष्ठव और प्रामाणिकता के लिए हमने यह कार्य बाद में पं० ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी को सौंपा। उन्होंने डॉ० मिश्र के अनुवाद को उपजीव्य बनाते हुए नये सिरे से इस अनुवाद कार्य को पूर्ण किया। अतः इस प्रसंग पर हम डॉ० रविशंकर मिश्र के साथ-साथ पं० ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करते हैं। आज एक दीर्घ अवधि के बाद हम इस ग्रन्थ को इसकी विस्तृत भूमिका, मूल श्लोक, उस पर बालावबोधवृत्ति तथा हिन्दी अनुवाद के साथ विद्वत् जगत के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आत्म-सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के शोधात्मक अध्ययन से लेकर सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन तक के समग्र कार्य में संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन केन्द्रीभूत रहे हैं। वे संस्थान के अभिन्न अंग हैं, अतः उन्हें धन्यवाद देना भी एक औपचारिकता होगी। साथ ही हमें इस कार्य में डॉ० सुदर्शनलाल जैन और डॉ० अशोक कुमार सिंह का भी सहयोग उपलब्ध रहा है। मूलग्रन्थ, वृत्ति तथा अनुवाद के संशोधन में यदि डॉ० अशोक कुमार सिंह का सहयोग न मिला होता तो इसके प्रकाशन की प्रक्रिया और अधिक पिछड़ गयी होती। अतः हम उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं प्रामाणिक मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय के आभारी हैं।

विद्वत् जगत से हमारी एक ही अपेक्षा है कि वे ग्रन्थ के सम्यक् अवलोकन के पश्चात् हमें अपने मन्तव्यों से अवगत करायें ताकि हम आत्म-तोष की अनुभूति कर सकें।

भूपेन्द्र नाथ जैन

मन्त्री

श्री सोहनलाल जैन विद्या प्रसारक समिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक एवं भूमिका लेखक का स्वकथ्य

इस ग्रन्थ में भूमिका के रूप में प्रस्तुत भाग वस्तुतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत 'महाकवि कालिदास कृत मेघदूत और जैनकवि मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूत का साहित्यिक अध्ययन' शीर्षक मेरे शोध प्रबन्ध का संक्षिप्त एवं संशोधित रूप है। मैंने कालिदास और उनके मेघदूत से सम्बन्धित आवश्यक सामग्री ही प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका के रूप में समाविष्ट किया है। इस भूमिका के साथ ही जैनमेघदूतम् मूल, महीमेरुगणि कृत बालावबोधवृत्ति एवं हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है। इस सम्बन्ध में पूर्ण विवरण प्रकाशकीय में उपलब्ध है अतः पुनः उसका उल्लेख कर पुनरुक्ति नहीं करना चाहता हूँ। भूमिका सहित ग्रन्थ योजना इस प्रकार है—

आरम्भ में मैंने दूतकाव्य के उद्भव एवं विकास पर विचार किया है। इसमें दूतशब्द की व्युत्पत्ति तथा दूतकाव्य के उद्भव का विचार करते हुए ऋग्वेद, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, भागवत, बौद्धजातक एवं पउमचरिय आदि प्राचीन ग्रन्थों में उसका प्रारम्भिक स्रोत बतलाया है। साथ ही भाववैभिन्य के आधार पर दूतकाव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) शृंगार प्रधान (२) अध्यात्म प्रधान। शृंगार प्रधान दूतकाव्यों में कालिदासीय मेघदूत सदृश दूतकाव्यों एवं अध्यात्म प्रधान दूतकाव्यों में जैनमेघदूत सदृश अध्यात्मपरक दूतकाव्यों का उल्लेख हुआ है।

इसके पश्चात् अद्यावधि उपलब्ध एवं ज्ञात जैन एवं जैनेतर कवियों द्वारा रचित समस्त संस्कृत दूतकाव्यों का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है।

'कवि परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत जैनमेघदूत काव्य के रचयिता आचार्य मेरुतुङ्ग के स्थितिकाल, उनके गच्छ निर्धारण आदि को स्पष्ट कर उनके जीवन-चरित एवं उनसे सम्बन्धित अनेक प्रभावी अवदानों के साथ उनके समस्त ग्रन्थों पर विचार किया गया है।

'काव्य परिचय' शीर्षक में मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूत का पूर्व परिचय प्रस्तुत कर सर्ग क्रमानुसार कथा वर्णित की गई है तथा कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में जैनमेघदूत काव्य की कथाशिल्प सम्बन्धी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करने के लिए दोनों दूतकाव्यों की कथाविषयक विभिन्नताओं का विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जैनमेघदूत में रस विमर्श' के अन्तर्गत साहित्य शास्त्र में प्रतिपादित रस के महत्त्व को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से रस का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में विप्रलम्भ शृंगार के साथ ही शान्त रस का भी चित्रण हुआ है। प्राधान्य शान्त रस का है। कालिदास कृत मेघदूत एवं जैनमेघदूत सम्बन्धी रस विचार को समीक्षण के निष्कर्ष पर परखने का प्रयास किया गया है।

'ध्वनि विमर्श' में ध्वनि का सामान्य स्वरूप एवं उसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए जैनमेघदूत विषयक ध्वनि प्रयोगों को विवेचित किया गया है। साथ ही काव्यद्वय के ध्वनि योजना की समीक्षा भी की गयी है।

'अलंकार विमर्श' में अलंकार के सामान्य स्वरूप एवं उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। ग्रन्थ विषयक अलंकार विचार से स्पष्ट होता है कि उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, उदात्त आदि अलंकारों का इसमें विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। मेघदूत में प्रयुक्त अलङ्कारों के साथ इस ग्रंथ में प्रयुक्त अलंकारों की समीक्षा भी की गई है।

जैनमेघदूत में दोष-विमर्श में दोष का सामान्य स्वरूप एवं साहित्य शास्त्र में उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है तथा इसमें स्थित किञ्चित् काव्य दोषों पर विचार किया गया है। साथ ही कालिदास के 'मेघदूत' में विद्यमान काव्य दोषों के साथ इसके दोषों की समीक्षा की गई है।

'गुण विमर्श' में गुण के सामान्य स्वरूप एवं साहित्य शास्त्र में उसका महत्त्व संक्षेप में प्रतिपादित है। जैनमेघदूत में सन्निहित गुण का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि इसमें किंचित् ओजगुण के सम्मिलित तत्त्वों से युक्त माधुर्य गुण विद्यमान हैं। 'मेघदूत' के गुण विमर्श के साथ ग्रंथ में गुण-विचार की समीक्षा भी प्रस्तुत की गयी है। इस भूमिका के अन्त में उपसंहार के रूप में अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इसके द्वितीय भाग के रूप में जैनमेघदूतम् का मूल, संस्कृत वृत्ति व हिन्दी अनुवाद प्रकाशित है।

अन्त में सहायक ग्रन्थों की सूची दी गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का विवेकपूर्ण एवं आलोचनात्मक उपयोग किया है। जिन विद्वानों के विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं, उनसे भी लाभान्वित होने का प्रयत्न किया है तथा यथास्थान पर उनका संदर्भ भी सूचित कर दिया है।

इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, यह सुधीवर्ग पर ही आश्रित है। परन्तु इस प्रयास में जिन साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों एवं महानुभावों का सहयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हुआ है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। सर्वप्रथम मैं अपने शोधनिर्देशक डॉ० सागरमल जैन (निदेशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी–५) एवं डॉ० सुदर्शन लाल जैन, (प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५) के प्रति नतमस्तक हूँ, जिनके वस्तु-तत्त्वनिर्देशन, सदुत्साह-संवर्धन एवं जिनकी भावायित्री-कारायित्री प्रतिभा से आत्म-संवल प्राप्त कर मैं इस प्रयास में सफल हो सका। अतः मैं पुनश्च अपने परम श्रद्धेय गुरुद्वय के प्रति सविधि सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं *अपने विभागीय गुरुजनों पूज्य* डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा (विभागाध्यक्ष), डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य, डॉ० रामायण प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्री नारायण मिश्र, डॉ० जयशंकर लाल त्रिपाठी एवं अन्य समस्त गुरुजनों के प्रति नतमस्तक हूँ, जिनके आशीर्वाद एवं सत् परामर्श से सदैव लाभान्वित होता रहा हूँ। परमादरणीय डॉ० वामन केशव लेले (रीडर, मराठी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के चरणों में भी श्रद्धा भक्ति अर्पित करता हूँ, जिनसे सदैव प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलता रहा है।

परम मनीषी मुनि श्री कलाप्रभ सागर जी म० सा० की सत्कृपा के लिए भी आभारी हूँ, जिन्होंने आचार्य मेरुतुङ्ग सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं शोधपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई तथा जिनका शुभाशीर्वाद इस कार्य को पूर्ण करने में सतत प्रेरणास्रोत रहा है।

केन्द्रीय ग्रन्थालय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के पुस्तकालयाध्यक्ष एवं शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय (पा० वि० शोध संस्थान) के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० मंगल प्रकाश मेहता के सहयोग को विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिनकी अमूल्य सहायता से मैं प्रतिक्षण लाभान्वित होता रहा हूँ; एतदर्थ वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के डॉ० हरिहर सिंह एवं श्री मोहनलाल जी का भी आभारी हूँ। उनका स्नेहपूरित-सौहार्द अविस्मरणीय रहेगा। इस कार्य को मूर्तरूप देने के प्रति सतत प्रेरक अपने सुहृदय मित्र डॉ० अरुण प्रताप सिंह, डॉ० भिखारी राम यादव, डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त, डॉ० विजय कुमार जैन, श्री रामजीत विश्वकर्मा, सुश्री उषा रानी सिंह एवं अनुज प्रमथ मिश्र व वृन्दारक मिश्र भी इस प्रसंग में चिरस्मरणीय हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा शोधवृत्ति, आवासीय सुविधा एवं अन्य अनेकविध सुविधाएँ प्राप्त होती रही हैं। मैं विद्याश्रम के मान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीय संचालकों के प्रति भी सहर्ष कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ को प्रकाशित करने का दायित्व वहन किया।

अन्त में, एक बार पुनः उन समस्त महानुभावों के उपकार का स्मरण कर अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे परोक्ष या अपरोक्ष किसी भी रूप में मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

डॉ० रविशंकर मिश्र

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

भूमिका पृष्ठ १–२२४

दूतशब्द की व्युत्पत्ति पृ० २-३, साहित्य में दूत ३-५ दूतकाव्य ५-८, दूतकाव्य के आदिस्रोत ९-१७ दूतकाव्यों का वर्गीकरण १७-२१—शृंगार प्रधान १८-१९, अध्यात्म प्रधान १९-२१, **जैनदूतकाव्य**—२२-३२,—इन्दुदूतम्—२२, चन्द्रदूतम्—२३, चेतोदूतम्—२३, जैनमेघदूतम्—२४, नेमिदूतम्—२४-२५, पवनदूतम्—२५-२६, पार्श्वाभ्युदय—२६-२८, मनोदूतम्—२८, मयूरदूतम्—२८, मेघदूत समस्या लेख २९-३०, वचनदूतम्—३०, शीलदूतम् ३०-३१, हंसपादांकदूतम्—३१-३२।

जैनेतर दूतकाव्य ३३-७९

अनिलदूतम्—३३, अब्ददूतम्—३३-३४, अमरसन्देश—३४, उद्धवदूतम्—३४, उद्धवसन्देश—३४-३५, कपिदूतम्—३५, काकदूतम्—३५-३६, कीरदूतम्—३६, कोकसन्देश—३७, कोकिलदूतम्—३७-३८, कोकिलसन्देश—३८-३९, कृष्णदूतम्—३९, गरुड़सन्देश—३९, गोपीदूतम्—३९-४०, घटखर्पर काव्यम्—४०, घनवृत्तम्—४१, चकोरदूतम्—४१, चक्रवाकदूतम्—४१, चातकसन्देश—४१, चकोरसन्देश—४१, चन्द्रदूतम्—४२, झंझावात—४३, तुलसीदूतम्—४३-४४, दात्यूहसन्देश—४४, दूतवाक्यम्—४४, दूतघटोत्कच—४४, देवदूतम्—४५, नलचम्पू—४५, पद्यदूतम्—४५-४६, पदाङ्कदूतम्—४६-४७, पवनदूतम्—४७-४८, पादपदूतम्—४८, पान्थदूतम्—४८-४९, पिकदूतम्—४९-५०, प्लवङ्गदूतम्—५०-५२, मेघसंदेश विमर्श—५२, बुद्धिसंदेश—५२, भक्तिदूतम्—५२, भ्रमरदूतम्—५२-५३, भ्रमरसंदेश—५३, भृंगदूतम्—५३, भृंगसंदेश—५३-५४, मधुकरदूतम्—५४, मधुरोष्ठसंदेश—५४, मनोदूतम्—५४-५५, मयूखदूतम्—५५-५६, मयूरसंदेश—५६-५७, मानससंदेश—५७, मारुत्संदेश—५७, मित्रदूतम्—५७-५८, मुद्गरदूतम्—५८, मेघदूतम्—५८-६१, मेघदूतम्—६१, मेघदौत्यम्—६२, मेघप्रतिसंदेश—६२, यक्षमिलनकाव्यम्—६२-६३, यज्ञोल्लास—६३, रथाङ्गदूतम्—६३, वकदूतम्—६३, वाङ्मण्डनगुणदूतम्—६४, वातदूतम्—६४, वायुदूतम्—६४, विटदूतम्—६४, विप्रसंदेश—६४-६५, श्येनदूतम्—६५, शिवदूतम्—६५, शुकदूतम्—६५, शुकसंदेश—६५-६६, सिद्धदूतम्—६६, सुभगसंदेश—६६, सुरभिसंदेश—६६, हनुमद्दूतम्—६६-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६७, हनुमत्संदेश—६७, हरिणसंदेश—६७, हारीतदूतम्—६७, हंसदूतम्—६७-६९, हंससंदेश—६९-७०—हृदयदूतम्—७० ।

कविपरिचय ७१-८२

आचार्यमेरुतुङ्ग स्थितिकाल—७१-७२, जीवन चरित—७२-७३, अनेक प्रभावी अवदात—७४-७६, उपाधियाँ—७६, शिष्य-परिवार—७६-७७, स्वर्गवास—७७, रचनाएँ—७७-८३, षड्दर्शनसमुच्चय—७८, बालावबोध व्याकरण—७८, जैनमेघदूतम्—७८, धातुपारायण—७९, रसाध्याय टीका—७९, सप्ततिभाष्य टीका—७९, लघुशतपदी—७९, कामदेवनृपतिकथा—७९, पद्मावतीकल्प—७९, शतकभाष्य—७९, नमुत्थणं टीका—८०, जीरावल्ली पार्श्वनाथ-स्तव—८०, सूरिमन्त्रकल्प-सारोद्धार—८०, संभवनाथचरित्र—८०, सप्ततिभाष्य टीका—८० शतपदी सारोद्धार—८०, जेसाजी प्रबन्ध—८०, स्तम्भनकपार्श्वनाथ प्रबन्ध—८१, नाभिवंशकाव्य—८१, सूरिमन्त्रकल्प—८१, यदुवंशसम्भवकथा—८१, नेमिदूत महाकाव्य—८१, कृद्वृत्ति—८१, कातन्त्र व्याकरण बालावबोध वृत्ति—८१, उपदेशचिन्तामणिवृत्ति—८१, नाभाकनृपकथा—८१, सुश्राद्ध कथा—८२, चतुष्कवृत्ति—८२, अंगविद्योद्धार—८२, ऋषिमण्डलस्तव—८२ पट्टावली—८२, भावकर्मप्रक्रिया—८२, लक्षण शास्त्र—८२, राजीमती-नेमि-सम्बन्ध—८२, वारिविचार—८२, कल्पसूत्रवृत्ति—८२ ।

काव्य-परिचय–विषयवस्तु ८४-९३

जैनमेघदूतम् का कथाशिल्प ९४-१०४

काव्यशिल्प विधान—९४-९५, दौत्यकर्म में भिन्नता—९५-९६, मनोवैज्ञानिकता—९६-९७, प्राकृतिक चित्रण—९८-९९, वैज्ञानिकता—९९, मेघमहत्त्व-प्रतिपादन—९९-१००, काव्य-नायक विचार—१००-१०१, नायक सम्बन्धी प्रवासमूलक कारण—१०१-१०४ ।

रस विमर्श १०५-१२३

रस : सामान्य परिचय—१०५-१०७, जैनमेघदूतम् में रस—१०७-११४, संयोग शृंगार–११४-११८, शान्त रस–११८-११९, रस समीक्षण–११९-१२३ ।

ध्वनि-विमर्श १२४-१३३

ध्वनि : सामान्य परिचय—१२४-१२६, जैनमेघदूतम् में ध्वनि—१२६-१३०, ध्वनि समीक्षण—१३०-१३३ ।

अलंकार विमर्श १३४-१८४

अलङ्कार : सामान्य परिचय—१३४-१३९, जनमेघदूतम् में अलंकार—१३९-१४१, अनुप्रास—१४१-१४३, वक्रोक्ति—१४३, उपमा—१४३-१४५, उत्प्रेक्षा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४५-१४६, रूपक—१४६, समासोक्ति—१४७,निदर्शना—१४७-१४८, अतिशयोक्ति—१४८-१४९, दृष्टान्त—१४९-१५०, तुल्ययोगिता—१५०-१५१, व्यतिरेक—१५१, विशेषोक्ति—१५२, यथासंख्य—१५२, अर्थान्तर न्यास—१५३-१५५, स्वभावोक्ति—१५५-१५६, सहोक्ति—१५६, भाविक—१५७, काव्यलिंग—१५७-१५८, उदात्त—१५८, समुच्चय—१५९, पर्याय—१५९-१६०, अनुमान—१६०-१६१, परिकर—१६१, सम—१६१-१६२, स्मरण—१६२-१६३, विषम—१६३, अपह्नुति—१६३-१६४, अप्रस्तुत प्रशंसा—१६४-१६५, दीपक—१६५, आक्षेप—१६५-१६६, विभावना—१६६-१६७, विरोध—१६७, व्याजस्तुति—१६८, पर्यायोक्त—१६८-१६९, समाधि—१६९-१७०, प्रत्यनीक—१७०-१७१, सामान्य—१७१, विशेष—१७१-१७२, हेतु— १७२, जाति—१७३, भाव—१७३-१७४, अवसर—१७४-१७५, अतिशय—१७५, निषेध—१७५-१७६, संसृष्टि—१७६-१७७ संकर—१७७-१७८, अलंकार समीक्षण—१७९-१८४।

दोष-विमर्श १८५-१९९

दोष : सामान्य परिचय—१८५-१८७, जैनमेघदूतम् में दोष—१८७-१८८, अयुक्तमद् दोष—१८८-१९०, च्युतसंस्कृति दोष—१९०-१९२, हीनोपमादोष—१९२-१९३, अधिकोपमा दोष—१९३-१९४, नवीन एवं गूढ़ शब्द प्रयोग दोष—१९४-१९६, अप्रसिद्ध प्रयोगदोष—१९६-१९७, दोष समीक्षण—१९७-१९९।

गुण-विमर्श २००-२१४

गुण : सामान्य परिचय—२००-२०३, जैनमेघदूतम् में गुण—२०३-२११, गुणसमीक्षण—२१२-२१४।

छन्द-विमर्श २१५-२२१

छन्द : सामान्य परिचय—२१५-२१६, जैनमेघदूतम् में छन्द—२१६-२२०, छन्द समीक्षण—२२०-२२१।

उपसंहार २२२-२२६

मूलवृत्ति एवं हिन्दी अनुवाद १-१२५

सहायक ग्रन्थ सूची १२७-१३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

संस्कृत दूतकाव्य साहित्य में दूत का सम्प्रेषण सर्वविदित है। यह भी स्पष्ट है कि नायक अथवा नायिका का अपनी प्रेयसी अथवा प्रिय के पास विरहावस्था में प्रणयसन्देश भेजना ही इस दूत का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। प्राचीन शास्त्रकारों ने सन्देश का लक्षण दिया है—

सन्देशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्ता प्रेषणं भवेत्।[1]

अतः दूत द्वारा सन्देश-सम्प्रेषण ही इन काव्यों का मुख्य विषय रहा है। इसी आधार पर ही इन काव्यों को—'सन्देश-काव्य' अथवा 'दूतकाव्य' इन दोनों नामों से अभिहित किया जाता है। दोनों का अर्थभाव एक समान ही है। मात्र कुछ अन्तर है तो इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति और बाह्य रूप में।

मेघसन्देश के रूप में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—

मेघस्य सन्देशः अथवा मेघाय उक्तः सन्देशः मेघसन्देशः, स एवाभेदोपचारात्तत्संज्ञो ग्रन्थः।

दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में रचित ऐसे समस्त काव्य प्रायः सन्देशकाव्य ही कहे गये हैं। सन्देश की प्रधानता तथा सन्देशान्त नाम कुछ अधिक मधुर एवं कर्णप्रिय होने के कारण ही शायद मल्लिनाथ ने भी मेघदूत की अपनी टीका में मेघसन्देश शब्द ही प्रयुक्त किया है।[2]

मेघदूत के रूप में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—

मेघः दूतः यस्मिन् काव्ये तत् मेघदूतम् अथवा मेघश्चासौ दूतश्च मेघदूतः स एवाभेदोपचारात्तत् संज्ञं काव्यम्।

उत्तर भारत तथा बंगाल में रचित ऐसे सभी काव्य प्रायः दूतकाव्य के रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं। सौन्दर्य की उपयुक्तता एवं सन्देश की भाव-प्रवणता पर ही निर्भर होने के कारण उपरोक्त दोनों ही नाम

---

१. साहित्यदर्पण, ३।४९।

२. मेघदूतम्, मल्लिनाथीय सञ्जीवनी टीका, पूर्वमेघ, प्रथम श्लोक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(सन्देशकाव्य एवं दूतकाव्य) उपयुक्त तथा अर्थसंगत ही हैं। परन्तु प्रस्तुत स्थल का समग्र विवेचन करने से पूर्व ही हमारा विवेच्य-बिन्दु दूतकाव्य पर स्थिर हो जाता है, अतः अब हमारा विवेच्य-लक्ष्य दूतकाव्य ही है।

'दूत' शब्द की व्युत्पत्ति :

सर्वप्रथम दूत शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार अभिप्रेत है—

दु गतौ + क्त (त) = दूत[1]

दुतानिभ्यां दीर्घश्च (उ०३।९०) सूत्र द्वारा दु के उ को दीर्घ होकर दूत शब्द व्युत्पन्न हुआ है। अमरकोष में दूत का अर्थ निम्नवत् स्पष्ट किया गया है—**स्यात्सन्देशहरो दूतः**[2]।

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि में दूत की परिभाषा इस प्रकार से की है—**दूतः सन्देशहारकः**[3]।

दूयतेऽनेन यथोक्तवादित्वात् पर इति दूतः 'शीरी'।
सन्देशं मुख्याख्यानं हरति संदेशहारकः।

दूत शब्द की इस व्युत्पत्ति के आधार पर सन्देशहारक (किसी एक व्यक्ति के सन्देश को उसके दूसरे अभीष्ट व्यक्ति तक पहुँचाने वाले व्यक्ति) को दूत कहते हैं। यह दूत, नायक-नायिका की मनःस्थिति का केवल पता ही नहीं लगाता, अपितु दोनों के मन में प्रेमभाव को भी उद्दीप्त करने का प्रयास करता है। साथ ही यह दूत नायक-नायिका के सम्मिलन-सन्देश को ही नहीं कहता है, अपितु उन दोनों के मिलन-स्थान का भी संकेत करता है तथा दोनों का मानभंग करने का भी प्रयास करता है।

---

१. (क) अमरकोष, २।६।१६।
(ख) शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ७३५।
(ग) वाचस्पत्यम्, पंचम भाग, पृ० ३६५५।
(घ) वैदिक पदानुक्रम कोष, तृतीय खण्ड, पृ० १६५९।
(ङ) शब्दरत्नमहोदधि, द्वितीय भाग, पृ० १०३८।

२. अमरकोष, २।६।१६।

३. अभिधानचिन्तामणि, ३।३९८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य विश्वनाथ ने इस दूत का त्रिविध भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥[1]

दूत उसे कहते हैं, जिसे विविध कार्यों हेतु यतस्ततः भेजा जाया करता है। ये दूत तीन प्रकार के हैं—(१) निसृष्टार्थ, (२) मितार्थ, (३) सन्देशहारक।

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥[2]

निसृष्टार्थ दूत वह है, जो दोनों (नायक-नायिका) के मन की बात समझकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान कर लेता है और प्रत्येक कार्य को स्वयं सुसम्पादित कर लेता है।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारा मितार्थकः।
यावद्भाषितसन्देशहारः सन्देशहारकः ॥[3]

मितार्थ दूत वह है, जो बात तो बहुत कम ही करे परन्तु जिस कार्य के लिए भेजा गया हो, उस कार्य को अवश्य सम्पादित कर ले तथा सन्देश-हारक दूत वह है, जो उतनी ही बात करे जितनी उसे बतायी गयी हो।

दूत : साहित्य में :

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'दूत' साहित्य के क्षेत्र में किस प्रकार आया? इस विषय में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक दूत से ही अभिप्रेरित होकर यह दूत साहित्यिक क्षेत्र में उपस्थित हुआ है। क्योंकि साहित्यिक दूत के अधिकांश लक्षण राजनीतिक दूत के लक्षणों से ही साम्य रखते हैं। शास्त्रकारों ने राजनीतिक दूत के लक्षणों को अनेकविध स्पष्ट किया है।

मनुस्मृति में दूत के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए महर्षि मनु लिखते हैं—

---

१. साहित्यदर्पण, ३।४७।
२. वही, ३।४८।
३. वही, ३।४९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते[1] ॥

राजा को चाहिए कि वह सब शास्त्रों का विद्वान्, इंगित आकार और चेष्टा को जानने वाला, शुद्धचित्त, चतुर तथा कुलीन दूत को नियुक्त करे। अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्तियुक्त, देश-काल का विज्ञाता, सुरूप वाला, निर्भीक एवं वाग्मी दूत श्रेष्ठ होता है।

अग्निपुराणकार ने दूत का अतिसंक्षिप्त लक्षण देते हुए कहा है—

दूतश्च प्रियवादी स्यादक्षीणोऽतिबलान्वितः[2] ॥

राजा को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को दूत बनाये जो प्रियभाषी, अक्षीण और अत्यन्त बल-सम्पन्न हो।

गरुड़पुराण में दूत का लक्षण निम्नवत् दिया गया है—

बुद्धिमान्मतिमांश्चैव परचित्तोपलक्षकः ।
क्रूरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते[3] ॥

बुद्धिमान्, मतिमान्, परचित्ताभिप्राय-विज्ञाता, क्रूर तथा जैसा कहा जाये वैसा ही कहने वाला दूत होना चाहिए।

महाभारत में दूत की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि दूत को कुलीन वंशोत्पन्न, वाग्मी (सुवक्ता), दक्ष, प्रियभाषी, यथोक्तवादी तथा स्मृतिमान् होना चाहिए—

कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥[4]

राजनीति-निपुण चाणक्य ने दूत का लक्षण देते हुए लिखा है—

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः परचित्तोपलक्षकः ।
धीरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते ॥

---

१. मनुस्मृति, ७।६३-६४।
२. अग्निपुराण, ८५।२।
३. गरुड़पुराण, ६८।८।
४. महाभारत, शान्तिपर्व, ८५।२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेधावी, वाक्चतुर, बुद्धिमान्, परचित्ताभिज्ञाता, धैर्यवान् एवं जैसा कहा जाये वैसा कहने वाला दूत होना चाहिए।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भों में राजनीतिक दूत की स्थिति स्पष्ट की गयी है, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र का दूत भी उपर्युक्त सन्दर्भों से पृथक् नहीं है। प्रायः वे सभी लक्षण इस साहित्यिक दूत में भी हैं, जो राजनीतिक दूत से सम्बद्ध हैं। साहित्यिक दूत के विषय में विशेष बात यह हुई कि कवियों की काव्यमयी प्रज्ञा ने, उस राजनीतिक दूत के आधार अपने नवीन काव्य-दूत की रचना कर ली। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ राजनीतिक दूत कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति ही हो सकता है, वहाँ साहित्यिक क्षेत्र के इस काव्यदूत के हेतु, मात्र बुद्धिजीवी व्यक्ति ही नहीं, अपितु विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, जीवविहीन वृक्ष-पादप और तो और मन-शील जैसे मनोभाव भी हो सकते हैं। इस बात का स्पष्ट प्रमाण वर्तमान में उपलब्ध दूतकाव्य-साहित्य में मिलता भी है। वर्तमान में कुछ ही दूतकाव्य हैं, जिनमें किसी बुद्धिजीवी व्यक्ति द्वारा दौत्यकर्म सम्पादित किया गया हो; शेष समस्त दूतकाव्यों का दौत्य-कर्म कपि, हरिण, चातक, हंस आदि पशु-पक्षियों; भ्रमर आदि जीवों तथा मन, शील आदि मनोभावों ने ही सम्पादित किया है। यही नहीं मेघ, पवन, सुरभि जैसे निश्चेतन तत्त्वों ने भी दौत्यकर्म सम्पादित किया है।

अतः स्पष्टतया कहा जा सकता है कि रसमर्मज्ञ साहित्यिकों ने राजनीतिक दूत से ही प्रेरणा ग्रहीत कर, इस साहित्यिक दूत को विचित्रविधि संवार कर अपने दूतकाव्यों का दूत बनाया और उसके माध्यम से अपने प्रतिपाद्य को प्रस्तुत किया है।

दूतकाव्य :

संस्कृत-काव्य-साहित्य की एक विशिष्ट परम्परा के रूप में इस दूत-काव्य-विधा का प्रारम्भ भास तथा घटखर्पर के काव्यों एवं कालिदास के मेघदूत में स्पष्टतया मिलता है। फिर भी, इस परम्परा का प्रारम्भिक उत्स और भी अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। उदाहरणतः ऋग्वेद में 'सरमा' नामक कुतिया को पणि लोगों के पास दूत बनाकर भेजने का उल्लेख हुआ है।[2] इसी प्रकार रामायण (वाल्मीकीय) और महाभारत आदि

---

१. चाणक्यनीति, १०६।

२. ऋग्वेद, १०।८।१०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन ग्रन्थों में भी मूक पशुओं द्वारा विरह एवं प्रेम-सन्देश प्रेषित करने के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। रामायण में राम ने हनुमान[1] को दूत बनाकर सीता जी के पास भेजा था, जिनके हाथों सीता जी ने भी अपना प्रेम-सन्देश राम के पास भेजा था[2]। महाभारत में दमयन्ती ने राजा नल के पास से आये हुये हंस द्वारा अपना प्रेम-सन्देश नल के समीप प्रेषित किया था।[3]

इन दूतों को निरा मूक पशु ही नहीं माना गया है, अपितु इनकी मनुष्य जैसी वाक्-शक्ति एवं चातुरी आदि का होना भी वैदिक शास्त्रों में उल्लिखित है। अतः इनको दूत बनाकर भेजने में कविकल्पना का कोई चमत्कारिक प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता, फिर भी यह मानना किञ्चिदपि अनुचित नहीं प्रतीत होता कि कालिदास इन पूर्वोल्लेखों से प्रभावित नहीं हुए थे। वे स्वयं इस प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा ॥

अतः स्पष्ट हो जाता है कि मेघदूत के रचना-काल के समय कालिदास के नेत्रों के समक्ष, राम द्वारा हनुमान को दूत बनाकर सीता के पास अपना सन्देश भेजने की घटना अवश्यमेव उपस्थित थी। ऐसे ही कथानक का उल्लेख कालिदासीय मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीका में भी किया है—

सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय कविः कृतवान् इत्याहुः।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य के इतिहास में कालिदास के मेघदूत की नवीन रचना शैली ने एक नया ही युग खड़ा कर दिया, साथ ही जन-मानस को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इस सम्बन्ध में मि० फाँचे का यह कथन यथार्थ ही है कि—'यूरोप के मनोव्यथा प्रदर्शित करने वाले (Elegy) समूचे साहित्य में मेघदूत की सानी कोई नहीं रखता है'।[4] अतः स्वभावतः मेघदूत को प्रख्याति प्राचीनकाल से ही सर्वमान्य रही है। वैसे उपलब्ध दूतकाव्यों में धोयी कवि का पवनदूत सर्वप्राचीन विदित होता है, फिर भी इसका कुछ पूर्वाभास इससे भी प्राचीन ग्रन्थ भवभूतिकृत मालती

---

१. वैदिकशास्त्रों में इनको पशु जाति का अनुमानित किया गया है।

२. वाल्मीकि रामायण, ४।४४–५।४०।

३. महाभारत, वनपर्व, ५३।३१-२।

४. एसे आन कालिदासः डॉ० भान दाजी, पृ० ७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माधव में मिलता है।[1] सप्तम एवं अष्टम शती के मध्य के कवि भामह ने स्पष्टतः ऐसे कवियों का उल्लेख किया है, जो पवन, मेघ, चन्द्र आदि अजीव एवं मूक प्राणियों से अपने काव्य में दौत्य-कर्म सम्पादित करवाते थे।[2] अतः शायद भामह के काल के दूतकाव्य ही कालिदास के मेघदूत के प्रतिरूपक थे, यह उचित ही स्पष्ट होता है।

उपरान्त के समस्त दूतकाव्य प्रायः मेघदूत के आधार पर ही रचे गये हैं, क्योंकि उन दूतकाव्यों में पदे-पदे कुछ ऐसे लक्षण परिलक्षित होते हैं। यहाँ तक कि प्रायः एक-दो काव्य छोड़कर शेष सभी दूतकाव्य मन्दाक्रान्ता वृत्त में ही रचे गये हैं (मेघदूत की रचना मन्दाक्रान्ता वृत्त में की गयी है)। विषय भी प्रायः वही है, जो मेघदूत में है अर्थात् एक प्रेमी का अपने प्रेम-पात्र के पास अपना प्रेम-सन्देश भेजना। फिर भी, इन अर्वाचीन दूतकाव्यों में मेघदूत से जहाँ इतनी कुछ समानताएँ हैं, वहीं यत्र-तत्र कुछ विभिन्नताएँ भी हैं। उदाहरणार्थ—जहाँ पूर्व के दूतकाव्यों में मेघ एवं पवन जैसे अजीव पदार्थों को दूत बनाया जाता था, वहीं इन परकालीन दूतकाव्यों में पशुओं एवं मनुष्यों ने दूत का स्थान ग्रहण कर लिया।[3] और तो और भक्ति, मन एवं शील आदि को भी दूत बनाकर दूतकाव्यों की रचनाएँ प्रारम्भ कर दी गईं।[4]

इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त दूतकाव्य-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में सबसे अद्‌भुत बात जो दृष्टिगत हुई, वह है—इन परवर्ती काव्यों में शान्त रस का समावेश, जो सम्भवतः सर्वप्रथम जैन कवियों द्वारा ही प्रारम्भ हुआ। इन जैन कवियों ने, इस दूतकाव्य-साहित्य की परम्परा को पूर्णतया एक नवीन ही आयाम दे डाला। पूर्व के दूतकाव्य, जो सामान्यतः शृंगार रस के वातावरण से आकण्ठ पूरित रहा करते थे; इन कवियों ने दूतकाव्यों के उस शृंगारिक वातावरण को शनैः-शनैः शान्त रस की ओर अभिमुख कर इस दूतकाव्य-परम्परा को सर्वथा एक नवीन ही दिशा प्रदान कर डाली है।

त्याग और संयम को ही जीवन का प्रमुख-पाथेय समझने वाले इन जैन कवियों ने प्रेम तथा शृंगार-प्रचुर इस काव्यपरम्परा में अपनी संस्कृति

१. मालतीमाधव, अध्याय ९।
२. काव्यालंकार, १।४२-४४।
३. हरिणसन्देश, उद्धवसन्देश इत्यादि।
४. मनोदूत, शीलदूत इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तात्त्विक-सिद्धान्तों के उच्च तत्त्वों को भी समाविष्ट कर दिया। अतः इन जैन कवियों के दूतकाव्यों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही साथ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित मिलते हैं। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ सदृश महापुरुषों के जीवन-वृत्तों को अपने काव्यों का आधार बनाकर इन जैन कवियों ने अपने नीरस से नीरस धार्मिक-सिद्धान्तों को सहृदयजन-आस्वाद्य बना दिया है।

इन नवीन संस्कारों के कारण यह पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वसाधारण जनमानस में इन दूतकाव्यों के प्रति विशेष आदरणीय स्थान निर्मित हो चुका था। इस सम्बन्ध में श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती एक स्थान पर लिखते हैं कि "और यदि ऐसा न होता तो यह सम्भव नहीं था कि विविध धर्मों के आचार्य और नेता अपने नीरस धर्म सिद्धान्तों और नियमों का प्रचार करने के लिए इस साहित्य-विधा का आधार ढूंढते!" इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण-जन में दूतकाव्यों की लोकप्रियता का एक कारण यह भी है कि इन दूतकाव्यों के चरित्रनायक व्यक्ति, कोई काल्पनिक या ऐतिहासिक व्यक्तियों में से न होकर, पुराणवर्णित महापुरुष आदि हैं। हिन्दू कवियों का मन राम-सीता और राधा-कृष्ण के कथानकों के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण ही हिन्दू कवियों के दूतकाव्यों में चरित्र-नायक का स्थान प्रमुखतः राम एवं कृष्ण को मिला है। इसी प्रकार जैन कवियों ने पार्श्वनाथ, नेमिनाथ एवं स्थूलभद्र जैसे महापुरुषों को अपने दूत-काव्यों के चरित्रनायक पद पर प्रतिष्ठित किया है। इन महापुरुषों के आदर्शों के प्रति जनमानस पूर्व से ही आस्थावान् था, अतः अपने आदर्श पुरुष के चरित्र से सम्बन्धित काव्यों को ग्रहण करना उनके लिए कोई विशेष बात नहीं थी, बल्कि स्वाभाविक ही था। इस प्रकार दूतकाव्य ने जनमानस को अन्य संस्कृत रचनाओं की अपेक्षा अधिक मोह लिया था, यह बात मात्र उल्लिखित अगणित संस्कृत दूतकाव्यों के अस्तित्व से ही प्रमाणित नहीं होती, प्रत्युत इस बात से भी होती है कि निकट भूतकालीन भाषा-कवियों ने भी इस प्रकार के साहित्य की रचना आवश्यक समझ कर अनेक भाषाओं में अपने दूतकाव्य रचे हैं (संस्कृत भाषा में रचित दूत-काव्यों का संक्षिप्त उल्लेख आगे किया गया है)। दूतकाव्यों के विकास का यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण था। पश्चात् के सभी कवियों ने इसी विधा को अपनाकर अपने-अपने दूतकाव्यों की रचना की है।

दूतकाव्य के आदिस्रोत :

दूतकाव्य की इस परम्परा के सम्बन्ध में किसी विवरणात्मक, व्याख्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्मक या क्रमबद्ध पारस्परिक साहित्य का अद्यावधि अप्राचुर्य है। इसलिए इस काव्य-विधा का आदिस्रोत खोज निकालना अति दुश्शक है। पर प्राचीन वैदिक काल से ही दूतकाव्य के आरम्भिक उत्स के प्रति शोध प्रारम्भ करने पर इस विधा के अनेक स्रोत प्राप्त होने लगते हैं।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में सरमा-पणि, इन्द्र-इन्द्राणी, यम-यमी आदि अनेक दूत-सम्वादात्मक कथाएँ उल्लिखित मिलती हैं। अतः ऋग्वेद को ही दूतकाव्य परम्परा में दूतकाव्य का आदिस्रोत माना जा सकता है, क्योंकि भारतीय-साहित्य में ऋग्वेद ही सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। इस वेद में सर्वप्रथम पशुओं द्वारा दूत कार्य करने का उल्लेख मिलता है। आचार्य बृहस्पति की गायों का जब पणि लोग अपहरण करके ले जाते हैं और उन गायों को एक गुफा में छिपा देते हैं, तब इन्द्र उन गायों की खोज के लिए सरमा नामक कुतिया को पणियों के पास भेजते हैं। सरमा पणियों के स्वामी असुर बल के नगर बलपुर में पहुँचती है और वहाँ जाकर गुप्तस्थान में छिपायी गयी उन गायों को खोज निकालती है। इस अवसर पर पणि लोग सरमा को अपनी तरफ मिलाना चाहते हैं[1]। इस सम्वाद से इतना तो यह अवश्य स्पष्ट होता है कि भारतीय साहित्य में पशुओं को दूत के रूप में भेजने की परम्परा अति प्राचीन है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ही एक अन्य कथा[2] भी उपलब्ध होती है। इसमें श्यावाश्व ऋषि राजा रथवीति के पास उनकी पुत्री के प्रति अपना प्रणय-सन्देश रात्रि के माध्यम से भेजते हैं। इसका उल्लेख आचार्य शौनक द्वारा प्रणीत बृहद्देवता में भी मिलता है।[3] ऋग्वेद में ही इसी प्रकार का एक दूसरा सम्वाद यम-यमी के प्रसंग का भी मिलता है।[4]

इस तरह ऋग्वेद में ही इन्द्र-इन्द्राणी, यम-यमी, सरमा-पणि आदि अनेक दूत-सम्वादात्मक कथाओं का उल्लेख मिलता है। अतः साधारणतः ऋग्वेद को ही इस दूतकाव्य-परम्परा का आदिस्रोत माना जाता सकता है।

वाल्मीकि रामायण—वाल्मीकि रामायण में भी दूत-सम्प्रेषण सम्बन्धी

---

१. ऋग्वेद, १०।८।१०८।
२. वही, ५।६१।१७-१८-१९।
३. बृहद्देवता, ५।७४-७५।
४. ऋग्वेद, १०।१०।१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मिलता है। सीताजी की खोज के लिए सुग्रीव द्वारा हनुमान को दूत बनाकर लंका भेजने की कथा तो सर्वविदित ही है—

विशेषेण तु सुग्रीवो हनुमत्यर्थमुक्तवान्[1]।
तद्यथा लक्ष्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय[2]॥

हनुमान जी को कार्यपटु एवं पराक्रमी समझकर श्रीरामचन्द्र स्वनामाङ्कित अँगूठी सीता के अभिज्ञानार्थ हनुमानजी को देते हैं—

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामांकोपशोभितम्।
अंगुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परन्तपः[3]॥

और अन्त में श्रीरामचन्द्र हनुमान से कहते भी हैं—

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं हरिवर विक्रमविक्रमैरनल्पैः।
पवनसुत यथाधिगम्यते सा जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व[4]॥

एक अन्य स्थल पर हनुमान जी सीता से कहते हैं—

अहं रामस्य सन्देशाद्देवि दूतस्तवागतः।
वैदेहि कुशली रामः स त्वां कौशलमब्रवीत्[5]॥

सीता द्वारा कुछ सन्देह प्रकट करने पर हनुमान श्रीरामचन्द्र के गुण-पराक्रम का वर्णन कर फिर सीता जी से कहते हैं—

तेनाहं प्रेषितो दूतस्त्वत्सकाशमिहागतः।
त्वद्वियोगेन दुःखार्तः स त्वां कौशलमब्रवीत्[6]॥

अन्त में सीताजी हनुमान को श्रीराम का दूत मान लेती हैं—

एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्षिता।
उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छतीं[7]॥

सीताजी द्वारा वापस चलने के लिए प्रस्तुत न होने पर हनुमानजी उनसे कुछ अभिज्ञान माँगते हैं—

---

१. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, ४४।१। २. वही, ४४।६।
३. वही, ४४।१२।
४. वही, ४४।१७।
५. वही, सुन्दरकाण्ड, ३४।२।
६. वही, ३४।३५।
७ वही, ३५।८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि नोत्सहसे यातु मया सार्धमनिन्दिते ।
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत्[1] ॥

सीताजी अपना चूड़ामणि उन्हें दे देती हैं—

ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूड़ामणिं शुभम् ।
प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ[2] ॥

अभिज्ञान देने के उपरान्त सीताजी श्रीराम को हनुमानजी के ही द्वारा अपना सन्देश भी भिजवाती हैं । इसके अतिरिक्त पञ्चवटी से सीताजी का अपहरण हो जाने पर उनके वियोग में श्रीराम द्वारा अति व्याकुल होकर विभिन्न वृक्षों, पशुओं, पक्षियों, पर्वतों तथा गोदावरी आदि से सीता के बारे में पूछना भी दूतकाव्यों का पथ-प्रदर्शक ही सिद्ध होता है ।[3] इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण में दूत द्वारा सन्देश का सम्प्रेषण, मार्ग का वर्णन तथा अभिज्ञान स्वरूप किसी वस्तु को देना एवं किसी घटना का वर्णन करना आदि बातें पायी जाती हैं । इन सभी बातों का पूरा-पूरा सामञ्जस्य कालिदास के मेघदूत में भी मिलता है ।

महाभारत—महाभारत में भी दूत-सम्प्रेषण के कई प्रसङ्ग देखने को मिलते हैं । सबसे प्रमुख रूप से युधिष्ठिर द्वारा दूत के रूप में श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर में कौरवराज दुर्योधन की सभा में भेजने की घटना आती है, जो सर्व-विदित ही है । भले ही इस दूत-सम्प्रेषण को विशुद्ध राजनैतिक ही मानें, क्योंकि यह सम्प्रेषण किसी विरही-विरहिणी का सन्देश-सम्प्रेषण न होकर मात्र राजनीतिक चालों से सम्बन्धित दूत-सम्प्रेषण था । परन्तु महाभारत के ही नलोपाख्यान में आए हुए हंस-दमयन्ती सम्वाद को तो निश्चित रूप से सन्देश-काव्यों के पथ-प्रदर्शक के रूप में मानना पड़ेगा । सम्वाद कुछ इस प्रकार से है कि एक-दूसरे के लावण्य की, गुण की, योग्यता की निरन्तर चर्चा सुनते रहने से नल और दमयन्ती परस्पर अप्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं । एक समय नल मन ही मन में दमयन्ती का ध्यान करते-करते अपने उद्यान में पहुँचता है, तभी वहाँ पर एक हंसों का समूह आता है । उनमें से एक हंस को नल पकड़ लेता है । इस पर हंस नल से कहता है—

---

१. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ३८।१० ।
२. वही, ४०।६९ ।
३. वही, ६१-६४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम् ॥
दमयन्ती संकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥
एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः[1] ॥

और इस प्रकार विदर्भ नगर पहुँचकर उस हंस ने दमयन्ती से नल की सुरूपता, बलशालिता व महानता का बखान किया। दमयन्ती ने भी उस हंस से नल के पास अपनी प्रणय-याचना निवेदित की। जिसे हंस ने नल के पास आकर बतलाया। इसके अतिरिक्त देवताओं के दूत के रूप में नल का भी दमयन्ती के पास जाना सर्वविदित है[2]।

श्रीमद्भागवत—श्रीमद्भागवत में भी ऐसे कई स्थल पाये जाते हैं, जो कि निश्चित रूप से कई सन्देश-काव्यों के आधार स्वरूप हैं। भागवत के एक प्रसङ्ग में गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रेम को प्राप्त कर कुछ अभिमान सा करने लगीं। उनके इस अभिमान को देख श्रीकृष्ण ने उनके उस अभिमान को दूर करने की ठानी। इसलिए रास-लीला के ही बीच से वे एकाएक अन्तर्धान हो जाते हैं। अकस्मात् अपने बीच श्रीकृष्ण को न पाकर गोपिकाएँ बहुत दुःखित होती हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के विरह में किसी उन्मत्त की तरह आम्र, मल्लिका, यूथिका, तुलसी, प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि वृक्षों से उनके बारे पूँछती हैं—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजांगनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥
गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहार विभ्रमैः।
आक्षिप्त चित्ताः प्रमदाः रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥
गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहार विभ्रमाः ॥
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरंबहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥
दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्षः न्यग्रोध नो मनः।
नन्द सूनुर्गतो हृत्वा प्रेम हासावलोकनैः ॥
कच्चित् कुरबकाशोक नाग पुन्नाग चम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः[3] ॥

---

१. महाभारत, वनपर्व (नलोपाख्यान), ५३।२०-२३।
२. वही, ५४।
३. श्रीमद्भागवत, १०।३०।१-६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी सन्देश-काव्य से सम्बन्धित रूप-रेखा प्राप्त होती है। जब श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा आ जाते हैं तथा उन्हें फिर बहुत समय तक गोकुल जाने का अवसर नहीं मिलता है, तब वे अपने बाबा नन्द एवं माँ यशोदा के दुःख को दूर करने हेतु और गोपिकाओं को धीरज बँधाने हेतु अपने प्रिय सखा उद्धव को गोकुल भेजते हैं।[1] गोकुल पहुँच कर उद्धव नन्द-यशोदा एवं गोपिकाओं को सारा समाचार सुनाते हैं और शीघ्र ही श्रीकृष्ण के आगमन का आश्वासन भी देते हैं।

नन्द-यशोदा के शोक को शान्त कर उद्धव जब मथुरा प्रस्थान हेतु उद्यत होते हैं, तब उस समय कुछ गोपिकाएँ रथ को रोक कर खड़ी हो जाती हैं। तभी कहीं से एक भ्रमर आ जाता है, गोपिकाएँ उसको श्रीकृष्ण का दूत समझ कर उससे कहती हैं—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुच-विलुलित-माला-कुङ्कुमश्मश्रुभिर्वः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यो यस्य दूतस्त्वमीदृक्[2] ॥

इन प्रसङ्गों के अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर भी दूत-सम्प्रेषण का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। रुक्मिणी का पाणि-ग्रहण शिशुपाल से निश्चित किया जाता है, पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण से विवाह करने की इच्छा के कारण उस सम्बन्ध को नहीं चाहती है। इसलिए वह विदर्भ से द्वारका श्रीकृष्ण के पास दूत के रूप में एक ब्राह्मण को भेजती है।[3]

दूत श्रीकृष्ण के पास पहुँच कर सन्देश सुनाता है। श्रीकृष्ण पूर्व योजनानुसार रुक्मिणी को पार्वती के मन्दिर से अपहृत कर लाते हैं। इस प्रसंग में दूत द्वारा पूर्व अनुराग के कारण दूत-सम्प्रेषण स्पष्ट ही होता है।

बौद्ध जातक—बौद्ध-साहित्य का अवलोकन करने पर भी बहुत कुछ जानकारी दूत अथवा सन्देश सम्प्रेषण के प्रति प्राप्त होती है। सर्वप्रथम जो एक कथा मिलती है, वह इस प्रकार से वर्णित है कि काशी का एक श्रेष्ठी अपने कलण्डुक नामक दास की खोज में अपने एक पालतू शुक को

---

१. श्रीमद्भागवत, १०।४६।१-८।
२. वही, १०।४७।१२।
३. वही, १०।५२।२१-२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेजता है। शुक दास को खोजकर वापस आकर श्रेष्ठी को उसकी सूचना देता है[1]।

एक दूसरी कथा में शूली के दण्ड को प्राप्त एक व्यक्ति अन्तरिक्ष में उड़ते हुए एक काक को देखकर उसके द्वारा अपनी प्रिय पत्नी के पास अपना सन्देश भिजवाता है। वह काक से कहता है—

उच्चे सकुण डेमान पत्तयान विहंगम।
वज्जासि खोत्वं वामूरुं चिरं खोसा करिस्सति[2] ॥

एक स्थल पर एक ऐसे पक्षी की कथा है, जो कोशलराज के पास रहता था और दूत के समान राजा का सन्देश-सम्प्रेषण करता था। उसके दो छोटे बच्चे थे। एक बार कोशलराज के एक पत्र को लेकर पक्षी किसी अन्य राज्य में गया था। कुछ शैतान बच्चों ने उस समय उसके बच्चों को मार डाला। लौटने पर उस पक्षी ने कोशलराज से उसका बदला लिया और हमेशा के लिए वहाँ से चला गया।[3]

इसी प्रकार एक और कथा भी मिलती है, जिसमें उत्तर पाञ्चाल की अत्यन्त रूपवती राजकुमारी पञ्चाल-चण्डी का उल्लेख मिलता है। पाञ्चाल तथा विदेह देश के राजाओं में गहरी शत्रुता थी। पाञ्चालराज ने अपने शत्रु विदेहराज को नीचा दिखाने हेतु एक नई चाल चली। उसने अपनी पुत्री पञ्चाल-चण्डी की प्रशंसा में कवियों से अनेक रचनाएँ निर्मित करवाईं। संगीतज्ञों द्वारा कुछ पक्षियों के गले में घण्टियाँ बंधवायीं तथा उन पक्षियों को कवियों द्वारा रचित रचनाएँ कण्ठस्थ करवायीं। तब इन पक्षियों को विदेहराज के राज्य में भेजा गया। वे पक्षी पाञ्चाल राजकुमारी के रूप-लावण्य की प्रशंसा एवं रचनाओं का गायन करते तथा यह भी कहते कि राजकुमारी विदेहराज पर अनुरक्त है और वह उसी का वरण करना चाहती है। पक्षियों के गीत को विदेहराज ने भी सुना। वह भी राजकुमारी पर अनुरक्त हो गया। इस प्रकार पक्षियों द्वारा पाञ्चालराज ने विदेहराज को फँसाकर उस पर विजय प्राप्त की।[4]

---

१. कलण्डुक जातक, १२७।
२. कामविलाप जातक, २९७।
३. कुंतनि जातक, ३४३।
४. महावग्ग जातक, ५४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त प्रसङ्ग से यह स्पष्टतया प्रतिभासित होता है कि प्राचीन भारत में पक्षियों को भी लोग प्रशिक्षित करते थे और अपने दूत-सम्प्रेषण के कार्य को उनसे भी सम्पादित करवाते थे। विदेशों में भी इन पक्षियों का बहुत सम्मान था, मूल्य था। समुद्र-यात्रा के समय समुद्र-यात्री अपने पास कुछ ऐसे ही प्रशिक्षित पक्षी भी रखते थे, जो छोड़ देने पर समुद्र-तट का पता लगाकर पुनः जहाज़ पर वापस आ जाते थे। इस प्रकार ये दिशा-काक या पथप्रदर्शक का भी कार्य अति निपुणता से करते थे।

पउमचरियं—जैन-परम्परा में भी दूत-सम्प्रेषण के कुछ प्रारम्भिक तत्त्व प्राप्त होते हैं। जैन-साहित्य में "पउमचरियं" (पद्मचरित) सर्व-प्राचीन ग्रन्थ है, जिसके रचनाकार विमलसूरि हैं। इस काव्य में कई स्थलों पर दूत सम्प्रेषण के प्रसङ्ग मिलते हैं। परन्तु हनुमान द्वारा श्रीराम के सन्देश-सम्प्रेषण का प्रसंग सर्वप्रमुख है। जिस तरह वाल्मीकि ने हनुमान को एक दूत के रूप में चित्रित किया है, उसी तरह इस काव्य में भी पवनपुत्र हनुमान को कविराज ने दूतरूप में उपस्थित किया है। सर्वप्रथम जब पवनपुत्र हनुमान श्रीराम से मिलते हैं, तब श्रीराम उनको दूत रूप में लंका जाने के लिए कहते हैं। यह सुन पवनपुत्र इस दौत्यकर्म को अति लघु समझ कर श्रीराम से कहते हैं—

सव्वे वि तुज्झ सुपुरिस ! पडिउवयारस्स उज्जया अम्हे।
गन्तूण सामि ! लंकं, रक्खसणाहं पसाएमो॥
सा मिय देहाऽऽर्णत्ति, तुह महिला जेण तत्थ गन्तूणं।
आणेमि भुयबलेणं पेच्छसु उक्कण्ठिओ सिग्घं[1]॥

इस प्रकार हनुमान् की इस महागर्जना को सुनकर श्रीराम हर्षोल्लसित हो, सीता के लिए उनको अपना सन्देश देते हैं।[2]

राम का सन्देश पाकर पुलकितबाहु हनुमान् सीता की खोज में चल पड़े[3]। अपने विचित्र विमान द्वारा वह लंका-नगरी पहुँच कर अशोक-वाटिका में आये। वहाँ उनको निर्धूम आग सदृश, बाँयें हाथ पर मुँह रखे हुई, खुले बाल तथा आँसू बहाती हुई सीताजी दीख पड़ीं।[4]

---

१. पउमचरियं, सुन्दरकाण्ड, ४९।२७-२८।
२. वही, ४९।३०-३५।
३. वही, ४९।३८।
४. वही, ५३।१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवी सीता की इतनी विरह कातरता को देख कर हनुमान का रोम-रोम पुलकित हो उठा, उनसे रहा न गया और वे सीता देवी के समक्ष तुरन्त प्रस्तुत हो गये, उन्हें अपने सम्मुख देखकर सीता जी ने तुरन्त हनुमान से पूछा—

कत्थ पएसे सुन्दर !, दिट्ठो ते लक्खणेण सह पउमो ! ।
निरुवहअंगोवंगो ?, किं व महासोगसन्निहिओ ? ॥
अह वा किं मह विरहे, सिढिलीभूयस्स वियलिओ रण्णे ।
लद्धो भद्द ! तुमे किं, अह अंगुलिमुद्दओ एसो ?[१] ॥

यह सुनकर हनुमान ने सीता जी को प्रणाम कर श्रीराम की कुशल-वार्ता के साथ उनकी विरह-दशा और लक्ष्मण की दशा उनसे बतायी ।[२]

इस प्रकार राम-लक्ष्मण की कुशल-वार्ता कह कर और भोजन कर हनुमान ने सीता देवी से कहा—

निव्वत्तभोयणविही, विन्नविया मारुईण जणयसुया ।
आरूहसु मज्झ खन्धे, नेमि तहिं जत्थ तुह दइओ ॥[३]

इस पर सीता देवी कुलवधू के गुणों का वर्णन कर[४] अपनी विरह-दशा का सन्देश भी श्रीराम को देने के लिए कहती हैं ।[५] इस प्रकार देवी सीता का सन्देश लेकर और रावण का मद चूर्ण कर, हनुमान् वहाँ से वापस होकर श्रीराम के चरणों में आकर उपस्थित होते हैं। उनको देखकर श्रीराम को उस समय जो आत्म-परितोष हुआ, इतना शायद उन्हें सीता के साथ विवाह में भी कठिनाई से हुआ होगा । तब हनुमान ने श्री राम को सीता देवी का सन्देश देकर वहाँ का सारा समाचार सुनाया ।[६]

इस प्रकार दूत-सम्प्रेषण सम्बन्धी एक बहुत सुन्दर प्रसंग, जैन काव्य साहित्य के प्रसिद्धतम "पउमचरियं" काव्य-ग्रन्थ में प्राप्त होता है ।

---

१. पउमचरियं, सुन्दरकाण्ड, ५३।२१-२६ ।
२. वही, ५३।२७-३९ ।
३. वही, ५३।६०
४. वही, ५३।६१-६२ ।
५. वही, ५३।६४-७२ ।
६. वही, ५४।३-११ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सम्भव है कि पशु-पक्षियों के दूत-कार्य तथा पथ-प्रदर्शन-कार्य को देखकर ही परवर्ती कवियों को उन्हें सन्देशवाहक बनाकर विभिन्न सन्देश-काव्य लिखने की प्रेरणा मिली हो। पशु-पक्षियों को नायक बनाकर कथा लिखने की प्रथा काफी प्राचीन है। संस्कृत-कथा-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश में तो पशु-पक्षियों को ही नायक बनाकर कथाएँ लिखी गई हैं। भारतीय लोकगीतों में भी पक्षियों द्वारा पत्र व सन्देश-सम्प्रेषण की परम्परा प्राप्त होती है।

इस प्रकार सन्देश-सम्प्रेषण की यह कल्पना वेद से लेकर वाल्मीकि-रामायण, श्रीमद्भागवत तथा जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों तक में मिलती है। इसके अतिरिक्त सन्देशात्मक कथा-गाथाएँ पौराणिक ग्रन्थों से लेकर लोक साहित्य तक में भी बहु-प्रचलित रही हैं, किन्तु मेघदूत के पूर्व दूतकाव्य के रूप में सम्पूर्ण एवं सर्वाङ्ग सुन्दर अन्य कोई भी दूसरी रचना उपलब्ध नहीं है। भले ही दूतत्त्व के प्रेरणाप्रदायक स्वरूप काव्यस्रोत अवश्य ही कालिदास के पूर्व प्राप्त होते हैं।

दूतकाव्य की इस परम्परा में आदिकवि वाल्मीकि की रामायण के बाद श्रीभासरचित "दूतवाक्य" एवम् "दूतघटोत्कच" का ही स्थनन आता है। क्योंकि भास का समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी का है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि कथा की प्रेरणा एवं रूपरेखा चाहे भी जहाँ से प्राप्त क्यों न की गई हो, परन्तु खण्डकाव्य के रूप में सन्देश-काव्य का सर्वप्रथम सृजन महाकवि कालिदास के ही कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ और वह इतना लोकप्रिय भी हो गया कि परवर्ती संस्कृत-काव्य-साहित्य में दूतकाव्य की एक सुदीर्घ परम्परा ही विकसित होकर चल पड़ी।

दूतकाव्यों का वर्गीकरण :

समाज के तत्कालीन वातावरण, उसकी आवश्यकता एवं देश की परिस्थिति के अनुरूप ही दूतकाव्य के स्वरूप में, शैली में निरन्तर परिवर्तन परिलक्षित होता है। स्वाभाविक भी है कि काव्य-रचना पर, तत्कालीन सामाजिक वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है; क्योंकि काव्य, साहित्य का ही एक अभिन्न अङ्ग है। साथ ही साहित्य समाज का दर्पण भी कहा गया है। अतः भिन्न-भिन्न काल में समाज के बदलते स्वरूप के अनुरूप ही तत्कालोन काव्यों की सृष्टि होती रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सूक्ष्मतया देखने पर आभासित होता है कि यह दूतकाव्य परम्परा, विभिन्न कालों में तत्कालीन सामाजिक वातावरण के आधार पर अपने स्वरूप को ढालने का सफल प्रयास करती रही है। सर्वविध सम्पन्न एवं भोग-विलास-सामग्रियों में लिप्त समाज में अनायास ही शृङ्गारिक-धारा प्रवहण करेगी और उस शृङ्गार पूर्ण आकण्ठ डूबे वातावरण में जो भी काव्य-रचना होगी, वह स्वभावतः शृङ्गारिक ही होगी, उसमें शृङ्गारिकता स्वयं स्पष्ट चमकेगी। परन्तु इस भोग-विलास, काम-वासना में निरन्तर डूबे रहने से ऐन्द्रिक-तृप्ति तो अवश्य मिल जाती है परन्तु आत्मिक-तृप्ति किञ्चित् मात्र भी नहीं मिल पाती है। अतः ऐसे समय में व्यक्ति का मन आत्म-तोष हेतु छटपटाने लगता है। ऐसे समय में वह शृङ्गार की तरफ आकृष्ट न हो अपितु आत्म-चिन्तन, आत्म-दर्शन की खोज में भागता है; क्योंकि उस समय उसे इसी आध्यात्मिक-प्याले से ही अपनी प्यास बुझती नजर आती है। ऐसी स्थिति में सारा वातावरण आध्यात्मिक-चिन्तन में निमग्न हो जाता है और तब ऐसे वातावरण में जो काव्यरचना होगी, वह पूर्णतया आध्यात्मिक-तत्त्वों से ही सम्बद्ध होगी।

इस विवेचन के आधार पर हम दूतकाव्य-परम्परा को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) शृङ्गार-प्रधान और (२) अध्यात्म-प्रधान।

शृङ्गार-प्रधानः—शृङ्गारिक दूतकाव्यों में, शृङ्गार के दोनों पक्षों (संयोग एवं विप्रलम्भ) का प्रयोग हुआ है। विप्रलम्भ-पक्ष का इन दूतकाव्यों में ऐसा चित्रण हुआ है कि वह ही काव्य का मुख्य रस बन बैठा है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण महाकवि कालिदास का मेघदूत है। जो संस्कृत दूतकाव्य परम्परा का सर्वप्रमुख दूतकाव्य माना जाता है, मात्र अपनी कलावैशिष्ट्यता एवं सुन्दरता के कारण ही नहीं अपितु सर्व-प्राचीनता के कारण भी। मेघदूत के प्रथम व अन्तिम दोनों श्लोकों में विरह एवं विप्रयोग शब्द दृष्टिगोचर होते हैं तथा सम्पूर्ण काव्य विरह-भाव को ही अभिव्यक्त करता है। मार्गवर्णन के प्रसंग में क्या नदियाँ, क्या पथिक-वनिताएँ, क्या पर्वत-चोटियाँ सभी विरहिणी सी चित्रित मिलती हैं। संयोग-पक्ष के शृङ्गार का भी पर्याप्त दिग्दर्शन होता है। अतः मेघदूत पूर्ण शृङ्गारिक दूतकाव्य है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है। आगे चलकर अन्य अनेक दूतकाव्य भी, शृङ्गार की इस सरस-धारा में रचे गये। इन सभी दूतकाव्यों में शृङ्गार के उभय पक्षों का पूर्ण व पर्याप्त निदर्शन मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार शृङ्गारिक दूतकाव्यों की बहुत लम्बी परम्परा मिलती है। साहित्यशास्त्र में विरह की जितनी भी काम-दशाएँ कही गयी हैं, उन सबका इन दूतकाव्यों में बड़ा क्रमिक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है।

अध्यात्म-प्रधानः—शृङ्गारिकता की रस-धारा में अनेक डुबकियाँ लगाने पर भी जब व्यक्ति अपने को पूर्णतया आत्म-सन्तुष्ट न बना सका, तो वह उस शृङ्गारिक धारा का विसर्जन कर आत्म-तोष हेतु अध्यात्म-शोध के प्रति आकृष्ट हुआ। इसप्रकार मन को आध्यात्मिक-पिपासा से तृप्त करने के हेतु, कवियों ने अध्यात्म का आश्रय लेकर काव्य-रचना प्रारम्भ की। इस हेतु कवियों ने अधिकांशतः महाभारत, भागवत एवं रामायण से कथाएँ उद्धृत कीं। साथ ही इन्हीं ग्रन्थों के उदात्तचरित नायकों के जीवन-वृत्तों को, अपने दूतकाव्यों का आधार निश्चित किया। महाभारत, भागवत एवं वाल्मीकीय रामायण आदि के ये नायक, उस समय समाज के आराध्य देव के रूप प्रतिष्ठित थे। अतः कवियों ने उनको भगवान् के रूप में चित्रित कर, उनकी भक्ति रूप में उनके आदर्श चरित्र को अपने काव्यों में अंकित किया। इसलिए इन काव्यों में आध्यात्मिकता के साथ-साथ धार्मिकता एवं दार्शनिकता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

इन आध्यात्मिक दूतकाव्यों का समाज-रचना को सुस्थिर रखने में भी पर्याप्त योगदान है। शृङ्गारिकता की ओर अग्रसरित समाज को, इन आध्यात्मिक दूतकाव्यों ने अपने अध्यात्म व भक्तिपूरित अम्बु-पान द्वारा आध्यात्मिकता का रसास्वादन कराया। जिससे समाज भोग-विलास के प्रति विरक्त हो अध्यात्म-चिन्तन में लग सका।

(क) धार्मिक : इस परम्परा में धार्मिकता की सीमा बाँधने वाले प्रथम जैन कवि ही हैं। इन्होंने अपने काव्यों को जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में रचा है। इन्होंने भी अन्य कवियों की भाँति जैनधर्म के पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ जैसे महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को अपने दूतकाव्यों में अंकित किया है। जैन कवियों की दूतकाव्य-परम्परा का सर्वप्रचीन दूतकाव्य आचार्य जिनसेनकृत पार्श्वाभ्युदय है। मेघदूत की प्रतिपंक्ति को समस्या मानकर इस काव्य की रचना हुई है। सन्देश-कथन जैसा कुछ भी नहीं है। कमठ मरुभूति की धीरता, सहिष्णुता एवं सौजन्यता से अत्यधिक प्रभावित हो, उससे अपना वैरभाव विस्मृत कर उसी की शरण में आता है। उसके प्रति किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गये अपने अपराधों के लिए पश्चात्तापपूर्वक क्षमायाचना करता है, सम्यक् ज्ञान की भिक्षा माँगता है। इसीप्रकार अन्य भी अनेक तापसगण भक्ति-भावना सहित पार्श्वनाथ की शरण में आते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ एवं जैन धर्म की महिमा बतलाकर काव्य को कवि ने पूर्णतया धार्मिक बना दिया है। जैन-साहित्य में इसका अपना विशिष्ट स्थान है।

उत्तरकालीन जैन-कवियों ने भी अपने-अपने दूतकाव्यों में, धार्मिकता के आधार पर ही श्रीनेमि व पार्श्वनाथ का चरित-वर्णन किया है। विक्रम कवि का नेमिदूत भी श्रीनेमि के जीवन-चरित को ही लेकर रचा गया है। इसीप्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूत, चारित्रसुन्दरगणि ने शील-दूत आदि दूतकाव्यों की रचना की। त्याग-प्रधान जीवन में पूर्ण आस्था रखने वाले ये जैन कवि, जैन धर्म के अति नीरस से नीरस धर्म सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रतिपादन अपने दूतकाव्यों में कर गये हैं। यह इन कवियों का सर्वथा एक नवीन प्रयोग ही है। इन जैन कवियों के दूतकाव्यों में साहित्यिक एवं शृङ्गारिक सौन्दर्य के साथ ही साथ, जैन धर्म विषयक धार्मिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित मिलते हैं।

इन जैन कवियों ने दूतकाव्य के रूप में ही, उसी विधि में अपने-अपने गुरुओं के प्रति विज्ञप्ति-पत्र भी रचे हैं। ये विज्ञप्ति-पत्र पूर्णतया दूतकाव्यात्मक शैली में ही हैं। इन विज्ञप्ति-पत्रों में, इन जैन कवियों ने अपनी धार्मिक प्रगति का वर्णन किया है। जो अपने-अपने गुरुओं के प्रति इन कवियों ने रचे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन जैन कवियों ने अपने दूतकाव्यों में, जहाँ एक तरफ सदाचार व संयम का आदर्श उपस्थित किया है, वहाँ दूसरी तरफ अपने जैन धर्म के मूल तात्त्विक धर्म-सिद्धान्तों को भी समझाने का प्रयत्न किया है। इनका परमार्थ-तत्त्व-निरूपण सराहनीय है।

(ख) दार्शनिक : दार्शनिक दूतकाव्य के अन्तर्गत एक अज्ञात नाम कवि द्वारा रचित हंससन्देश नामक दूतकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। इस दूतकाव्य में माया के बन्धन में फँसकर तथा कर्मों के मोह में फँसकर भगवान् शंकर की भक्ति से च्युत किसी एक दीन, असहाय, अस्थिर चित्त-वाले पुरुष द्वारा अपने मन रूपी हंस को दूत बनाकर शिवलोक में शिव-भक्ति के पास भेजा जाता है। इसमें कवि ने उस पुरुष के मन को नायक एवं शिवभक्ति को नायिका के रूप में चित्रित किया है। वेदान्त, योग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं शैवदर्शन के सिद्धान्त, इस दूतकाव्य में प्रतिपादित मिलते हैं। अतः यह दूतकाव्य पूर्णतया दार्शनिक है, इसमें कोई विसंगति नहीं।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक दूतकाव्यों में यत्र-तत्र दार्शनिकता की झलक स्पष्ट मिलती है। अपने विवेच्य ग्रन्थ आचार्य मेरुतुङ्गकृत जैन-मेघदूत के ही एक-दो दार्शनिक स्थल देख सकते हैं। जिस प्रकार प्रकृति आत्मा को बाँध लेती है ठीक वैसे ही एक हरिप्रिया (श्रीकृष्ण की पत्नी) श्रीनेमि के कटि-प्रदेश में रक्त-कमल की माला किस प्रकार बाँध रही है, इसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कुटीरे
काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध ॥[1]

अन्यत्र कवि ने स्पष्ट किया है कि यदुपति (श्रीकृष्ण) की स्त्रियों ने मदों के मूलकारण श्रीनेमि को उसी प्रकार घेर लिया, जैसे कर्मापेक्षा वाली मोहसेना आत्मा को घेर लेती है—

दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह दूतकाव्य-परम्परा शनैः-शनैः विविध रूपों में विकसित होती हुई तथा निरन्तर अभिवृद्धि की ओर अग्रसर होती हुई, अद्यावधि वर्तमान है। शृङ्गार-प्रधान और अध्यात्म-प्रधान यह वर्गीकरण अद्यावधि दूतकाव्य-परम्परा के विस्तृत आकार व बहु-आयामों को देखकर ही किया गया है। इस परम्परा में आज भी नवीन काव्य-रचनाएँ हो रही हैं।

●

१. जैनमेघदूतम्, २।२१ (उत्तरार्द्ध)।
२. वही, २।४३ (उत्तरार्द्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दूतकाव्य

संस्कृत साहित्य में दूतकाव्यों की स्थिति को सुस्थिरता प्रदान करने में जैन कवियों का पर्याप्त योगदान रहा है। अद्यावधि अनेक जैन कवियों द्वारा दूतकाव्यों की रचनाएँ हुई हैं। यहाँ पर उन समस्त जैन कवियों द्वारा रचित दूतकाव्यों का वर्णक्रमानुसार संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से कुछ दूतकाव्यों का तो अन्य ग्रन्थों में मात्र उल्लेख ही मिलता है और शेष सभी दूतकाव्य प्रायः प्रकाशित हो चुके हैं—

इन्दुदूतम्[1] : इस दूतकाव्य के रचनाकार श्री विनयविजयगणि जी हैं। काव्य का रचनाकाल लगभग १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। काव्य में १३१ श्लोक हैं। काव्य मेघदूत के अनुकरण पर मन्दाक्रान्ता छन्द में रचा गया है। परन्तु इस काव्य का विषय मेघदूत से एकदम भिन्न है। यह काव्य शुद्ध शान्त-रस प्रधान है।

विजयप्रभसूरि सूरत में चातुर्मास करते हैं और उनके शिष्य विजय-गणि जोधपुर में। चातुर्मास के अन्त में पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा को देखकर उनका विचार होता है कि उसके द्वारा अपने गुरु के पास वे अपना सांवत्सरिक क्षमापण सन्देश और अभिनन्दन भेजें। चन्द्रमा को दूत-कार्य में नियुक्त करने से पूर्व वे उसका स्वागत करते हैं और तब उससे अपना सन्देश भेजते हैं।

काव्य की भाषा में सर्वत्र प्रवाह एवं प्रसाद गुण मिलता है। सन्देश-काव्य-परम्परा में इस काव्य का अपना पृथक् स्थान है। काव्य-विषय भी सर्वथा नवीन है।

इन्दुदूतम् : जैन कवि जम्बू द्वारा प्रणीत इस काव्य का मात्र जिन-रत्नकोश[2] में उल्लेख ही मिलता है। इसके अतिरिक्त इस काव्य के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी नहीं प्राप्त होती है। जैन ग्रन्थावली[3] में जम्बूकवि द्वारा प्रणीत इस काव्य का नाम "चन्द्रदूत" दिया गया है। उसमें मालिनी वृत्त में रचित २३ श्लोक हैं।

---

१. श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, शिरपुर से सं० १९४६ में प्रकाशित।

२. जिनरत्नकोश, पृ० ४६४।

३. जैनग्रन्थावली, पृ० ३२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रदूतम्[1] : खरतरगच्छीय कवि मुनि विमलकीर्ति ने इस काव्य की रचना की है। मेघदूत के अन्तिम चरण की समस्यापूर्ति स्वरूप इस काव्य की रचना हुई है, फिर भी यत्र-तत्र अपने भावों को और भी अधिक स्पष्ट करने हेतु कवि ने अधिक पद्य रचकर स्वतन्त्रता से भी काम लिया है।

संक्षेप में इसका वर्ण्यविषय यही है कि कवि ने स्वयं चन्द्र को सम्बोधित कर शत्रुञ्जय तीर्थ में स्थित आदिजिन ऋषभदेव को अपनी वन्दना निवेदित करने के लिए भेजा है।

पूर्ण काव्यावलोकन कर लेने पर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि कवि ने किस स्थल पर चन्द्र को नमस्कार कर उसे दूत के रूप में ग्रहण किया है। मन्दाक्रान्ता वृत्त में ही निबद्ध यह काव्य बड़ा ही भावपूर्ण एवं कवि की विद्वता का परिचायक है। अनेकार्थ काव्य की दृष्टि से भी इस दूतकाव्य का महत्त्व है। वि० सं० १६८१ में रचा गया यह काव्य अवश्य ही जैन दूतकाव्य की श्रेणी में विशिष्ट स्थान रखता है।

चन्द्रदूतम्[2] : जिनरत्नकोश में इस काव्य का मात्र नामोल्लेख हुआ है। जिसके आधार पर यह काव्य विनयप्रभ द्वारा प्रणीत प्रतीत होता है।

चेतोदूतम्[3] : मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति स्वरूप इस काव्य की रचना की गई है। कवि के सम्बन्ध में भी कोई जानकारी नहीं उपलब्ध होती है। कथा भी कोई विशेष नहीं है। एक शिष्य अपने गुरु के श्री चरणों की कृपादृष्टि को अपनी प्रेयसी के रूप में मानकर उसके पास अपने चित्त को दूत बनाकर भेजता है। मेघदूत की समस्या-पूर्ति के कारण काव्य में मन्दाक्रान्ता छन्द भी प्रयुक्त है। काव्य में कुल १२९ श्लोक हैं। काव्य का विषय शृङ्गारिक न होकर धार्मिक है।

काव्य का दृष्टिकोण धार्मिक एवं ज्ञानपरक होने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य जैन-धर्म से ही संबद्ध है। शिष्य ने गुरु के लिए "श्री सूरीन्द्राः", "श्री सूरीश्वराः" जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है तथा जैनधर्म का उल्लेख किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह किसी जैन कवि की ही अभिनव रचना है। मेघदूत के शृङ्गार रस-पूर्ण वातावरण से प्रेरणा लेकर कवि ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से शान्तरस के एक सुन्दर सन्देश-काव्य की सृष्टि कर दी है।

---

१. श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार, सूरत से वि० सं० २००९ में प्रकाशित।

२. जिनरत्नकोश, पृ० ४६४।

३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से वि० सं० १९७० में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम्[1] : इस दूतकाव्य के रचनाकार कवि आचार्य मेरुतुङ्ग जी हैं। काव्य १५ वीं शताब्दी का रचा हुआ है। इस काव्य में मेघ को दूत रूप में निश्चित कर राजीमती द्वारा श्री नेमिनाथ के पास अपना विरह-सन्देश सम्प्रेषित किया गया है। काव्य चार सन्धियों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ५०, ४९, ५५, ४२ श्लोक हैं। विचार-तारतम्य और रस की दृष्टि से काव्य बड़ी उच्चकोटि का है। जैन-संस्कृत साहित्य में यह रचना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इस काव्य के बारे में विशेष विशद् चर्चा पीछे की जायेगी।

नेमिदूतम्[2] : कवि श्री विक्रम द्वारा मेघदूत के चतुर्थ चरण की समस्या-पूर्ति के रूप में इस काव्य की रचना हुई है। काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। काव्य के निम्नलिखित श्लोक—

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान्मेघदूताद् गृहीत्वा।
श्रीमन्नेमिश्चरितविशदं सांगणस्यांगजन्मा
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥२६॥

में कवि ने अपने को 'सांगणस्यांगजन्मा' बतलाया है। विक्रम कवि खम्भात के रहने वाले १३ वीं शती के श्वेताम्बर एवं खरतरगच्छीय श्री जिनेश्वर सूरि के श्रावक भक्त थे।

नेमिकुमार के विरक्त होकर तपश्चरण के लिए जाने पर विरहविधुरा राजीमती एक वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल समाचार लेने हेतु श्री नेमि की तपोभूमि में भेजती है। पश्चात् पिता की आज्ञा लेकर स्वयं एक सखी के साथ वहाँ पहुँच कर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह-दग्ध हृदय की भावनाओं को प्रलापरूप में व्यक्त करने लगी। पति के त्याग तपश्चरण का उस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह भी तपस्विनी बनकर उनके साथ ही तप करने लगी।

काव्य में केवल नायिका की विरहावस्था का चित्रण पाया जाता है और वह संसार-विरक्त अपने नायक को अपनी ओर अनुरक्त करने का निष्फल प्रयास करती है। काव्य में एक वृद्ध ब्राह्मण दूत के रूप में आता

---

१. शीलरत्नसूरिविरचित वृत्ति सहित, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से १९२४ ई० में प्रकाशित।

२. जैन प्रेस, कोटा से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो अवश्य है, पर कवि दूत का कोई भी कार्य उससे लेता नहीं है। कवि ने नायिका के शील एवं लज्जा का अतिसुन्दर ढंग से चित्रण किया है।

काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार एवं शान्त रस का अपूर्व सङ्गम मिलता है। काव्य का शुभारम्भ तो विरह से होता है, पर समाप्ति शान्त रस में होती है। नायक-नायिका का सम्मिलन शारीरिक भोगों के लिए नहीं अपितु मोक्ष-सौख्य की प्राप्ति के लिए होता है। कवि कहता है—

चक्रे योगान् निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१२४॥

सम्पूर्ण काव्य में १२६ श्लोक हैं। पूर्व एवं उत्तर भाग जैसा कोई विभाजन इस काव्य में नहीं है। समग्र काव्य राजीमती के विरह तथा विलाप वर्णन से भरा है। प्रारम्भ से अन्त तक विप्रलम्भ शृङ्गार ही मिलता है, लेकिन काव्य के अन्त में शृङ्गार रस एकदम शान्तरस में बदल जाता है। श्री नेमि राजीमती को स्वीकार तो कर लेते हैं, पर सांसारिक सुख-भोग हेतु नहीं, प्रत्युत उसे भी मोक्ष-मार्ग का पथिक बनाने हेतु—

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१२४॥
तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसार-भाजां
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शाश्वत् ॥१२५॥

इस तरह शृङ्गार रस का शान्तरस में पर्यवसान कर कवि ने मानव-व्यवहार में एक उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा की है। समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये अन्य काव्यों की अपेक्षा यह काव्य कहीं अधिक प्रसाद-गुण-युक्त है और कवि की सहृदयता का परिचायक है।

पवनदूतम्[1] : इस स्वतन्त्र रचना के रचयिता श्री वादिचन्द्रसूरि जी हैं। काव्यकार का समय विक्रम की १७ वीं शताब्दी है। ग्रन्थकर्ता ने काव्य के अन्तिम श्लोक में अपना परिचय दिया है कि—

पादौ नत्वा जगदुपकृतौ वर्धसामर्थ्यवन्तौ
विघ्नध्वान्तप्रसरतरणेः शान्तिनाथस्य भक्त्या।
श्रोतुं चैतत्सदसि गुणिना वायुदूताभिधानम्
काव्यं चक्रे विगतवसनः स्वल्पधीर्वादिचन्द्रः ॥१०१॥

---

१. हिन्दी अनुवादसहित हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई से १९१४ ई० में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जयिनी के राजा विजयनरेश की रानी तारा को अशनिवेग नामक एक विद्याधर चुरा ले गया। अपनी प्रिय रानी के वियोग में विजयनरेश अति दुःखित हो उठा। अपनी विरहावस्था में वह पवन को दूत बनाकर रानी तारा के पास भेजता है। काव्य में यही कथा वर्णित है।

समस्यापूर्ति रूप न होते हुए भी काव्य मेघदूत के अनुकरण पर ही रचा गया है। कथा काल्पनिक है। काव्य में कुल १०५ श्लोक हैं। छन्द मन्दाक्रान्ता ही प्रयुक्त है। भाषा सरस एवं प्रसादगुण युक्त है। वैसे तो पवनदूत एक विरह-दूतकाव्य ही है फिर भी काव्य में मनोरञ्जन के अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी बहुत सारी सामग्री विद्यमान है। कवि का धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण बहुत ही ऊँचा है। इस प्रकार एक जैन विद्वान् की रचना होने के कारण शृङ्गार के साथ-साथ इस काव्य में परोपकार, दया, अहिंसा और दान आदि सद्भावों की प्रशंसा भी मिलती है। कवि को इस दूतकाव्य की रचना में पर्याप्त सफलता मिली है।

पार्श्वाभ्युदय[1] : इस जैन दूतकाव्य के रचनाकार आचार्य जिनसेन हैं। काव्य के अन्त में आये हुए एक पद्य[2] से इतना स्पष्ट होता है कि ये वीरसेनाचार्य के शिष्य थे। उन्हीं के कहने पर इस काव्य की इन्होंने रचना की है। जिनसेन का स्थिति-काल विक्रम की ९ वीं शती (सन् ७५८-८३७ ई०) स्वीकार किया जाता है।[3] स्व० पं० नाथूराम प्रेमी ने भी इनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में यही निर्धारित किया है।[4] कालिदासीय मेघदूत के पदों को लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। काव्य में चार सर्ग हैं—प्रथम सर्ग में ११८, द्वितीय सर्ग में ११८, तृतीय सर्ग में ५७ एवं चतुर्थ सर्ग में ७१ श्लोक हैं। काव्य की भाषा अति प्रौढ़ है। इस काव्य में भी मन्दाक्रान्ता छन्द ही प्रयुक्त है। काव्य की शैली कुछ अधिक जटिल है।

---

१. श्री के० बी० पाठक द्वारा पूना से तथा श्री योगिराट् की टीका के साथ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से सन् १९०९ में प्रकाशित।

२. श्री वीरसेनमुनिपाद पयोजभृङ्गः श्रीमानभद्वितयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥
—पार्श्वाभ्युदय काव्य, ४।७१।

३. भारतीय इतिहासः एक दृष्टि : डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० ३०१।

४. विद्वद्रत्नमाला : प्रेमी नाथूराम, पृ० १०८९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्या-पूर्ति के रूप में गुम्फित रहने से मूल पंक्तियों के भाव में यत्र-तत्र विपर्यस्तता आ जाने के कारण काव्य कुछ दुरूह भी अवश्य है।

जैन दूतकाव्य-परम्परा का यह प्रथम दूतकाव्य है। इस काव्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनेक जन्म जन्मान्तरों का समावेश हुआ है। कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है कि पोदनपुर के नृपति अरविन्द द्वारा बहिष्कृत कमठ सिन्धु तट पर तपस्या कर रहा था। उसी समय भ्रातृप्रेम के कारण कमठ का अनुज मरुभूति उसके पास गया। किन्तु क्रोधावेश में आकर कमठ ने उसे मार डाला। अनेक जन्मों में यही क्रम चलता रहा। अन्तिम जन्म में कमठ शम्बर और मरुभूति पार्श्वनाथ बनता है। पार्श्वनाथ को साधना से विचलित करने के लिए शम्बर अनेक उपसर्ग करता है, पर पार्श्वनाथ विचलित नहीं होते हैं। धरणेन्द्र देव और पद्मावती देवी आकर पार्श्वनाथ के उपसर्ग को दूर कर देती हैं। अन्त में पार्श्वनाथ केवल-ज्ञान को प्राप्त करते हैं और इस प्रकार इस घटना को देखकर शम्बर भी पश्चात्ताप करता हुआ पार्श्वनाथ से क्षमायाचना करता है।

जिनसेन ने समग्र कालिदासीय मेघदूत को समस्यापूर्ति द्वारा आवेष्टित कर इस काव्य का प्रणयन किया है। इसके प्रत्येक श्लोक में क्रम से कालिदासीय मेघदूत के श्लोकों के चतुर्थांश या अर्द्धांश को समस्या के रूप में गुम्फित किया गया है।

कवि जिनसेन ने मेघदूत के उद्धृत अंश के प्रचलित अर्थ को अपने स्वतन्त्र कथानक में प्रसक्त करने में बड़ी विलक्षणता का परिचय दिया है। कवि ने विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों तथा भावपूर्ण रम्य स्थानों के चित्रण में पूरी सहृदयता का परिचय दिया है। आम्रकूट पर्वत के शिखर पर मेघ के पहुँचने के समय पर्वत की शोभा का वर्णन करते हुए लिखा है—

कृष्णाहिः किं वलयिततनुर्मध्यमस्याधिशेते
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात्।
इत्याशङ्का जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ॥१/७०॥

कवि दृश्य-चित्रण में पटु है। समस्या-पूर्ति करने पर भी कवि ने नवीन भावों की योजना की है। वर्णनों की अनावश्यक भरमार होने से कहीं-कहीं काव्य में शिथिलता भी आ गयी है।

प्रस्तुत काव्य में कहीं भी जैनधर्म का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं मिलता है। पर कैलाश पर्वत एवं महाकाल वन में अर्हत्-प्रतिमाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अवश्य ही निर्देश मिलता है। कवि की विशेषता यही है कि उसने कालिदास के मूल भावों को अति सुन्दरता से पल्लवित किया है। काव्य की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि कवि ने समस्त मेघदूत को इसमें समाविष्ट कर दिया है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि समस्यापूर्ति की दृष्टि से यह काव्य अद्वितीय है।

मनोदूतम्[1] : इस काव्य के कर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। जैनग्रंथावली[2] में इसके विषय में मात्र इतनी जानकारी है कि इसमें ३०० श्लोक हैं तथा इसकी मूलप्रति पाटण के भण्डार में उपलब्ध है।

मयूरदूतम्[3] : १९ वीं शती के जैन कवि मुनि धुरन्धरविजय ने इस काव्य की रचना की है। काव्य में कुल १८० श्लोक हैं, जिनमें से अधिकांश श्लोक शिखरिणी वृत्त में रचे गये हैं। कवि का, वृत्त के सम्बन्ध में यह एक सर्वथा नवीन ही प्रयोग है। यह काव्य भी इन्दुदूत काव्य के समान ही गुरुभक्ति पर आधारित है। इसमें भी शिष्य द्वारा गुरु के पास वन्दना एवं क्षमापना सन्देश ही भेजा गया है।

काव्य की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है कि मुनि विजयामृतसूरि जो कि आचार्य विजयनेमिसूरि का शिष्य है, वह अपने चातुर्मास काल को कपडवणज में बिताता है। उसके गुरु विजयनेमिसूरि जामनगर में अवस्थित होकर अपना चातुर्मास बिताते हैं। चातुर्मास काल में गुरु का सामीप्य न प्राप्त कर तथा गुरु के प्रति अतीव श्रद्धा होने के कारण वह अपने आदरणीय गुरु के पास वन्दना एवम् क्षमापना का सन्देश एक मयूर के द्वारा सम्प्रेषित करता है।

स्वतन्त्र काव्य के रूप में यह दूतकाव्य रचा गया है। इसमें कालिदासीय मेघदूत से किसी भी प्रकार की सहायता ली गयी परिलक्षित नहीं मिलती है। परन्तु काव्य में नगर आदि के वर्णन में कालिदासीय मेघदूत जैसा ही तारतम्य मिलता है। काव्य में "श्री सूरीन्द्राः" व "श्री सूरीश्वराः" जैसे ही विशेषणों एवं कुछ श्लोकों में जैनधर्म का उल्लेख होने के कारण कहा जा सकता है कि यह किसी जैन कवि की ही अभिनव कृति है। काव्य में अहिंसा, करुणा आदि भावों पर अधिक जोर दिया गया है।

---

१. जिनरत्नकोश, पृ० ३०१।

२. जैनग्रन्थावली, पृ० ३३२।

३. जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद से वि० सं० २००० में प्रकाशित, ग्रन्थांक ५४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदूतसमस्यालेख[1] : मुगल सम्राट् अकबर से जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त जैनमुनि श्री मेघविजय जी इस दूतकाव्य के रचनाकार हैं। इस काव्य के अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य भी इनके द्वारा रचे गये हैं। इस काव्य की रचना वि० सं० १७२७ में की गई है। यद्यपि काव्य में कहीं भी कवि का नाम तथा रचनाकाल नहीं उल्लिखित है, फिर भी काव्य के अन्तिम श्लोक से कवि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है—

माघकाव्यं देवगुरोर्मेघदूतं प्रभप्रभोः
समस्यार्थं समस्यार्थं निर्ममे मेघपण्डितः ॥१३१॥

यह १३१ श्लोक का सम्पूर्ण काव्य है। कालिदासीय मेघदूत की समस्यापूर्ति ही इस काव्य में भी की गई है। कवि ने काव्य में अपने गुरु आचार्य विजयप्रभसूरि के पास मेघ द्वारा अपनी कुशलवार्ता का सन्देश भेजा है। काव्य में गुरु के प्रताप का वर्णन किया गया है तथा गुरु के वियोग में कवि की व्याकुलता एवं असहायावस्था का मर्मस्पशी चित्रण किया गया है।

काव्य का अन्तिम श्लोक अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। काव्य का मुख्य रस भक्ति है। जैसा कि काव्य की कथा से स्पष्ट है कि कवि ने अपने गुरु के लिए विज्ञप्ति स्वरूप यह दूतकाव्य लिखा है। अतः गुरुभक्ति एवं जैनधर्म का यत्र-तत्र स्पष्ट प्रभाव काव्य में दिखलायी पड़ता है। कवि की गुरुभक्ति श्लाघनीय है। अपने पूजनीय गुरु के वियोग में अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

नित्यं चेतः स्फुरति चरणाम्भोजयोः सूरिराजः
कायः सर्वैः समयविषयैः संनिबद्धान्तरायः।
नो चेदो दृग्गुरु सुरतरुं प्राप्य कः स्याददवीयान्
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

काव्य में जैन धर्म से सम्बन्धित कोई विशेष विवरण तो मिलता नहीं है, लेकिन स्थान-स्थान पर जैन-प्रतिमाओं और तीर्थंकरों का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह काव्य एक जैन कवि द्वारा रचित जैन धर्म-विषयक रचना ही है। दूतकाव्यों तथा

---

१. श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर (राजस्थान) से वि० सं० १९७० में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदूत की समस्या-पूर्ति-परक काव्यों में यह काव्य अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

वचनदूतम्[1] : यह दूतकाव्य, इस परम्परा का सबसे नवीन दूतकाव्य है। पं० मूलचन्द्र शास्त्री ने इसे दो भागों में रचा है। यह दूतकाव्य जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर भगवान् श्री नेमिनाथ के जीवन से सम्बन्धित है। काव्य के पूर्वार्द्ध में कवि ने राजुल के आत्मनिवेदन को प्रस्तुत किया है तथा उत्तरार्द्ध में उस वियोगिनी की व्यथा को परिजनों के द्वारा निवेदित करवाया है।

नेमि और राजुल का प्रसंग, न केवल वैराग्य का एक अप्रतिम विचारोत्तेजक मर्मस्पर्शी प्रसंग रहा है अपितु उसने साहित्य, विशेषतः काव्य को भी निकट से प्रभावित किया है। कवि ने राजीमती के विरह-वियोग को बड़ी चुम्बकीय शैली में प्रस्तुत किया है। कालिदासीय मेघदूत-शिल्प में उसकी अन्तिम श्लोक-पंक्ति को नींव बनाकर खड़ा, यह काव्य निस्सन्देह नेमि और राजुल के मार्मिक प्रसंग को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करता है। वैराग्य की पृष्ठभूमि के साथ-साथ अहिंसा, करुणा और साधना के प्रतिपादन के विषय में यह काव्य अनूठा है।

शीलदूतम्[2] : मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरण को लेकर समस्या-पूर्ति के रूप में यह काव्य लिखा गया है। इस काव्य के रचनाकार मुनि श्री चारित्रसुन्दरगणि जी हैं। शील जैसे भाव को दूत बनाना कवि की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। यह काव्य वि० संवत् १४८७ में रचा गया है। कवि ने इस दूतकाव्य के अतिरिक्त श्रीकुमारपाल महाकाव्य, श्रीमहीपालचरित और आचारोपदेश आदि अनेक ग्रन्थ भी रचे हैं।

स्थूलभद्र अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर विरक्त हो जाता है और एक पर्वत पर आश्रम बनाकर रहने लगता है। एक बार भद्रबाहु स्वामी से उसका साक्षात्कार होता है, वह उनसे दीक्षा ग्रहण करता है। गुरु के आदेश से वह अपनी नगरी में आता है। वहाँ उसकी रानी कोशा उसे पुनः गृहस्थी में प्रविष्ट होने के लिए निवेदन करती है। रानी के वचनों को सुनकर स्थूलभद्र ने कहा—"भद्रे ! अब मुझे विषयों से राग नहीं है,

१. प्रकाशित, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीर जी साहित्य-शोध-विभाग, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर।

२. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी से वीर संवत् २४३९ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे चित्रशाला भी वन के समान प्रतीत होती है। संसार के समस्त सुख अनित्य और क्षण-भंगुर हैं। ज्ञान और चरित्र ही आत्मा के शोधन में सहायक है।" इस प्रकार स्थूलभद्र की बातें सुनकर कोशा का मन पवित्र हो जाता है, उसकी सारी वासनाएँ जल जाती हैं और वह स्थूलभद्र के चरणों में गिर पड़ती है। वह भी साधनामार्ग में संलग्न हो जाती है और इसप्रकार स्थूलभद्र सूरीश बन जाते हैं।

काव्य में कुल १३१ श्लोक हैं। काव्य का नायक स्थूलभद्र अपनी प्रेयसी कोशा को अपने शील के प्रभाव से प्रभावित कर जैनधर्म में दीक्षित करता है। इसी आधार पर इस दूतकाव्य का नाम शीलदूत रखा गया है। किसी अन्य को दूत के रूप में नहीं भेजा गया है। काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रधानता रहने पर भी शान्तरस ही स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। कवि ने विरहिणो कोशा की उत्सुकता, स्मृति और उत्कण्ठा का सजीव चित्रण किया है। विरहानुभूति की तीव्रता सम्यक् प्रकार से प्रदर्शित की गयी है। समस्यापूर्ति होने पर भी मौलिक कल्पना के यथास्थान दर्शन होते हैं।

मेघदूत में कालिदास ने बताया है कि अलका में पहनने के लिए रंग-बिरंगे वस्त्र, नयनों को विविध-विलास सिखलाने वाली मदिरा, शरीर सजाने के लिए कोपलों सहित खिले हुए फूलों के नाना प्रकार के गहने, कमल की तरह पैरों को रंगने के लिए महावर आदि समस्त प्रकार की स्त्रीपयोगी शृङ्गार सामग्री अकेला कल्पवृक्ष ही प्रस्तुत करता है। कवि श्री चारित्रसुन्दरगणि ने कल्पवृक्ष की इसी कल्पना को त्याग के रूप में निम्न प्रकार से अंकित किया है—

त्यागो यस्यां धनिभिरनिशं दीयमानोऽधनां द्रा-
गेकं सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥८०॥

काव्य को आद्योपान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। कवि का यह कथन—

चक्रे काव्यं सुललितमहो शीलदूताभिधानम् ॥

अक्षरशः सत्य है। शील जैसे मनः भाव को दूत का रूप देकर कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

हंसपादांकदूतम्[1] : इस दूतकाव्य का उल्लेख जैन विद्वान् श्री अगर-

---

१. विद्वद्रत्नमाला : प्रेमी नाथूराम, पृ० ४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्र नाहटा[1] ने अपने एक लेख में किया है। यद्यपि उन्होंने भी इसके अस्तित्व में सन्देह व्यक्त किया है। फिर भी विद्वद्रत्नमाला के उल्लेखानुसार इस काव्य को भी जैन-संस्कृत दूतकाव्यों में सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार जैन कवियों की दूतकाव्य-निर्माण में अत्यधिक रुचि परिलक्षित होती है। इसी रुचि का ही यह प्रतिफल है कि संस्कृत-साहित्य के समस्त दूतकाव्यों में इन जैन कवियों द्वारा प्रणीत दूतकाव्यों का पर्याप्त महत्त्व है। विशेष महत्त्व की बात तो यह है कि इन जैन कवियों ने विप्रलम्भ-शृङ्गार रस से ओत-प्रोत रसधारा को शान्त रस में परिवर्तित कर दिया तथा अपनी दूतकाव्य-रचनाओं द्वारा जैन धर्म सम्बन्धी धार्मिक, सामाजिक नियमों एवं तात्त्विक सिद्धान्तों का जनसाधारण को उपदेश दिया। इन जैन कवियों ने विज्ञप्ति-पत्रों को भी दूतकाव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर सर्वथा एक नवीन ही प्रयोग कर दिखाया है। दूतकाव्य-विधा में इन कवियों द्वारा किये गये उपर्युक्त कुछ नवीन संस्कार इस बात के स्पष्ट परिचायक हैं कि जैन कवियों को दूतकाव्य अत्यन्त प्रिय थे। यही एक कारण था कि लोक-मानस को भलीभाँति पहचानने वाले इन जैन कवियों ने, अपने धर्म के नीरस से नीरसतम धर्म-सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रचार-प्रसार जन-मानस तक पहुँचाने के लिए इस दूतकाव्य-विधा का आश्रय लिया। साथ ही ये जैन कवि इस कारण प्रशंसा के पात्र और भी बन गये जो कि इन कवियों ने दूतकाव्य के मौलिक साहित्यिक सौन्दर्य एवं सरसता में किञ्चिन्मात्र अल्पता भी नहीं आने दी है।

अतः यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि जैन कवियों ने दूतकाव्य-निर्माण, उसके क्षेत्र तथा उसकी वस्तुकथा को विकसित करने में अपना अपूर्व योगदान अर्पित किया है।

●

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३, किरण २, पृ० ६९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनेतर दूतकाव्य

दूतकाव्य संस्कृत-साहित्य को एक विशिष्ट परम्परा है। इस परम्परा की सर्वसशक्त कृति महाकवि कालिदासकृत मेघदूत है। मेघदूत की लोकप्रियता भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही रही है। अनेक कवियों ने इस रचना से प्रेरित होकर या इसी को आधार बनाकर अपने-अपने दूतकाव्यों की रचना की है। इस प्रकार इस परम्परा में निरन्तर नवीन-नवीन दूतकाव्य जुड़ते गये हैं।

अद्यावधि इस परम्परा का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत हो चुका है। अब तक शताधिक दूतकाव्य जैनेतर कवियों द्वारा रचे जा चुके हैं। यहाँ इन समस्त दूतकाव्यों का संक्षिप्त दिग्दर्शन, उनके नामों के वर्णक्रमानुसार, प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से किंचित् दूतकाव्यों का तो ग्रन्थों एवं सूची-पत्रों में मात्र उल्लेख ही मिलता है और शेष प्रायः प्रकाशित हो चुके हैं—

अनिलदूतम्[1] : यह काव्य कृष्ण-कथा पर आधारित है। इस दूतकाव्य में अनिल अर्थात् वायु द्वारा दौत्य-कर्म सम्पादित करवाया गया है। काव्य के रचयिता श्री रामदयाल तर्करत्न हैं। दूतकाव्य का प्रथम श्लोक है—

श्रीमत्कृष्णे मधुपुरगते निर्मला क पि बाला
गोपी नीलोत्पलनयनजां वारिधारां वहन्ती।
म्लानिप्राप्त्या शशधरनिभं धारयन्ती तदास्यं
गाढप्रीतिच्युतिकृतजरा निर्भरं कातराऽभूत् ॥१॥

काव्य में कथा इस प्रकार है कि कृष्ण के मथुरा चले जाने पर निर्मला नामक एक गोपबाला विरह से बहुत व्याकुल हो उठती है। अपनी इस विरह-व्यथा को श्रीकृष्ण के पास तक पहुँचाने के हेतु वह प्रवाहित होती वायु अर्थात् अनिल को ही अपना दूत बनाकर उसके द्वारा अपना विरह-सन्देश श्रीकृष्ण के पास भेजती है। काव्य पूर्ण रूप में उपलब्ध भी नहीं है, मात्र उसके कुछ अंश ही प्राप्त हैं।

अब्ददूतम्[2] : रामकथा पर आधारित इस दूतकाव्य के रचनाकार श्रीकृष्णचन्द्रजी हैं। काव्य प्रकाशित नहीं हो पाया है। मूलप्रति तालपत्र

१. प्राच्य-वाणी मन्दिर, कलकत्ता की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में द्रष्टव्य।
२. अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर लिखित सुरक्षित है। काव्य में १४९ श्लोक हैं। श्रीराम सीता के विरह में एक दिन मलय-पर्वत पर विचर रहे थे, तभी वे आकाश में मेघ अर्थात् अब्द को देखकर अति विरहातुर हो जाते हैं और उसे ही अपना दूत बनाकर उसके द्वारा सीता के पास अपना विरह-सन्देश भेजते हैं। काव्य अतिसुन्दर है।

अमरसन्देश[1] : इस दूतकाव्य के कर्ता के सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी जानकारी नहीं मिलती है। इस काव्य का सूचीपत्र में मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है।

उद्धवदूतम्[2] : श्री माधवकवीन्द्र भट्टाचार्य ने अपनी विद्वता एवं कला-निपुणता का परिचय देते हुए, इस दूतकाव्य की रचना की है। इस दूतकाव्य का कथा-संकेत इस श्लोक से ही प्रदर्शित हो रहा है—

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमवाह।
गोपीनां मद्वियोगार्धि मत्सन्देशैर्विमोचय॥

श्रीमद्भागवत की कथा को लेकर काव्य की कथावस्तु रची गयी है। इस दूतकाव्य में श्रीकृष्ण ने उद्धव को अपना दूत बनाकर उन्हें अपने माता-पिता तथा गोपिकाओं को सान्त्वना देने हेतु वृन्दावन भेजा है।

उद्धव मथुरा से श्रीकृष्ण का सन्देश वृन्दावन पहुँचाते हैं और फिर वृन्दावन से एक गोपी का सन्देश लेकर श्रीकृष्ण तक पहुँचाते हैं। इस दूतकाव्य में कुल मिलाकर १४१ श्लोक हैं। कालिदास की ही भाँति इस दूतकाव्य में भी कवि ने मार्गवर्णन किया है तथा श्रीमद्भागवत के श्लोकों को अपना आधार बनाया है। संक्षेपतः कहा जा सकता है कि काव्य का कथानक श्रीमद्भागवत के अनुसार ही है। अलंकारों का भी काव्य में पर्याप्त मात्रा में प्रयोग मिलता है।

उद्धवसन्देश[3] : इस दूतकाव्य के रचनाकार श्री रूपगोस्वामीजी हैं। यह दूतकाव्य १६ वीं शताब्दी की रचना है। कुल मिलाकर इस काव्य में

१. श्री गुस्तोव आपर्ट द्वारा संकलित दक्षिण भारत के निजी पुस्तकालयों के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के भाग २, संख्या ७८०५ द्रष्टव्य।

२. श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उनके काव्यसंग्रह के प्रथम भाग के तृतीय संस्करण में सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित, डा० जोन हेबलिन द्वारा उनके काव्यसंग्रह में सं० १८४७ में कलकत्ता से प्रकाशित।

३. श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उनके काव्यसंग्रह में तृतीय भाग के तृतीय संस्करण में सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३८ श्लोक हैं। कथावस्तु इस प्रकार है—विरही श्रीकृष्ण विरह से अति पीड़ित होने पर अपने विरह-ताप को तथा गोपिकाओं के विरह-ताप को दूर करने हेतु श्री उद्धवजी को अपना दूत बनाकर मथुरा से वृन्दावन भेजते हैं।

यह दूतकाव्य भी कृष्णकथा पर ही आश्रित है एवं इस काव्य की कथावस्तु भी श्रीमद्भागवत से ही ली गयी है। दूतकाव्य का अधिकांश भाग मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध है। कवि की वर्णन-शैली अति प्रशंसनीय है। अनुरक्ता स्त्री के मानस-भाव के चित्रण में कवि ने अपनी निपुणता एवं विद्वता से काम लिया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि उद्धवसन्देश कवि श्रीरूपगोस्वामी का एक उत्तम प्रशंसनीय काव्य-ग्रन्थ है। शृङ्गारिक, कलात्मक एवं अन्य दृष्टियों से भी यह दूतकाव्य पूर्ण ही है।

कपिदूतम्[1] : इस काव्य के कर्ता के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है। ढाका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में इस काव्य की एक एक खण्डित हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। ग्रन्थ का अध्ययन करने पर भी इसमें कहीं भी उसके रचनाकार की सूचना नहीं प्राप्त होती है।

काकदूतम्[2] : इस दूतकाव्य के सृष्टिकर्ता कवि श्री गौरगोपाल शिरोमणि जी हैं। यह काव्य भी कृष्ण-भक्ति की ही कथा का वर्णन करता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस काव्य में दौत्य-कर्म को एक काक अर्थात् कौए द्वारा सम्पादित करवाया गया है। काव्य-कथा कुछ इस प्रकार है कि राधा कृष्ण के वियोग में बहुत व्याकुल हो उठती हैं। अतः काक को अपना दूत निर्धारित कर उसके द्वारा अपना विरह-सन्देश श्रीकृष्ण के पास तक पहुँचाती हैं।

काव्य का रचनाकाल शक सं० १८११ है। काव्य बहुत ही सुन्दर है। काव्य-सौष्ठव को दृष्टि से काव्य पूर्णता को प्राप्त है। कवि ने अपनी निपुणता का पूरा-पूरा समायोजन करके दिखा दिया है। तभो न काक-दर्शनोपरान्त श्री राधा के मन में दो तरह की भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं कि या तो यह काक मेरा उपकार ही करेगा या फिर मेरा अपकार अर्थात् नाश ही करेगा। काक में यह दोनों शुभ और अशुभसूचक भाव सन्निविष्ट हैं। यथा—

---

१. ढाका विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हस्तलिखित ग्रन्थ-संख्या ९७५ बी।

२. 'बंगीयदूतकाव्येतिहास : डॉ० जे० बी० चौधरी, पृ० ९७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काकोदरो यादृश एव जन्तोः काकध्वजो वा जलसम्भवस्य ।
काकोलरूपःकिमु नाशकोऽत्र काकोऽयमागान्मम सन्निधाने ।।
काकाञ्चाजीर्णजीर्णज्वरकृमिकफहा काकजम्बूश्च दाह-
मिश्रातीसारनाशिन्यथ मधुरगुणा पाककाले यथा स्यात् ।
काकेन्दुर्वान्तिपित्तप्रशमक इति वा काकमाचीऽत्रिदोष-
शान्त्यै शक्ता तथायं किमु मम विरहस्यान्तकर्ताऽन्तिकोऽभूत् ।।

इस दूतकाव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है।

काकदूतम्[1] : इस काव्य के कर्ता के सम्बन्ध में किंचिदपि जानकारी नहीं है। मात्र 'सहृदयम्' नामक मासिक पत्रिका के एक अंक में इस काव्य का उल्लेख मिलता है।

काकदूतम्[2] : इस काव्य के रचनाकार के विषय में कुछ भी नहीं ज्ञात है। इसमें कारागार में पड़ा एक ब्राह्मण काक के द्वारा अपनी प्रेयसी कादम्बरी के पास अपना सन्देश भेजता है। नैतिकता की शिक्षा देने के विचार से समाज पर रचा गया यह एक व्यंग्यपरक दूतकाव्य है।

कोरदूतम्[3] : श्रीकृष्ण की कथा पर आधारित यह दूतकाव्य श्री राम-गोपाल जी द्वारा रचा गया है। सन्देश-सम्प्रेषण का माध्यम एक कोर अर्थात् शुक है। इसलिए परम्परानुसार दूत के ही आधार पर काव्य का नामकरण किया गया है।

श्रीकृष्ण के वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग में बहुत व्याकुल होती हैं। उनकी यह विरह-व्यथा इतनी तीव्र हो जाती है कि वे अपनी उस विरह-व्यथा का सन्देश एक शुक के माध्यम से श्रीकृष्ण तक पहुँचाती हैं। काव्य में कुछ १०४ श्लोक हैं। कवि ने अपनी विद्वता एवं काव्यचातुरी का पूर्णपरिचय दिया है। काव्य अद्यावधि अप्रकाशित ही है।

कीरदूतम्[4] : वेदान्तदेशिक के पुत्र वरदाचार्य द्वारा रचा गया यह कीरदूत काव्य प्राप्त तो नहीं है, परन्तु मैसूर की गुरु परम्परा में इसका उल्लेख मिलता है।

---

१. सहृदयम्, संस्कृत मासिक पत्रिका, मद्रास, भाग, २३, पृ० १७३।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० ३६५।
३. श्रीहरप्रसाद शास्त्री द्वारा संकलित संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के भाग १, पृ० ३९, संख्या ६७ पर द्रष्टव्य।
४. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोकसन्देश[1] : विप्रलम्भ शृङ्गार से पूर्ण एक स्वतन्त्र कथा पर आधारित इस दूतकाव्य की रचना कवि श्री विष्णुत्रात ने की है। कालिदासीय मेघदूत के ही समान यह काव्य भी क्रमशः १२० एवं १८६ श्लोकों द्वारा दो भागों में विभक्त है।

दूत का माध्यम एक कोक अर्थात् चक्रवाक पक्षी विशेष को बनाया गया है। विद्यापुर का राजकुमार जो कि अपनी प्रिया के सहित सुखपूर्वक रहता था, एक बार एक यान्त्रिक से एक ऐसे यन्त्र को प्राप्त कर, जिससे कि उस यन्त्र के सिर में स्पर्श से व्यक्ति देश से बहुत दूर पहुँच जाता था, कौतूहलवश उसका प्रयोग कर बैठा। जिसके कारण वह अपने राज्य एवं प्रिया से दूर अन्य दूसरे देश में पहुँच गया। प्रिया के वियोग में व्याकुल हो उसने एक कोक को अपना दूत बनाकर एवं उसे अपना सन्देश देकर अपनी प्रियतमा के पास भेजा।

काव्य की यह कथा काल्पनिक ही है। चक्रवाक को दूत बनाने में कवि ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता का स्पष्ट परिचय दिया है, क्योंकि चक्रवाक हर रात स्वयं अपनी प्रिया के विरह-दुःख को अनुभव करता है। इसलिए वह अन्य विरहियों के बिरह को भी भली-भाँति समझ सकता है एवं उसका सन्देश ठीक प्रकार से पहुँचा सकता है।

काव्य कालिदासीय मेघदूत के अनुकरण पर ही रचा गया है। विषय, व्यवस्था, छन्द तथा शैली आदि सभी में मेघदूत का ही अनुकरण है। इस हेतु काव्यकार ने काव्य के प्रारम्भ में—

सद्भिर्दूरीकृतमपि सदैवविलं दोषबुद्धया।
गंगासंगात् कृतकसरितां वारि पुण्यं न किं स्यात्॥ (२४॥

यह पंक्तियाँ लिखी हैं कि विद्वानों को भले ही इस काव्य में कहीं न कहीं दोष दिखलाई पड़े पर जिस तरह गंगा नदी से निकली नहर का जल भी पवित्र माना जाता है, उसी तरह मेघदूत के अनुकरण पर ही होने के कारण यह काव्य भी उतना ही सरस एवं रमणीय है।

कोकिलदूतम्[1] : कृष्ण-भक्ति को लेकर प्रस्तुत यह दूतकाव्य कवि श्री हरिदास जी द्वारा रचा गया है। काव्य का रचनाकाल शक सं० १७७७ है।

---

१. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से ग्रन्थांक १२५ के रूप में सन् १९३७ में प्रकाशित।

२. कालिदाससेन की मणिमाला व्याख्यासहित सुधामय प्रामाणिक द्वारा कलकत्ता से बंगीय सं० १३११ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य में दूत-सम्प्रेषण का माध्यम एक कोयल (कोकिल) है। कुल १०० श्लोकों में पूरा काव्य रचा गया है। मेघदूत के ही समान मन्दाक्रान्ता छन्द भी प्रयुक्त है। पूरा काव्य इसी छन्द में रचित है। कथावस्तु निम्न प्रकार है—कि श्री राधा के हृदय में विरहव्यथा अति मार्मिकता से समाविष्ट हो चुकी थी, क्योंकि उनके प्रियतम श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर मथुरा को चले गये थे। फलतः मन को शान्त करने के उद्देश्य से राधा, एक कोकिल को ही अपने प्रियतम के पास सन्देश देकर भेजती हैं। इस काव्य में कवि-चातुर्य एवं काव्य-सौन्दर्य पूर्णरूप से प्रतिभासित होता है।

काव्य कालिदासीय मेघदूत की पद्धति पर रचा गया है। कला-पक्ष एवं भाव-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से काव्य अपने में पूर्ण है।

कोकिलसन्देश[1] : इस दूतकाव्य के रचनाकार उदण्ड कवि हैं। काव्य का रचनाकाल १५ वीं शताब्दी है। इस काव्य में, एक प्रिया-वियुक्त विरही ने केरल में स्थित अपनी प्रियतमा के पास एक कोकिल अर्थात् कोयल को सन्देश-हारक के रूप में भेजा है। संक्षेपतः काव्य लघु होते हुए भी बहुत प्रभावी है।

कोकिलसन्देश[2] : दूतकाव्य परम्परा में अपने नाम का यह दूसरा दूत-काव्य है। इस काव्य की रचना श्री नरसिंह कवि ने की है। इसमें भी कोकिल ही दूत-माध्यम है। कथानक भी एक ही जैसा है कि एक कामपीड़ित नायक अपनी वियुक्ता नायिका के पास अपना विरह-सन्देश कोकिल के माध्यम से भेजता है। पर काव्यकार भिन्न होने से दोनों की रचना शैली भी अवश्य भिन्न है। वैसे काव्य पूर्ण रूप से एक शृंङ्गारिक काव्य के रूप में आता है।

कोकिलसन्देश[3] : इस दूतकाव्य के पूर्व इसी नाम के दो दूतकाव्य इस काव्य-परम्परा में रचे जा चुके हैं। इस दूतकाव्य के काव्यकार श्री

---

१. श्री पी० एस० अनन्त नारायण शास्त्री की टिप्पणी सहित मंगलोदयम् प्रेस, त्रिचूर से सं० १९३९ में प्रकाशित।

२. अद्यार पुस्तकालय के हस्तलिखित सूचीपत्र के द्वितीय भाग में संख्या ५ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

३. तंजौर राजमहल पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रंथों के सूची पत्र के भाग ७, संख्या २८६३ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेंकटाचार्य जी हैं। इसमें भी एक नायक अपनी विरहिणी नायिका के पास अपना सन्देश एक कोकिल के माध्यम से भेजता है।

कोकिलसन्देश[1] : इस दूतकाव्य के रचनाकार आचार्य वेदान्तदेशिक के पुत्र श्री वरदाचार्य जी हैं। यह दूतकाव्य, इस काव्य-परम्परा में अपने नाम के ही अन्य काव्यों में चतुर्थ है। इसमें भी कोकिल के माध्यम से एक विरही अपनी विरहिणी के पास अपना विरह सन्देश भेजता है। इस दूतकाव्य का उल्लेख मैसूर की गुरुपरम्परा में मिलता है।

कोकिलसन्देश[2] : श्री गुणवर्धन द्वारा प्रणीत यह दूतकाव्य इस काव्य परम्परा का पंचम दूतकाव्य है। इस काव्य का केवल उल्लेख ही मिलता है। अन्य काव्यों के समान ही इसमें भी कोकिल द्वारा नायक के सन्देश को नायिका के पास तक पहुँचाया गया है।

कृष्णदूतम्[3] : इस दूतकाव्य के रचनाकार श्री नृसिंह कवि जो हैं। काव्य में कृष्ण को दूत के रूप में चित्रित किया गया है। काव्य प्रकाशित नहीं हो पाया है, इस दूतकाव्य का भी मात्र उल्लेख ही मिलता है।

गरुड़सन्देश[4] : श्री वेल्लंकोड रामराय द्वारा प्रणीत इस दूतकाव्य में गरुड़ को काव्य का दूत बनाया गया है। यह काव्य भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। अभी तक इसके उल्लेख भर ही ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

गरुड़सन्देश[5] : अपने नाम का यह दूसरा दूतकाव्य श्री नृसिंहाचार्य द्वारा प्रणीत है। जो कि तिरुपति स्थानम् के हैं। इस काव्य के बारे में कोई भी अन्य सामग्री नहीं प्राप्त होती है।

गोपीदूतम्[6] : यह दूतकाव्य कृष्ण-कथा पर आधारित है। इस काव्य के रचनाकार श्री लम्बोदर वैद्य जी हैं। एक पंक्ति में उन्होंने अपना परिचय दिया है कि वे "उस राजा वासुदेव के सुपुत्र थे, जिनका यश सारे संसार

१. डब्ल्यू, एफ० गुणवर्धन, न्यूयार्क द्वारा सम्पादित।
२. सीलोन ऐण्टिक्वेरी, भाग ४, पृ० १११ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।
३. अद्यार पुस्तकालय की हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची के भाग २, संख्या ४ पर द्रष्टव्य।
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० ३३३ पर द्रष्टव्य।
५. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।
६. काव्यसंग्रह : जीवानन्द विद्यासागर, जिल्द ३, पृ० ५०७-५३०, कलकत्ता, १८८८; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में व्याप्त था।" इस काव्य में गोपिकाओं ने धूलि के माध्यम से श्रीकृष्ण के पास सन्देश भेजा है। काव्य का नामकरण दूत पर आधारित न होकर दूत-सम्प्रेषणकर्त्री के नाम पर आधारित है। कथा कुछ इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल हो उठीं। मथुरा जाते समय गोपियों ने श्रीकृष्ण का अनुगमन भी किया, पर निष्फल होकर वापस आ गयीं। उस समय श्रीकृष्ण के रथ से उड़ती हुई धूलि को देख उन गोपियों ने उसी धूलि को ही अपना दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास भेजकर अपना सन्देश भेजा। यथा—

गते गोपीनाथे मधुपुरमितौ गोपभवनाद्
गता यावद्धूली रथचरणजा नेत्रपदवीम्।
स्थितास्तावल्लेख्या इव विरहतो दुःखविधुरा
निवृत्ता निष्पेतुः पथिषु शतशो गोपवनिताः॥

काव्य अप्रकाशित है और इसके कुछ अंश ही उपलब्ध हैं।

घटखर्परकाव्यम्[1] : संस्कृत के दूतकाव्यों में इस काव्य का स्थान सर्व-प्रथम है। यह दूतकाव्य मेघ-सन्देश से भी पहले का लिखा हुआ है। कथा-वस्तु भी करीब-करीब मेघदूत के ही समान है। मात्र अन्तर इतना ही है कि इसमें पत्नी ने पति के पास मेघ को दूत बनाकर भेजा है, जबकि मेघ-दूत में पति ने पत्नी के पास मेघ को दूत के रूप में भेजा है। यद्यपि नाम एवं स्वरूप से यह काव्य एक सन्देश-काव्य सदृश नहीं प्रतीत होता, पर वस्तुतः यह काव्य भी एक सन्देशकाव्य ही है। मात्र २२ श्लोक के इस अतिलघुकाय काव्य में विभिन्न सुमधुर-कर्णप्रिय छन्दों को प्रयुक्त कर कवि ने इस काव्य को एक सफल सन्देशकाव्य का स्वरूप प्रदान कर दिया है। महाकाव्यों तथा मेघदूतकाव्य के मध्य में—भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष इन दोनों दृष्टियों से—यह काव्य एक अन्तरिम शृंखला का कार्य करता है। इस प्रकार संस्कृत के सन्देशकाव्यों के विकास के इतिहास में इस घटखर्पर काव्य के महत्त्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है।

घनवृत्तम्[2] : इस दूतकाव्य के रचनाकार कोरद रामचन्द्र जी हैं। कथा-प्रसंग भी मेघदूत से ग्रहण किया गया है। काव्य में मेघदूत के उत्तर

---

१. प्रकाशित।

२. श्री के० डी० नागेश्वर द्वारा मसूलीपट्टम् से सन् १९०८ में प्रकाशित; श्री एम० अच्युत रामशास्त्री द्वारा एलोर से सन् १९१७ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाग की कथा को कल्पित किया गया है। रचनाकार दाक्षिणात्य होने के कारण प्रकाशित इसके दोनों संस्करण तेलुगु लिपि में मुद्रित हैं।

चकोरदूतम् : बिहार प्रान्त के पं० वागीश झा ने इस दूतकाव्य की रचना की है। अभी हाल ही में लिखे गये दूतकाव्यों में यह उच्चकोटिक है। इसका उल्लेख प्रो० वनेश्वर पाठक ने अपनी कृति 'प्लवङ्गदूतम्' की भूमिका के पृष्ठ २७ पर किया है।

चक्रवाकदूतम्[1] : इस काव्य के कर्ता म्युतनकुङ् हैं। इस काव्य का उल्लेख ओझा-अभिनन्दन ग्रन्थ में "जावा के हिन्दू साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय" नामक लेख में हुआ है। इस काव्य का अपरनाम "व्रतसञ्चय" है। यह खण्डकाव्य सन् ११५० ई० का है। इसमें विविध जाति के ११२ श्लोक हैं। कवि ने मुख्य रूप से संस्कृत छन्दों का स्पष्टीकरण किया है। काव्य के प्रत्येक श्लोक में उसकी संज्ञा, लक्षण एवं उदाहरण आ जाते हैं। साथ ही कथा प्रसंग भी चलता रहता है परन्तु यह कथा गौण ही है। एक राजकुमारी अपने प्रेमी के विरह में अति व्याकुल है। एक चकवे को देख, वह उससे अपनो व्यथा सुनाती है और उसे दूत बनाकर वह उसे अपने प्रियतम के पास भेजती है। चक्रवाक जाकर उसके राजकुमार को खोज लाता है और इस तरह प्रेमी-प्रेमिका का मिलाप हो जाता है। काव्य में नायिका नायक के पास अपना सन्देश भेजती है, यही इस दूतकाव्य की किंचित्भिन्नता है कालिदासीय मेघदूत से।

चातकसन्देश[2] : चातक पक्षी को अपना दूत बनाकर किसी अज्ञातनाम कवि ने इस दूतकाव्य की १४१ श्लोकों में रचना की है। काव्य में एक नायिका के सन्देश को दूत चातक ने त्रिवेन्द्रम् के नरेश रामवर्मा के पास पहुँचाया है। काव्य अपने पूर्ण रूप में न तो प्राप्त ही है और न तो प्रकाशित ही है।

चकोरसन्देश[3] : चकोर नामक एक पक्षी विशेष के माध्यम से इस दूतकाव्य में सन्देश-सम्प्रेषण करवाया गया है। इस काव्य के काव्यकार

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३, किरण १ (सन् १९३६), पृ० ३६; अप्रकाशित।

२. जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सन् १८८१, के सूचीपत्र के पृ० ४५१ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

३. ओरियण्टल मैनस्क्रिप्टस लाइब्रेरी मद्रास के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र के भाग २७ संख्या ८४९७ तथा तंजौर पैलेस लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र के भाग ७, संख्या २८६६ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री पेरूसूरि हैं। इस काव्य का उल्लेख, काव्यकार के ही एक वसुमंगल-नाटक की प्रस्तावना में किया गया प्राप्त होता है। जिसके आधार पर यह अनुमान लगता है कि चकोर पक्षी ही प्रेमी-प्रेमिका के बीच सन्देश-हारक का काम करता है।

चकोरसन्देश[1] : श्री वेंकट कवि द्वारा रचित यह दूतकाव्य इस काव्य-परम्परा में, अपने नाम का यह दूसरा दूतकाव्य है। काव्य अप्रकाशित ही है। इसमें भी चकोर पक्षी द्वारा दौत्य-कर्म सम्पादित करवाया गया है।

चकोरसन्देश[2] : श्री वासुदेव कवि द्वारा रचित यह तीसरा चकोर सन्देशकाव्य भी अनुपलब्ध है। इसके लेखक ने 'शिवोदय' आदि अन्य काव्य भी रचे हैं।

चन्द्रदूतम्[3] : यह दूतकाव्य राम-भक्ति पर आधारित है। काव्य में चन्द्रमा द्वारा दौत्य-कर्म सम्पादित करवाया गया है। काव्य की रचना श्रीकृष्ण तर्कालंकार ने की है। अपनी कवित्व-प्रतिभा प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन्होंने काव्य के प्रारम्भ में ही अनुप्रास आदि अलंकारों का अपूर्व प्रयोग करने की चेष्टा की है। यथा—

रामो रामाभिरामो रभितकरभवैरात्मरामाविराम-
स्तप्तो मोमुह्यमानो झटिति वियति तं वीक्ष्य चन्द्रं तदीयैः।
सूरो यं वा स्मरो वा स्मररिपुरपि वा स्वर्मणिर्वा विभाति
प्राणेशीवक्त्रचन्द्रः किमु गगनचरस्तर्कयामास चैतत्॥

हनुमान् जी द्वारा, सीता के पास से भगवान् राम के लिए प्रेषित सन्देश श्रीराम को मिलने पर, रामचन्द्र देवी सीता के वियोग में उनका स्मरण कर व्याकुल होने लगे। उस समय वे माल्य-पर्वत पर विराजमान थे। अपने मन की वेदना को सन्देश रूप में अशोकवाटिका में स्थित सीताजी के पास पहुँचाने हेतु उन्होंने आकाश में प्रकाशित चन्द्र को अपना दूत बनाया, जिसके द्वारा उन्होंने अपना विरह-सन्देश अपनी प्रिया सीता के पास तक पहुँचाया। यही कथा काव्य में वर्णित है। काव्य अति सुन्दर है।

चन्द्रदूतम्[4] : दूतकाव्य की परम्परा में यह अपने नाम का दूसरा

---

१. ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मैसूर के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में संख्या २४६ पर द्रष्टव्य।

२. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट १।

३. श्री हरिप्रसाद शास्त्री द्वारा संकलित संस्कृत पाण्डुलिपि सूची, द्वितीय भाग के ग्रन्थ संख्या ६१ के रूप में हस्तलिखित प्रति उपलभ्य; अप्रकाशित।

४. डा० जे० बी० चौधरी द्वारा सन् १९४१ में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूतकाव्य है। इस काव्य के काव्यकार जम्बूकवि श्री विनयप्रभुजी हैं। इस काव्य में भी चन्द्र के माध्यम से ही दौत्य-कर्म सम्पादित करवाया गया है।

काव्य अति लघु रूप में है। यह दूतकाव्य मात्र २३ श्लोकों का ही है। भाषा बहुत ही परिमार्जित है। अन्त्य-यमक एवं मालिनी छन्द में यह काव्य रचित है। अत्यन्त अल्पाकार होने पर भी काव्य दर्शनीय है।

झंझावात : राष्ट्रीय भावना को लेकर इस सन्देशकाव्य की रचना हुई है। रचनाकार श्री श्रुतिदेवशास्त्री जी हैं। इस काव्य की रचना सन् १९४२ में होने वाले आन्दोलन के समय हुई थी। काव्य में झंझावात को रोककर उसे दूत बनाकर उसके द्वारा अपना सन्देश-सम्प्रेषित किया गया है। नेता सुभाषचन्द्र बोस इस काव्य के नायक हैं तथा उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के दौरान बर्लिन में रहकर भारतीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में अपना संघर्ष जारी रखा था। उसी समय नेताजी ने एक दिन रात्रि में उत्तर की ओर से आते हुए एक झंझावात को रोककर उसी के द्वारा भारत की जनता के नाम अपना सन्देश सम्प्रेषित किया है।

यह काव्य पूर्णतया राष्ट्रीय भावना पर आधारित है तथा इस दूत-काव्य की परम्परा में सबसे विचित्र है।

तुलसीदूतम्[1] : यह दूतकाव्य कृष्ण-कथा पर आधारित है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है कि काव्य में दौत्य-कर्म तुलसी वृक्ष द्वारा सम्पादित करवाया गया है। त्रिलोचन कवि इस काव्य के रचनाकार हैं। कुल काव्य ५५ श्लोकों का है। काव्य का रचनाकाल शक संवत् १७३० है। काव्य की कथा इस प्रकार है कि कोई एक गोपी श्रीकृष्ण के विरह से संतप्त होकर वृन्दावन में प्रवेश करती है। वहाँ एक तुलसी के वृक्ष को देखकर उसके मन में, उस तुलसी वृक्ष को ही दूत बनाकर उसके द्वारा श्रीकृष्ण के पास अपना सन्देश भेजने की भावना उठती है। फलतः वह तुलसीवृक्ष को ही दूत बनाकर उसे मथुरा श्रीकृष्ण के पास भेजती है। कवि ने अपनी भावनाओं को काव्य में मूर्तरूप दे दिया है। इसीलिए काव्य अतिशय चमत्कारपूर्ण बन गया है।

तुलसीदूतम्[2] : कवि श्री वैद्यनाथ द्विज द्वारा प्रणीत प्रस्तुत दूतकाव्य,

---

१. संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता के पुस्तकालय में पाण्डुलिपि उपलब्ध। प्राच्य-वाणी मन्दिर, कलकत्ता के ग्रन्थ सूचीपत्र के ग्रन्थ संख्या १३७ में द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

२. प्राच्य-वाणी मन्दिर, कलकत्ता के ग्रन्थ संख्या १३७ के रूप में द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस काव्य-परम्परा में अपने नाम का दूसरा दूतकाव्य है। इस काव्य का रचना-काल शक संवत् १७०६ निर्धारित किया जाता है। यह काल काव्य के ही इस श्लोक से स्पष्ट होता है—

शाके तर्कनभोहयेन्दु गणिते श्रीवैद्यनाथो द्विजो
गोपीकैरवकानन प्रियकलानाथाङ्घ्रिपाथोरुहम्।
ध्यायंस्तच्चरणारविन्दरसिकः प्रज्ञावतां प्रीतये
प्रीत्यै तस्य चकार चारु तुलसीदूताख्यकाव्यं महत्॥

काव्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह काव्य, प्रथम तुलसीदूत काव्य के पूरे-पूरे अनुकरण पर लिखा गया है। दोनों काव्यों की भाषा-शैली, रचना-वैशिष्ट्य सब समान सा ही प्रतीत होता है। पर दोनों में भिन्नता इसी बात की मिलती है कि दोनों काव्यों के काव्यकार एवं रचनाकाल भिन्न-भिन्न हैं। काव्य बहुत सुन्दर है, पर इसका अभी तक पूर्णांश उपलब्ध नहीं हुआ है

दात्यूहसन्देश[1] : इस सन्देशकाव्य के बारे में कुछ भी अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। काव्य के रचयिता श्री नारायण कवि जी हैं। काव्य का मात्र उल्लेख ही उपलब्ध होता है।

दूतवाक्यम्[2] : दूतकाव्य परम्परा में आदिकाव्य "रामायण" के बाद श्रीभासरचित इस दूतकाव्य की ही गणना है। काव्य की कथा विप्रलम्भ शृङ्गार पर आधारित न होकर राजनीति से सम्बन्धित है। युधिष्ठिर के दूत श्री कृष्ण दुर्योधन के दरबार में सन्धि-प्रस्ताव हेतु जाते हैं। लेकिन दुर्योधन इसे नहीं स्वीकार करता है, प्रत्युत उन्हें अपमानित करता है। अतः श्रीकृष्ण उसे विनाश एवं महाभारत की पूर्व सूचना देकर वापस चले जाते हैं। काव्य बहुत ही सुन्दर है।

दूतघटोत्कच[3] : दूतवाक्यम् के ही रचयिता श्रीभास ही इस दूतकाव्य के भी रचनाकार हैं। इसमें भी कथा-प्रसंग राजनीति प्रेरित ही है, शृङ्गार आदि पर आधारित नहीं। महाभारत का युद्ध जब अवश्यम्भावी हो जाता है तब श्रीकृष्ण घटोत्कच को दूत बनाकर दुर्योधन के पास भेजते हैं। वह वहाँ पहुँचकर विनाश की स्थिति से दुर्योधन को अवगत कराता है, पर दुर्योधन कुछ नहीं सुनता है। तब घटोत्कच आदि भी युद्ध हेतु तैयार होते हैं। काव्य बहुत अच्छा है।

---

१. त्रावनकोर की संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थसूची के ग्रन्थ संख्या १९५ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

२. प्रकाशित।

३. प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवदूतम्[1] : इस दूतकाव्य के कर्ता के विषय में किंचिदपि जानकारी नहीं है। परन्तु यह काव्य हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित आधुनिक दूतकाव्यों में उल्लिखित है।

नलचम्पू[2] : अन्य दूतकाव्यों की भाँति इस दूतकाव्य की कथा राम-भक्ति या कृष्ण-भक्ति पर आधारित न होकर पौराणिक कथा पर आधारित है। पुण्यश्लोक नल की कथा इस दूतकाव्य में वर्णित है। काव्य के रचयिता श्रीत्रिविक्रम भट्टजी हैं। काल-निर्धारण में कुछ मत-वैभिन्न्य अवश्य है, पर प्राप्त सूत्रों के आधार पर ई० सन् ९१५ में इस काव्य-ग्रन्थ की रचना स्वीकृत हुई है।

काव्य में नल एवं दमयन्ती की प्रेमकथा वर्णित है। काव्य में दूत-सम्प्रेषण की स्पष्ट झलक एक ही स्थान पर नहीं, प्रत्युत अनेक स्थलों पर मिलती है। हंस एक पक्षी विशेष तथा काव्य का नायक स्वयं नल दोनों दौत्य-कर्म सम्पादित करते हैं। हंस, जहाँ नल एवं दमयन्ती दोनों का दूत बनकर, उन दोनों के सन्देश को एक दूसरे के पास पहुँचाता है, वहीं नल देवताओं का दूत बनकर उनके सन्देश को अपनी प्रिया तथा काव्य की नायिका दमयन्ती के पास तक पहुँचाता है। काव्य बहुत ही विचित्र है।

काव्य में सात उच्छ्वास हैं, जिनमें सब मिला कर ३७७ श्लोक हैं। काव्य अपूर्ण ही है। इस विषय में रचनाकार के प्रति एक कथा मिलती है कि एक बार इन्हें राजपण्डित पिताजी की अनुपस्थिति में एक अन्य पण्डित से शास्त्रार्थ में विजय हेतु वाग्देवी से वर मिला कि पिताजी के न आने तक मैं तुम्हारी वाणी में रहूँगी। वर पाकर इन्होंने उस पण्डित को परास्त किया, फिर तुरन्त इस नल-चम्पू काव्य की रचना प्रारम्भ कर दी। कहते हैं कि जब अन्तिम सप्तम उच्छ्वास की रचना कर रहे थे तभी पिताजी के आ जाने से वाग्देवी उनकी वाणी से निकल गयीं। इस प्रकार यह काव्य अधूरा ही रह गया। अपूर्ण होने पर भी प्राप्त अंश ही बहुत अद्भुत है।

पद्यदूतम्[3] : राम-कथा पर आधारित यह दूतकाव्य श्री सिद्धनाथ विद्यावागीश द्वारा प्रणीत है। काव्य में एक पद्य अर्थात् कमल को दूत

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, (१९३६ ई०) भाग २, किरण १, पृ० ३६।

२. प्रकाशित।

३. विक्रम संवत् १२२५ में कलकत्ता से प्रकाशित तथा इण्डिया आफिस पुस्तकालय के कैटालाग में पृ० १८२६ पर द्रष्टव्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाया गया है। सागर पर पुल बाँधने हेतु श्रीराम सागर-तट पर पहुँचते हैं। सीताजी अशोका वाटिका में थीं। यह समाचार सीताजी को मिलता है कि श्रीरामचन्द्र सागर तट पर पुल बाँधने हेतु आये हैं। इस समाचार को जानने पर सीताजी के हृदय में तीव्र मिलनोत्कण्ठा उत्पन्न होती है। पर दूर होने से, यह सम्भव न हो सकने के कारण, वह अशोकवाटिका में ही विद्यमान एक कमलपुष्प को देखकर, उसी के माध्यम से अपना विरह-सन्देश श्रीराम के पास भेजती हैं। इस काव्य में कुल ६२ श्लोक हैं। संक्षेपतः कहा जा सकता है कि प्रस्तुत काव्य एक पूर्ण दूतकाव्य के रूप में इस परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

पदाङ्कदूतम्[1] : महामहोपाध्याय कृष्णसार्वभौम द्वारा विरचित प्रस्तुत दूतकाव्य बंगाल के संस्कृत दूतकाव्यों में एक छोटा सा काव्य होने पर भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। काव्यकार ने काव्य के अन्त में लिखा है—

शाके सायक-वेद षोडशमिते श्रीकृष्णशर्मार्पयन्
आनन्दप्रदनन्दनन्दनपदद्वन्द्वारविन्दं हृदि।
चक्रे कृष्णपदाङ्कदूतमखिलं प्रीतिपदं श्रृण्वतां
धीर श्रीरघुरामरायनृपतेराज्ञां गृहीत्वादरात् ॥४६॥

इस श्लोक से प्रमाणित होता है कि इस काव्य की रचना शक् संवत् १६४५ में हुई थी। पद के चिह्न को इस काव्य मे दूतरूप में चुना गया है। श्री कृष्ण के विरह से व्याकुल तथा उन्मत्त सी घूमती हुई कोई एक गोपबाला अपने घर से यमुनातट के किसी एक कुंज में जाती है। वहाँ कृष्ण को न पाकर वह मूर्च्छित हो जाती है। मूर्च्छा टूटने पर कुंज के पास कुलिश, कमल और रथ आदि के चिह्नों से युक्त श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न, उसको दिखायी पड़ते हैं। उसी समय मेघ की गर्जनध्वनि से वह श्रीकृष्ण के वियोग में और भी उन्मत्त हो जाती है। इसलिए वह वहाँ उपस्थित उन पद-चिह्नों को ही, उससे दूत-कार्य सम्पादित कराने के उद्देश्य से, अपनी प्रार्थना सुनाती है। इस प्रकार वह गोपी अपना विरह-सन्देश श्रीकृष्ण के पास उन पद-चिह्नों द्वारा ही भेजती है।

---

१. श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उनके काव्यसंग्रह के प्रथम भाग के तृतीय संस्करण में सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कथा-प्रसंग श्रीमद्भागवत[1] से लिया गया है। काव्य में कुल ४६ श्लोक हैं। सभी श्लोक मन्दाक्रान्ता छन्द में हैं, मात्र अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में है। यद्यपि काव्य बहुत छोटा है, फिर भी कवि की कल्पना कहीं-कहीं बहुत ही मुखरित हो उठी है। काव्य का मुख्य रस विप्रलम्भ शृङ्गार है। काव्य में माधुर्यगुण तथा वैदर्भी रीति का प्रयोग हुआ है। कवि ने दार्शनिक प्रसंगों को लेकर काव्य को और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इस प्रकार साहित्य, भक्ति तथा दर्शन इन तीनों धाराओं का यह काव्य एक अपूर्व संगम है।

पदाङ्कदूतम्[2] कवि भोलानाथ ने इस दूतकाव्य की रचना की है। पूर्व के दूतकाव्य की भांति इस दूतकाव्य में भी पदचिह्न को ही, दूत के रूप में नियुक्त किया गया है। काव्य अभी तक अप्रकाशित ही है। मात्र सूचीपत्र में उल्लिखित है।

पवनदूतम्[3] : पवनदूत एक अति सुन्दर दूतकाव्य है। इसके रचयिता श्री धोयी कवि हैं। धोयी कवि राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। लक्ष्मणसेन के काल-निर्धारण के आधार पर ही धोयी कवि का काल-ज्ञान सम्भव है। ईसवी की १२ वीं शताब्दी राजा लक्ष्मणसेन का समय है। अतः यही समय इस काव्यकार का भी होगा। कवि के नाम में मत-वैभिन्न्य है—जैसे धूमी, धोयी, धोई धोयिक आदि। इनकी रचनओं में मात्र प्रस्तुत काव्य ही प्राप्त होता है।

कवि ने काव्य में एक दक्षिण भारतीय गन्धर्व-कन्या द्वारा राजा लक्ष्मणसेन के पास पवन को दूत बनाकर उसके द्वारा सन्देश-सम्प्रेषण की कथा वर्णित की है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है। कनकनगरी नामक एक गन्धर्व-नगरी में कुवलयवती नाम्नी एक गन्धर्वकन्या थी। दक्षिण-दिग्विजय हेतु गौड़नरेश लक्ष्मणसेन उस नगरी में आये। उसी समय से वह गन्धर्वकन्या राजा लक्ष्मणसेन को देखकर उन पर अनुरक्त हो गयी—

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/३०/२४-२५-२६।

२. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, केटलाग, भाग ७, ग्रन्थसंख्या १४६७; अप्रकाशित।

३. संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता द्वारा सन् १९२६ में प्रकाशित एवम् श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्ट्वा देवं भुवनविजये लक्ष्मणं क्षोणिपालं।
बाला सद्यःकुसुमधनुषः संविधेयीबभूव ॥

गन्धर्व-नगरी से राजा के वापस चले जाने पर वह कन्या विरह से व्याकुल हो उठी। वसन्त काल में दक्षिण दिशा से बहने वाले पवन(वायु) को अपना सन्देशवाहक बनाकर वह लक्ष्मणसेन के पास अपना विरह-सन्देश भेजती है। काव्य की मात्र इतनी ही कथा है।

इस दूतकाव्य में एक सौ (१००) श्लोक हैं। विप्रलम्भ-शृङ्गार का पूर्ण परिपाक इसमें प्राप्त होता है।

पवनदूतम्[1] : इस दूतकाव्य की रचना श्री जी० बी० पद्मनाभ ने की है। इसमें भी पवन को ही दूत रूप में निश्चित किया गया है।

पादपदूतम्[2] : एक स्वतन्त्र कथा पर आधारित यह दूतकाव्य पूर्णतया एक शृङ्गारिक दूतकाव्य है। काव्य के रचनाकार श्री गोपेन्द्रनाथ गोस्वामी जी हैं। नाम से ही प्रतीत होता है कि इस काव्य में पादप अर्थात् वृक्ष को दूत बनाकर सन्देश-सम्प्रेषण किया गया है।

काव्य की कथा कुछ इसप्रकार से मिलती है कि विष्णुप्रिया नाम्नी एक नायिका अपने प्रिय नायक से किसी कारणवश वियुक्त हो जाती है। अपने प्रिय के वियोग में वह नायिका विरह-व्यथा से अत्यन्त सन्तप्त होकर अपने घर के आंगन में लगे एक निम्बतरु को अपना दूत बनाकर उसके द्वारा अपने प्रियतम के पास अपना सन्देश भेजती है। यह दूतकाव्य कुल ३४ श्लोकों में निबद्ध है। इसके रचना-काल के विषय में कोई भी सही जानकारी नहीं प्राप्त है।

पान्थदूतम्[3] : कृष्ण-कथा पर आधारित यह सन्देशकाव्य श्री भोलानाथ जी द्वारा रचा गया है। काव्य में दौत्य-कर्म एक पान्थ अर्थात् पथिक (यात्री) द्वारा सम्पादित करवाया गया है। काव्य की कथा इस प्रकार है कि कोई एक गोपबाला यमुना तट पर गयी, पर हमेशा की भाँति उस दिन वह वहाँ श्रीकृष्ण को न पा सकी, क्योंकि श्रीकृष्ण मथुरा चले गये थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण के विरह में वह गोपी मूर्च्छित हो जाती है। कुछ समय

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० २७५।
२. नवद्वीप कान्ति प्रेस, नवद्वीप से सन् १९३५ में प्रकाशित।
३. हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस पुस्तकालय, लन्दन में संख्या २८९० के रूप में सुरक्षित तथा प्राच्य-वाणी पत्रिका, कलकत्ता, भाग ६ में सन् १९४९ में मूलमात्र प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद होश आने पर वह मथुरा जाते हुए एक पथिक को देखती है। मन की अत्यधिक उद्विग्नतावश वह उस पथिक को ही अपना सन्देश दे, दूत के रूप में उसे श्रीकृष्ण के पास भेजती है।

१०५ श्लोकों में रचे गये इस दूतकाव्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया गया है।

पिकदूतम्[1] : इस काव्य के काव्यकार श्रीरुद्रन्याय पंचानन जी हैं। ढाका विश्वविद्यालय में प्राप्त इस काव्य की एक प्रतिलिपि के अन्त में "इति श्री रुद्रन्याय (? न्याय) पंचानन भट्टाचार्य विरचितं पिकदूतं नामकाव्यं समाप्तम्" ऐसा लिखा है, इसके आधार पर यह प्रमाणित होता है कि पंचानन जी ही इसके रचयिता हैं।

दौत्य-कर्म एक पिक अर्थात् कोयल के द्वारा सम्पादित है, इसलिए इस काव्य का नामकरण पिकदूत किया गया है। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन से मथुरा चले आते हैं, तब उनके विरह में व्याकुल होकर श्री राधिका जी एक पिक को अपना दूत बनाकर उसी के माध्यम से अपना विरह-सन्देश श्रीकृष्ण तक पहुँचाती हैं। यही कथा काव्य में वर्णित है। काव्य में कुल ३१ श्लोक हैं।

पिकदूतम्[2] : यह दूतकाव्य अम्बिकाचरणदेव शर्मा द्वारा प्रणीत है। काव्य में सन्देश-हारक का कार्य पिक द्वारा ही सम्पादित करवाया गया है। काव्य का पूर्ण अंश उपलब्ध भी नहीं है। कवि अम्बिकाचरण उपेन्द्र-स्वामी के शिष्य थे। काव्य में श्रीकृष्ण की कथा वर्णित है। कृष्ण के विरह में कोई गोपकान्ता अति व्यथित मन से बैठी है, तभी उसे कोयल की मीठी बोली सुनाई पड़ती है, इससे उसका मन कुछ प्रसन्न हो जाता है और वह उसके द्वारा अपने सुमधुर सन्देश को कृष्ण के पास पहुँचाती है। इस प्रकार काव्य अधूरा होते हुए भी बहुत ही सुन्दर है।

पिकदूतम्[3] : इस काव्य के रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं

---

१. श्री अनन्तलाल ठाकुर द्वारा प्राच्य वाणी पत्रिका, कलकत्ता के द्वितीय भाग में सन् १९४५ में प्रकाशित।

२. प्राच्य वाणी मन्दिर, कलकत्ता में काव्य के कुछ अंश उपलब्ध हैं; अप्रकाशित।

३. श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती, कलकत्ता के व्यक्तिगत पुस्तकालय में पाण्डुलिपि उपलब्ध है; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, फिर भी काव्य अत्युत्तम है। पिक को ही दूत नियुक्त कर इस काव्य को भी रचना की गयी है।

पिकसन्देश[1] : श्री दधीचि ब्रह्मदेव शर्मा द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। यह काव्य कुछ राष्ट्रीय भावना से प्रेरित प्रतीत होता है। इसमें तत्कालीन भारत की शोचनीय अवस्था का वर्णन किया गया है। काव्य का नामकरण सन्देश-हारक के आधार पर न होकर सन्देश-सम्प्रेषक के आधार पर किया गया है। काव्य में एक कोयल ने, कवि के पास, एक मधुमक्खी को भारत की तत्कालीन विचारणीय दशा का सन्देश देकर भेजा है। अपने रूप में यह दूतकाव्य अद्‌भुत ही है।

पिकसन्देश[2] : इस काव्य के रचनाकार श्री रंगनाथाचार्य जी हैं। इस काव्य में भी एक पिक को दूत के रूप में नियुक्त कर उसके द्वारा सन्देश कथन किया गया है। काव्य प्रकाशित है।

पिकसन्देश[3] : तिरुपति निवासी श्री निवासाचार्य के पुत्र कोच नरसिंहाचार्य इस दूतकाव्य के रचयिता हैं। यह दूतकाव्य भी प्रकाशित हो चुका है।

प्लवङ्गदूतम्[4] : संस्कृत दूतकाव्य-परम्परा का यह अत्याधुनिक दूतकाव्य है। इसके रचयिता प्रो० वनेश्वर पाठक हैं, जो राँची विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर अधिष्ठित हैं। इस काव्य में एक प्लवङ्ग (बन्दर) के द्वारा दौत्य-कर्म सम्पादित किया गया है। इसमें दो निःश्वास हैं—पूर्व-निःश्वास और उत्तर-निःश्वास। पूर्व-निःश्वास की कथा इस प्रकार है—

कोई भारतीय व्यक्ति नौकरी करने के लिए अपनी पत्नी के साथ पेशावर (सम्प्रति पाकिस्तान में स्थित) जाता है। वहाँ वह एक सरकारी नौकरी करने लगता है। पेशावर नगर के निकट ही जावरोद गाँव में उसका छोटा सा सुन्दर भवन था, जिसकी दीवारों पर राम-नाम अंकित था। वह व्यक्ति श्रीराम का भक्त था। किसी सरकारी कार्यवश वह काशी (वाराणसी) आता है और किसी धर्मशाला में रहकर अपना कार्य करने लगता है। इसी बीच भारत-पाकिस्तान का युद्ध छिड़ जाता है। ऐसी स्थिति में वह प्रवासी पाकिस्तान लौटने में असमर्थ होकर पत्नी-वियोग

१. झालरापाटन राजकीय सरस्वती भवन द्वारा प्रकाशित।

२. श्रीरंगम् से प्रकाशित।

३. तिरुपति से प्रकाशित।

४. सुबोध ग्रन्थमाला कार्यालय, राँची द्वारा प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दिनों को अति कष्ट से व्यतीत करने लगता है। उसे दूर देश में स्थित अपनी पत्नी की चिन्ता सताती है। चिन्ता से व्यथित वह भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में आता है और उनसे अपने कष्टों के निवारणार्थ विनती करता है। वहाँ वह मण्डप में भक्तों के साथ श्रीरामचन्द्र की कथा सुनने लगता है। उस कथा-प्रसङ्ग में जब राम द्वारा सीता के पास हनुमान से भेजे गये सन्देश की बात वह सुनता है, तो उसे भी अपनी पत्नी का स्मरण हो आता है। वह उसके स्मरण में ध्यानमग्न हो जाता है। आँखें खुलने पर वह अपने सामने एक प्लवङ्ग (वानर) को देखता है। उसने बड़े विश्वास से उस प्लवङ्ग का सत्कार किया तथा उससे अपनी प्रिया के पास सन्देश पहुँचाने की प्रार्थना की। इसके पश्चात् वह प्लवङ्ग से उसके गन्तव्य-मार्ग को भी बताता है।

प्लवङ्ग को ज्ञानवापी से उछलकर वाराणसी कैण्ट स्टेशन जाना है। वहाँ से सीधे पश्चिम न जाकर विन्ध्याचल निवासिनी दुर्गा देवी के दर्शनार्थ मुगलसराय होते हुए उसे मिर्जापुर जाना है। वहाँ दर्शन कर प्रयाग, आगरा तथा मथुरा होते हुए उसे दिल्ली पहुँचना है। दिल्ली में उसे प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का दर्शन कर और स्वीश (स्वीटजरलैण्ड) दूतावास[1] से पाकिस्तान जाने की सहायता प्राप्त कर अम्बाला, लुधियाना, भाखरा बाँध, जालन्धर, अमृतसर, लाहौर, रावलपिण्डी और पेशावर होते हुए जावरोद पहुँचना है। वहाँ पहुँचकर उसे उसकी पत्नी का पता लगाना है।

द्वितीय-निःश्वास के प्रारम्भ में प्रवासी अपनी पत्नी के विरही रूप तथा उसकी मनोदशा का मार्मिक वर्णन करता है। तत्पश्चात् वह प्लवङ्ग से अपनी प्रिया को अपना मार्मिक सन्देश सुनाने का अनुरोध करता है। वह प्लवङ्ग उस प्रवासी की प्रार्थना स्वीकार कर उसकी पत्नी का पता लगाने के लिए पाकिस्तान जाने को तैयार हो जाता है। तभी रामकथा समाप्त हो जाती है और भक्तों के उठने से वह प्लवङ्ग वहाँ से भाग जाता है। भक्तों की जयकार सुन और सामने प्लवङ्ग को न देख उस प्रवासी का ध्यान टूटता है। वह अत्यन्त खिन्न मन से अपने स्थान पर वापस आ जाता है। उसकी विकलता बढ़ती ही जाती है। अतः अब वह अपने मन के भावों को संस्कृत-पद्यों में निबद्ध कर उन्हें अपनी

१. युद्ध काल में स्वीश दूतावास ही दोनों देशों के लोगों के प्रत्यावर्तन (आने-जाने) का कार्य करता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्नी के नाम से दिल्ली मन्त्रणालय में भेज देता है। उसके इस पत्र से पुनर्वासमन्त्री को जब उसकी स्थिति मालूम होती है तो वे प्रवासी की पत्नी का पता लगाने को तत्पर हो जाते हैं। तभी दोनों देशों के लोगों का अपने-अपने देश में प्रत्यावर्तन होता है। प्रवासी तथा उसकी पत्नी अपने भारत देश में रहना स्वीकार करते हैं, इसीलिए भारत सरकार उसकी पत्नी को काशी पहुँचा देती है। अपनी पत्नी को काशी में ही पाकर वह प्रवासी विरह के क्लेश को भूल कर हर्ष का अनुभव करता है।

काव्य के पूर्व-निःश्वास में ८० तथा उत्तर-निःश्वास में ३४ श्लोक हैं। काव्य अतीव रोचक है।

मेघसन्देशविमर्श[1] : कृष्णमाचार्य द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। कालिदास के मेघदूत का परवर्ती काव्य-साहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा, प्रस्तुत काव्य इस प्रभाव का स्पष्ट परिचायक है।

बुद्धिसन्देश[2] : यह एक आधुनिक अप्रकाशित रचना है। इसके रचयिता श्री सुब्रह्मण्यम् सूरि जी हैं। इस दूतकाव्य में बुद्धि द्वारा सन्देश सम्प्रेषित किया गया है।

भक्तिदूतम्[3] : मात्र शृङ्गारिक काव्य के रूप में यह काव्य रचा गया है। काव्य के रचनाकार श्री कालीचरण जी हैं। काव्य का कथानक भी राम या कृष्ण भक्ति पर आधारित न होकर स्वयं काव्यकार के ही जीवन से सम्बन्धित है। कवि कालीचरण की प्रियतमा मुक्ति अपने प्रियतम से विमुक्त थी। इसीलिए मुक्ति के प्रति कवि ने भक्ति-दूती मुख से अपना सन्देश भेजा है। काव्य में कुल २३ श्लोक हैं। इस प्रकार अतिलघु होने पर भी काव्य बहुत सुन्दर है।

भ्रमरदूतम्[4] : राम-भक्ति पर आधारित यह दूतकाव्य श्री रुद्रन्याय वाचस्पति द्वारा रचित है। दौत्य-कर्म एक भ्रमर द्वारा सम्पादित किया गया है। अभिज्ञान लेकर हनुमान् जी द्वारा वापस आकर श्रीराम को सीता का सन्देश देने पर, श्रीराम सीता के वियोग में व्याकुल होकर पर्वत-कुञ्ज में भ्रमण कर रहे थे, वहीं उनकी दृष्टि एक भ्रमर पर पड़ती

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, पृ० ९०२।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० ३८०, पैरा ३५२।

३. श्री आर० एल० मित्र के संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के भाग ३, संख्या १०५१, पृ० २७ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

४. डॉ० यतीन्द्र विमल चौधरी द्वारा सन् १९४० में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अति विरह-भावना से विकल होकर श्रीराम उस भ्रमर को ही अपना दूत बनाकर उसके माध्यम से सीता के पास अपना सन्देश भेजते हैं। यही कथा इस दूतकाव्य में वर्णित है। काव्य में कुल मिलाकर १२५ श्लोक मिलते हैं। उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार भी स्फुट रूप से आते हैं। सारांश में यह काव्य संस्कृत-साहित्य का एक चिरप्रसिद्ध काव्य है।

भ्रमरसन्देश[1] : दक्षिण भारत, मद्रास के कवि श्री महालिंग शास्त्री द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। काव्य की कथा इन्द्रदेव से सम्बन्धित है। काव्य में देवराज इन्द्र द्वारा भ्रमर को दूत बनाकर इन्द्राणी के पास अपना विरह-सन्देश भेजा गया है।

भृंगदूतम्[2] : प्रस्तुत दूतकाव्य के रचयिता श्रीकृष्णदेव जी हैं। जिनका काल विक्रम संवत् को १८वीं शती का प्रथम भाग निश्चित किया गया है। कृष्ण-कथा से ही काव्य की कथा गृहीत है। श्रीकृष्ण के विरह में अति व्याकुल एक गोपी एक दिन सूर्योदय के समय गूँजते हुए एक भ्रमर को ही अपना दूत बनाकर उसके द्वारा अपना सन्देश श्रीकृष्ण के पास भेजती है।

यद्यपि मेघदूत के अनुकरण पर ही इस काव्य की भी रचना हुई है, फिर भी इस काव्य में मौलिकता कम नहीं है।

भृंगसन्देश[3] : स्वतन्त्र कथा पर आधारित प्रस्तुत दूतकाव्य, श्री वासुदेव कवि की मात्र शृङ्गारिक रचना है। इसमें दौत्य-कर्म भ्रमर द्वारा सम्पादित है। काव्य में प्रिया-वियुक्त नायक ने अपनी प्राणप्रिया नायिका के पास भौंरे के माध्यम से अपना सन्देश भेजा है। इस काव्य में कुल १९२ श्लोक हैं। १८ वीं शताब्दी में कवि ने काव्य को रचा है।

भृंगसन्देश[4] : श्री गंगानन्द कवि द्वारा प्रणीत यह अपने नाम का दूसरा दूतकाव्य है। यह काव्य १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा गया है।

---

१. साहित्य चन्द्रशाला, तंजौर से सन् १९५४ में प्रकाशित।

२. नागपुर विश्वविद्यालय पत्रिका, संख्या ३, दिसम्बर, सन् १९३७ में प्रकाशित।

३. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से संख्या १२८ के रूप में संवत् १९३७ में प्रकाशित।

४. औफ्रेक्ट के कैटालोगस कैटालोगोरम, भाग २, संख्या ३० पर उल्लिखित; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य अप्रकाशित है तथा इसके सम्बन्ध में अन्य कोई सूचना नहीं मिलती है।

भृंगसन्देश[1] : इस दूतकाव्य की कर्त्री श्री पेरुम्बुदूर के प्रतिवादि भयंकर वेंकटाचार्य की धर्मपत्नी श्रीमती त्रिवेणी जी हैं। काव्य अप्रकाशित ही है। इसका रचनाकाल संवत् १८४० से १८८३ के मध्य का है।

मधुकरदूतम्[2] : चक्रवर्ति श्री राजगोपाल द्वारा विरचित यह दूतकाव्य स्वतन्त्र कथा पर आधारित है। कवि सेण्ट्रल कालेज, बंगलौर में सन् १९२२ से १९३४ तक संस्कृत-विभागाध्यक्ष रहा है।

मधुरोष्ठसन्देश[3] : इस दूतकाव्य का हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची में मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है। काव्य के काव्यकार का नाम भी अज्ञात है। पर इसके शीर्षक से स्पष्ट होता है कि इसमें नायक-नायिका के प्रति दूत-सम्प्रेषण का माध्यम कोई सुन्दर मधुर ओष्ठ रहा है।

मनोदूतम्[4] : इस दूतकाव्य के रचनाकार श्री विष्णुदास जी हैं। कवि ने वसन्ततिलका छन्द में इस काव्य की रचना की है। इस दूतकाव्य का दूत एवं भेजा जाने वाला सन्देश दोनों ही पार्थिव न होकर अपार्थिव हैं। इसमें विष्णुदास नामक एक व्यक्ति ने अपने द्वारा किये गये पापों एवं उनके परिणामस्वरूप होने वाले भावी सैकड़ों दुःखों का विचार कर अपने मन को ही दूत बना लिया और फिर उसे ही भगवान् के पास भेजा है। काव्य बड़ा ही विचित्र है। इस काव्य में कुल एक सौ एक श्लोक हैं। कवि ने सरलता एवम् अति सरसतापूर्वक काव्य का निर्माण किया है। शृङ्गारिक पक्ष भी अति सुन्दर है।

मनोदूतम्[5] : यह दूतकाव्य श्रीराम शर्मा द्वारा रचित है। सम्पूर्ण

---

१. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

२. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

३. ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर का संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, ग्रन्थसंख्या २५१ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

४. संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता द्वारा सन् १९३७ में प्रकाशित तथा श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित।

५. बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता में ग्रन्थ-संख्या १२८२ के रूप में पाण्डुलिपि उपलब्ध तथा "हृदयदूत" के साथ प्रकाशित, प्रकाशक—चुन्नीलाल बुकसेलर, बड़ामन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य शिखरिणी छन्द में निबद्ध है। यह दूतकाव्य, सन्देश पाने वाले एवम् भेजने वाली की उक्ति-प्रोक्ति, रूप में प्राप्त होता है। विषय-विभाग हेतु परिच्छेद शब्द का प्रयोग मिलता है। काव्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द भी प्राप्त है। कवि ने काव्य की रचना भागवत् तथा पुराणों की कथा के आधार पर की है। इस प्रकार प्रस्तुत दूतकाव्य भक्ति रस पर आधारित एक सफल दूतकाव्य है।

मनोदूतम्[1] : कृष्णकथा पर आधारित यह दूतकाव्य श्री तैलङ्ग ब्रजनाथ द्वारा रचित है। इसका रचनाकाल १७ वीं शताब्दी का है। मन को ही इस दूतकाव्य में भी दूत-रूप में निरूपित किया गया है। यह दूतकाव्य कृष्ण-कथा पर ही आधारित है। जब कौरव-सभा में दुःशासन द्वारा द्रोपदी का चीर-हरण किया जा रहा था, तब उस समय द्रोपदी ने अपनी लाज बचाने हेतु श्रीकृष्ण भगवान् का स्मरण कर अपने मन को ही दूत रूप में निश्चित कर उसी के माध्यम से अपनी विनती श्रीकृष्ण के पास भेजा। कथा-प्रसंग सरसता एवं कलात्मकता के साथ वर्णित है।

मनोदूतम्[2] : किसी अज्ञातनाम कवि द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। सामान्यतः इसमें दार्शनिक तत्त्व अधिक समाविष्ट हैं, क्योंकि काव्य में आत्मा और जीव का सम्बन्ध दिखलाया गया है।

मनोदूतम्[3] : यह दूतकाव्य भट्ट हरिहर के हृदयदूतम् के साथ प्रकाशित हो चुका है। इस काव्य की रचना इन्दिरेश भट्ट ने की है।

मनोदूतम्[4] : विक्रम संवत् १९६३ में श्री भगवद्दत्त नामक कवि ने मात्र १६-१७ वर्ष की लघुतर वय में ही इस दूतकाव्य की रचना की है। इसमें ११४ श्लोक हैं। यह काव्य कवि की कवित्वशक्ति व विस्मयकारक मेधा का स्पष्ट परिचायक है।

मयूखदूतम्[5] : इस दूतकाव्य के रचयिता मारवाड़ी कालेज, राँची के संस्कृत के विभागाध्यक्ष प्रो० रामाशीष पाण्डेय जी हैं। यह कृति भी दूत-

---

१. निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला, त्रयोदश पुष्प में प्रकाशित।

२. रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय, काश्मीर के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूची-पत्र, पृ० १७० और २८७; अप्रकाशित।

३. चुन्नीलाल बुकसेलर, बड़ा मन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई से प्रकाशित।

४. जैन सिद्धान्त भास्कर, (१९३६ ई०) भाग ३, किरण १, पृ० ३६; अप्रकाशित।

५. श्याम प्रकाशन, नालन्दा (बिहार) से ई० १९७४ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य-परम्परा की अत्याधुनिक कृति है। काव्य में १११ मन्दाक्रान्ता श्लोक हैं। इस दूतकाव्य में एक अनुसन्धाता छात्र ने इंग्लैण्ड में अपनी प्रेयसी के पास मयूख (रवि-किरण) को दूत के रूप में प्रेषित किया है। इस दूतकाव्य में पटना से इंग्लैण्ड तक के महत्त्वपूर्ण स्थलों का वर्णन हुआ है।

मयूरसन्देश[1] : श्री रंगाचार्य जी द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। इस काव्य में दूत-सम्प्रेषण का माध्यम मयूर को बनाया गया है। राम या कृष्ण-कथा पर आधारित न होकर काव्य की कथा स्वतन्त्र है।

मयूरसन्देश[2] : इस द्वितीय मयूरसन्देश नामक दूतकाव्य के रचनाकार श्रीनिवासाचार्य जी हैं। एक स्वतन्त्र कथा को लेकर इस काव्य की भी रचना की गयी है। काव्य बहुत ही सुन्दर है।

मयूरसन्देश[3] : किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित इस दूतकाव्य का ग्रन्थभण्डारों की सूचियों में मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है। एक स्वतन्त्र कथा पर ही यह दूतकाव्य भी आधारित है।

मयूरसन्देश[4] : उदय कवि द्वारा रचित यह एक महत्त्वपूर्ण दूतकाव्य है। मेघदूत के समान ही यह काव्य पूर्व तथा उत्तर दो भागों मे विभक्त है। १०७ एवं ९२ कुल दोनों भागों में श्लोक हैं। प्रथम श्लोक मालिनी तथा शेष सभी मन्दाक्रान्ता छन्द पर आधारित हैं। मालबार के राजा श्रीकण्ठ का राजकुमार अपनी रानी मारचेमन्तिका के साथ प्रासाद की छत पर विहार कर रहा था। कोई एक विद्याधर भूल से उन दोनों को शिव-पार्वती समझ बैठा, जिससे राजकुमार एवं उसकी पत्नी दोनों ही विद्याधर की उस भूल पर हँस पड़े। इस पर कुपित होकर उस विद्याधर ने उन दोनों को एक मास के लिए वियुक्त रहने का शाप दे दिया। इस प्रकार एक मास का वियोग उस दम्पति को व्याकुल करने लगा। तभी वह राजकुमार एक मयूर को देखता है और उसको दूत बनाकर अपनी प्रेयसी के पास उसके द्वारा अपना सन्देश भेजता है।

---

१. अड्यार पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र, भाग २, संख्या ८ द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

२. मद्रास से प्रकाशित।

३. ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास के हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूचीपत्र के भाग ४ में ग्रन्थ-संख्या ४२९८ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

४. डॉ० सी० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित तथा ओ० बी० ए० पूना से सन् १९४४ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालिदास का अनुकरण करने पर भी कवि ने अपनी उत्कृष्ट मौलिक प्रतिभा का स्थान-स्थान पर काव्य में परिचय दिया है। दक्षिण-भारत के संस्कृत सन्देशकाव्यों में इस काव्य का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टि से प्रथम स्थान है।

मानससन्देश[1] : अपने अन्तःमन को दूत बनाकर इस दूतकाव्य में सन्देश-सम्प्रेषण सम्पादित हुआ है। काव्य के काव्यकार श्री वीर राघवाचार्य जी हैं। जिनका काल सन् १८५५ से १९२० तक का है। यह एक आधुनिक दूतकाव्य के रूप में देखा जाता है।

मानससन्देश[2] : सन् १८५९ से १९१९ ई० के बीच में इस दूतकाव्य की श्री लक्ष्मण सूरि जी ने रचना की है। इस दूतकाव्य के रचनाकार पचयप्पा कालेज, मद्रास में संस्कृत के प्रोफेसर थे। इनके अनेक ग्रन्थ मद्रास से मुद्रित भी हो चुके हैं।

मारुत्सन्देश[3] : किसी एक अज्ञातनाम कवि द्वारा रचित इस दूतकाव्य में मारुत् अर्थात् वायु द्वारा सन्देश-सम्प्रेषण सम्पन्न करवाया गया है। काव्य प्रकाशित नहीं हो पाया है।

मित्रदूतम् : दूतकाव्य-परम्परा के सबसे आधुनिक दूतकाव्य के रूप में यह मित्रदूतम् दूतकाव्य प्राप्त होता है। इस नवीन दूतकाव्य के रचनाकार राँची विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० दिनेशचन्द्र पाण्डेय हैं।

मेघदूत से ही प्रेरणा लेकर इस नवीन दूतकाव्य की रचना हुई है। राँची विश्वविद्यालय का एक छात्र, अपनी एक सहपाठिनी चारुदेवी के प्रेमपाश में फँस जाने के कारण अपने अध्ययन से विमुख हो गया। जिसके कारण वह छात्र विश्वविद्यालय से बहिष्कृत कर दिया गया। वह छात्र निष्कासित हो जाने पर अपने छात्रावास के निकट ही एक मन्दिर में रहने लगा। उसका अपनी प्रिया से वियोग हो चुका था। वह छात्र अपने दिल को बहलाने के लिए उसी स्थान पर जाकर भटकता रहता था, जहाँ कभी पहले एक साथ वे दोनों प्यार में भटका करते थे। एक बार वह छात्र

---

१. ओरियण्टल हस्तलिखित पुस्तकालय, मद्रास के ग्रन्थ-संख्या २९६४ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

२. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

३. वही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहीं कल्पनालोक में विचरण करते-करते अपनी प्रेयसी के प्यार में मग्न हो गया तथा ध्यान टूटने पर अपने एक मित्र को सामने देखकर वह उसी के द्वारा अपना सन्देश अपनी प्रिया चारुदेवी के पास भेजता है।

मार्ग-वर्णन भी आधुनिक है। उसका सन्देश अति शीघ्र पहुँचना है, अतः अपने मित्र से कहता है कि वह रेल से न जाकर वायुयान से जाकर उसकी प्रिया को उसका सन्देश दे। क्योंकि उसकी प्रिया तो परीक्षा उत्तीर्ण कर राँची से काश्मीर चली गयी थी। अतः राँची से काश्मीर तक का यात्रा-वर्णन काव्य में प्राप्त होता है।

काव्य में नवीन-नवीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। व्याकरण से सम्बन्धित कहीं भी त्रुटि नहीं मिलती है। नैतिक तथा आध्यात्मिक उपदेश भी काव्य में मिलते हैं। इस प्रकार समग्र काव्य ९७ सुन्दर श्लोकों में निबद्ध एक अत्याधुनिक शृङ्गारिक दूतकाव्य है। काव्य में प्रायः मन्दाक्रान्ता एवम् अर्थान्तरन्यास छन्दों का ही प्रयोग मिलता है।

मुद्गरदूतम्[1] : पं० रामगोपाल शास्त्री द्वारा रचित यह दूतकाव्य स्वतन्त्र कथा पर आधारित एक अति मनोरंजक दूतकाव्य है। कवि ने काव्य में मुद्गर अर्थात् गदा को सन्देश दिया है। समाज में फैली तमाम तरह की भ्रष्टताओं तथा बुराइयों को अपने प्रहार से ठोंककर ठीक कर देने की कथा को सन्देश का रूप दिया गया है। काव्य मात्र व्यंग्यपूर्ण है।

मेघदूतम्[2] : शृङ्गार रस के वातावरण में ही परिपुष्ट महाकवि कालिदास द्वारा विरचित इस दूतकाव्य में सन्देश-सम्प्रेषण हेतु धूम, तेज, जल एवं वायु के संयोग से निर्मित मेघ[3] को चुना गया है। काव्य की कथा इस प्रकार से वर्णित है—

कैलाश पर्वत पर अवस्थित अलकापुरी के स्वामी धनपति कुबेर की सेवा में एक यक्ष नियुक्त था। सेवाकार्य में कुछ प्रमाद कर देने के कारण वह यक्ष धनपति कुबेर द्वारा पत्नी से वियुक्त होकर एक वर्ष हेतु देश-निर्वासन का दण्ड प्राप्त करता है। तब वह यक्ष अलकापुरी से निर्वासित हो घूमता-घूमता जनकात्मजा सीता के स्नान से पवित्र जलवाले रामगिरि नामक पर्वत पर पहुँचता है और वहीं रहने लगता है। उस पर्वत पर यक्ष किसी प्रकार आठ माह तो व्यतीत कर लेता है, परन्तु आषाढ मास के

१. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

२. प्रकाशित।

३. धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आते ही उसका विरहातुर हृदय अत्यन्त आकुल हो उठता है। उसे अपनी पत्नी की याद सताने लगती है। वह बेचैन हो उठता है, तभी आकाश में उत्तर दिशा की ओर जाता हुआ एक मेघ उसको दिखलायी पड़ जाता है। उस अप्रत्याशित मेघदर्शन से वह कुछ चिन्तातुर हो उठता है, परन्तु शीघ्र ही बड़े प्रेमभाव से उस मेघ का स्वागत करता है, उसके कुल, शील एवं सामर्थ्य की प्रशंसा करता है। तत्पश्चात् उसको दूत रूप में नियुक्त कर उससे अलका नगरी जाकर अपनी प्रियतमा से अपना कुशल-क्षेमवृत्त भिजवाने का निश्चय करता है। उस समय उस कामार्त यक्ष के मन में ऐसा तनिक भी नहीं आया कि धूम्र, अग्नि, जल, वायु आदि तत्त्वों से निर्मित यह अचेतन मेघ भला मेरा सन्देश मेरी प्रियतमा तक ले भी कैसे जायेगा। यक्ष ने नवविकसित कुटज-पुष्पों से मेघ की पूजा-स्तुति की और तब शुभ निमित्तों, पत्नी के जीवित तथा पतिव्रता बने रहने की आशा एवं कैलाश पर्वत तक हंसों के साथ यात्रा करने के आनन्द से मेघ को यात्रा के लिए प्रोत्साहित करता है तथा रामगिरि पर्वत से अलकापुरी तक के रमणीय मार्ग का अति विस्तृत एवं मनोरम वर्णन करता है।

सर्वप्रथम रामगिरि से उत्तर की ओर मालप्रदेश, वहाँ से कुछ पश्चिम की तरफ मुड़कर फिर उत्तर की ओर चलने पर आम्रकूट पर्वत, विन्ध्याचल की प्रचण्ड चट्टानों में बिखरी नर्मदा का वर्णन कर दशार्ण देश की राजधानी और वेत्रवती नदी के तट पर स्थित विदिशा नगरी का मार्ग यक्ष ने मेघ से बताया है। तदनन्तर यक्ष, वहाँ से नीचैर्गिरि नामक किसी पर्वत पर विश्राम करने के बाद वननदी, निर्विन्ध्या तथा सिन्धु नदियों पर से होकर अवन्ती देश और उज्जयिनी जाने का मेघ से आग्रह करता है।

उज्जयिनी के गगनचुम्बी प्रासादों में विश्राम करने के बाद गन्धवती नदी के सन्निकट भगवान् महाकालेश्वर के मन्दिर में सान्ध्यकालीन आरती के समय कुछ देर रुकने और फिर वहीं रात्रि व्यतीत कर प्रातः आगे बढ़ने का निर्देश यक्ष मेघ से करता है। तत्पश्चात् गम्भीरा नदी में विहार करते हुए देवगिरि पर्वत पर भगवान् कार्तिकेय पर पुष्पवर्षा करते हुए चर्मण्वती नदी तथा दशपुर जाने का निर्देश देता है। दशपुर से आगे बढ़ने का परामर्श देते हुए यक्ष मेघ को ब्रह्मावर्त एवं कुरुक्षेत्र होते हुए सरस्वती नदी जाने और फिर कनखल के समीप गंगा जी के दर्शन करते हुए हिमालय पहुँचने को कहता है। अन्त में हिमालय पर्वत पर शिवजी के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरण-न्यास की परिक्रमा कर क्रौञ्चरन्ध्र में से निकलते हुए उत्तर की ओर ऊपर चलने पर कैलाश पर्वत और वहाँ से अलका नगरी जाने के लिए यक्ष मेघ से कहता है। यक्ष अलका नगरी का वर्णन बहुत कम शब्दों में परन्तु अत्यन्त रमणीयता के साथ एवं कल्पनावैचित्र्य के बाहुल्य के साथ करता है।

इस प्रकार पूर्व मेघ में यक्ष ने रामगिरि से लेकर अलका नगरी तक के मार्ग में पड़ने वाले देश, नदी, पर्वत वन, ग्राम, नगर, उपवन, मंदिर आदि का अत्यन्त रमणीय एवं चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

उत्तर मेघ में यक्ष अपनी अलकापुरी के विलासमय जीवन, वैभव एवं सुन्दरता का उदात्त वर्णन प्रस्तुत करता है। तत्पश्चात् कुबेर के प्रासाद के उत्तर भाग में अवस्थित अपने गृह तथा उसके आसपास के मनोरम दृश्यों का वर्णन कर यक्ष मेघ से गजशावक की भाँति स्वल्प शरीर धारण कर अपने गृहस्थित क्रीडाशैल पर बैठकर अपनी प्रियतमा को देखने की प्रार्थना करता है। इसी प्रसंग में यक्ष अपनी विरहिणी प्रियतमा के विरहभाव पूर्ण अनेकानेक काल्पनिक चित्रों का अंकन करता है। वह मेघ से कहता है कि "जिस समय तू मेरे घर पहुँचेगा, उस समय मेरी प्रियतमा मेरी कुशलकामनानिमित्त देवाराधना कर रही होगी अथवा विरह-व्यथा से दुर्बल मेरे शरीर का अनुमान कर उसी भाव को चित्रित करने वाला मेरा चित्र खींच रही होगी, या पिंजड़े में बैठी हुई मीठी बोली बोलने वाली मैना से पूछ रही होगी—'अरी रसिके! क्या तुझे स्वामी की याद कभी आती है? तुझे तो वे बहुत प्यार करते थे'। या वह मैले कपड़े पहने अपनी गोद में वीणा रखकर मेरे सम्बन्ध में रचे हुए किसी गीत को गा रही होगी और आँसुओं की झड़ी से भीगे हुए वीणा के तारों को पोंछकर पूर्वाभ्यस्त मूर्छना (स्वरलहरी) को बार-बार भूल जाती होगी, या भूमि पर बिखरे फूलों को गिन-गिन कर वह मेरी शाप की अवधि के दिनों को गिनती होगी। वह विरह से अत्यन्त कृश हो गयी होगी। अभ्यंग स्नान न करने से उसके केशों की बुरी दशा हुई होगी। वे केश रूखे हो गये होंगे और कपोलों तक लटक रहे होंगे। वस्त्र और अलंकार का पहनना जिसने छोड़ रखा हो, अत्यन्त दुःख से जो पर्यंक पर लेटी हुई हो, ऐसी मेरी प्रिया को देख तुझे भी उसकी इस दशा पर तरस आयेगा और तू भी नूतन जलकणरूपी अश्रु बहायेगा। उस समय यदि मेरी प्यारी सो गई हो तो एक पहर तक गर्जना न कर उसके जगने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की राह देखना । कारण यह है कि महान् प्रयास से प्राप्त स्वप्नावस्था में वह मेरे गाढ़ालिंगन का आनन्द अनुभव कर रही होगी ।[1]"

तदनन्तर यक्ष मेघ से मध्यरात्रि में सौधवातायन में बैठकर और अपनी जलबिन्दुओं से शीतल वायु द्वारा उसको जगाकर गर्जन रूप वचनों द्वारा अपना सन्देश सुनाने की प्रार्थना करता है। तत्पश्चात् वह अपना सन्देश मेघ से कहता है। अपना सन्देश बताने के पश्चात् यक्ष मेघ से अपनी प्रियतमा के प्रति-सन्देश को लाने की भी प्रार्थना करता है। मेघ के मौन भाव से अपने दूत कार्य के स्वीकृत कर लिये जाने की आशा कर अन्त में यक्ष उस मेघ को आशीर्वाद भी देता है कि मेरा सन्देश-कार्य पूर्ण कर वह स्वेच्छा पूर्वक इतस्ततः घूमता रहे और विद्युत् रूपी अपनी प्रेयसी से कभी भी उसका वियोग न हो।

इस प्रकार अपनी विश्वमोहिनी कथावस्तु के साथ यह दूतकाव्य विश्वविख्यात हो गया, साथ ही दूतकाव्य की परम्परा का सिरमौर भी बन बैठा है। इस दूतकाव्य के श्लोकों की कुल संख्या के बारे में मत-वैभिन्न्य है। बलदेव उपाध्याय के मतानुसार कुल १११ श्लोकों का काव्य है, जबकि काशीनाथ जी कुल १२१ श्लोक मानते हैं। मल्लिनाथ ने श्लोकों की कुल संख्या ११५ बतायी है। इसी प्रकार मेक्डोनल ने ११५ श्लोक कहे हैं और विल्सन ने इस काव्य की श्लोक संख्या ११६ दी है।

प्रकृति का सततस्थायी-शाश्वत् सौन्दर्य, जीवन की भोग-पिपासा एवं विरहपीड़ित मानव के अन्तस्तल में मूर्तरूप होने वाला विद्युत्प्रभ भावना-लोक—यह सभी इस काव्य में साकार से हो उठे हैं। इसीलिए यह एक सच्चे कवि-कलाकार का अनूठा सृजन है और विशद् प्रतिभा का निष्कलुष प्रतिफलन।

मेघदूतम्[2] : विक्रम कवि द्वारा रचित यह दूतकाव्य अभी तक अनुपलब्ध ही है, इसका मात्र उल्लेख ही उपलब्ध होता है।

मेघदूतम्[3] : लक्ष्मणसिंहकृत यह दूतकाव्य केशवोत्सव स्मारक संग्रह की भूमिका के पृष्ठ १६ पर उल्लिखित है।

---

१. कालिदास : प्रो० मिराशी, पृ० १०६।

२. जैनग्रन्थमाला के श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, पत्रिका, पृ० ३३२ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, (१९३६ ई०) भाग ३, किरण १, पृ० ३६; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदौत्यम्[1] : मेघदूत के ही अनुकरण पर इस दूतकाव्य की भी रचना की गयी है। श्रीत्रैलोक्यमोहन गुह इस काव्य के रचनाकार हैं। मेघदूत के ही समान मन्दाक्रान्ता छन्द में ही इस काव्य की भी रचना हुई है। एक यक्ष किसी कारणवश अपनी प्रिया से विरक्त हो एकान्त में जीवन-यापन कर रहा था। प्रिया के वियोग से व्यथित मन वाला वह यक्ष, अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजने का विचार करता है। अपने सामने आकाश में छाये मेघ को देखकर वह उसी को अपना दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास उसे भेजता है।

काव्य में नवीन शब्दों के प्रयोग के साथ मेघदूत के भी पदों का प्रयोग मिलता है। काव्य के कवि ने अपनी काव्य-निपुणता प्रदर्शनार्थ प्रारम्भ में मंगलाचरणस्वरूप एकाक्षर एवं द्वयक्षरात्मक तीन श्लोक दिये हैं। काव्य का सम्पूर्ण अंश नहीं उपलब्ध है, फिर भी काव्य अद्वितीय है।

मेघप्रतिसन्देश[2] : दक्षिण भारत के आधुनिक कालीन कवि श्री मन्दिकल रामशास्त्री द्वारा यह दूतकाव्य रचा गया है। सन् १९२३ ई० के लगभग इन्होंने इस दूतकाव्य की रचना की है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने मेघदूत की कथा को ही पल्लवित किया है। यक्ष के सन्देश को लेकर मेघ अलकापुरी पहुँचता है। वहाँ वह यक्ष की प्रिया को यक्ष का सन्देश सुनाता है। प्रिय के सन्देश को सुनकर उसे विरह-व्यथा के कारण अति वेदना होती है। अतः हाथ के सहारे से किसी प्रकार उठकर धीरे-धीरे वह मेघ से वार्तालाप करती है तथा यक्ष के पास अपना प्रतिसन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है।

इस काव्य में मेघ द्वारा यक्ष के सन्देश को सुनकर उसकी प्रिया मेघ के ही द्वारा यक्ष के पास अपना प्रतिसन्देश भेजती है। अतः इस काव्य का मेघप्रतिसन्देश नाम उचित ही है। काव्य में प्रथम सर्ग में ६८ एवं द्वितीय सर्ग में ९६ श्लोक हैं। मन्दाक्रान्ता छन्द भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह एक सुन्दर दूतकाव्य है।

यक्षमिलनकाव्यम्[3] : संवत् १९वीं शती में रचा गया यह दूतकाव्य महामहोपाध्याय श्री परमेश्वर झा द्वारा प्रणीत है। इन्होंने कर्मकाण्ड,

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण २, पृ० १८; अप्रकाशित।

२. गवर्नमेण्ट प्रेस, मैसूर से सन् १९२३ में प्रकाशित।

३. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, मद्रास के ग्रन्थसंख्या १०३ के रूप में सन् १९३० में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मशास्त्र, नाटक, काव्य, कोष आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ रचे हैं। काव्य के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें यक्ष का उसकी प्रेयसी के साथ मिलन वर्णित है। कथावस्तु मेघदूत की कथावस्तु के आगे की है। इस काव्य में देवोत्थानी एकादशी के बाद यक्ष-यक्षिणी का मिलन होता है। बाद में उन दोनों की प्रणय लीलाएँ वर्णित हैं। काव्य मात्र ३५ श्लोकों का ही है। छन्द मन्दाक्रान्ता ही है। मेघदूत की कथा को पल्लवित कर कवि ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचय दिया है।

यज्ञोल्लास[1] : कृष्णमूर्ति द्वारा रचित यह दूतकाव्य, मेघदूत का परवर्ती काव्य साहित्य पर पड़े प्रभाव का परिचायक है।

रथाङ्गदूतम्[2] : इस दूतकाव्य के काव्यकार का नाम श्री लक्ष्मी-नारायण है। नाम के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि किसी रथ के अङ्ग को दूत निश्चित किया गया है। सूची-पत्र में इस दूतकाव्य का उल्लेख मिलता है तथा मैसूर से प्रकाशित भी हुआ है।

वकदूतम्[3] : इस दूतकाव्य की रचना महामहोपाध्याय अजितनाथ न्यायरत्न ने की है। कुल २५० श्लोकों का यह दूतकाव्य रचा गया है, पर इनमें से २०० श्लोक ही वकदूत से सम्बन्धित हैं और शेष किसी अन्य से सम्बन्धित मालूम पड़ते हैं। काव्य में यह भी पता नहीं चल पाता है कि किसने किसको दूत बनाकर किसके पास भेजा है। अन्य सूत्रों से कुछ तथ्य प्रकट होते हैं, जिनके आधार पर विदित होता है कि काव्य में वक को दूत-सम्प्रेषण हेतु चुना गया है। इसी आधार पर काव्य का नामकरण भी हुआ है। यह भी अनुमान लगता है कि किसी एक प्रिय-वियुक्ता मधुकरी ने अपने प्रियतम मधुकर के अन्वेषणार्थ वक को अपना दूत बनाकर एवं उसे अपना सन्देश देकर भेजा है। दूतकाव्य-परम्परा में यह काव्य बिल्कुल भिन्न ही है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला. पृ० ९०२; अप्रकाशित।

२. मैसूर से प्रकाशित, अद्यार लाइब्रेरी के हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थसूचीपत्र के भाग २, संख्या १६ पर द्रष्टव्य।

३. प्राच्य-वाणी मन्दिर, कलकत्ता में पाण्डुलिपि ग्रन्थ-संग्रह, संख्या १४३ पर द्रष्टव्य। काव्य की मूल प्रति लेखक के सुपुत्र श्री शैलेन्द्रनाथ भट्टाचार्य के पास सुरक्षित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाङ्मण्डनगुणदूतम्[1] : श्री वीरेश्वर द्वारा प्रणीत इस दूतकाव्य में कवि ने अपने सूक्त गुण को दूत बनाकर एक राजा के पास आश्रय प्राप्त करने हेतु भेजा है। काव्य अतीव चमत्कारक है।

वातदूतम्[2] : इस दूतकाव्य के काव्यकार कवि श्री कृष्णनाथ न्याय पंचानन हैं। इस काव्य में वात अर्थात् वायु द्वारा दौत्य-कर्म सम्पादित करवाया है। जब सीताजी रावण द्वारा अपहृत होकर अशोकवाटिका में आती हैं, तब उन्हें श्रीराम का वियोग बहुत सताता है। इसलिए अपने मन को कुछ शान्त करने के उद्देश्य से सीताजी वाटिका में प्रवाहित हो रही वायु (वात) को ही अपना दूत बनाकर, उसके द्वारा अपना सन्देश भेजती हैं।

काव्य पूरे १०० श्लोकों में निबद्ध है। सम्पूर्ण काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में रचा गया है। काव्य की भाषा तथा रचना-शैली बहुत सुन्दर है। काव्य का काल १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

वायुदूतम्[3] : इस दूतकाव्य के कर्ता के विषय में किंचिदपि ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। प्रो० मिराशी ने अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है।

विटदूतम्[4] : इस दूतकाव्य के बारे में भी कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। कवि का नाम भी अज्ञात ही है। काव्य की एक प्रति सुरक्षित है।

विप्रसन्देश[5] : कृष्ण-कथा पर आधारित इस दूतकाव्य की रचना महामहोपाध्याय श्रीलक्ष्मण सूरि ने की है। इसमें रुक्मिणी ने एक वृद्ध विप्र को अपना दूत बनाकर उसके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण के पास अपना विरह-सन्देश भेजा है।

---

१. डा० जे० बी० चौधरी द्वारा कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित।
२. इलिशियस प्रेस, नं० ९ काशी घोष मार्ग, कलकत्ता से सन् १८८६ में प्रकाशित।
३. कालिदास : प्रो० मिराशी, पृ० २५८।
४. अर्ष लाइब्रेरी, विशाखापट्टनम्; अप्रकाशित।
५. पूर्णचन्द्रोदय प्रेस, तंजौर से सन् १९०६ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विप्रसन्देश[1] : क्रैंगनोर निवासी कोचुन्नि तंबिरन ने इस काव्य की रचना की है। बाणायुधचम्पू और गोष्ठीचरित काव्य तथा अनंगविजय और विटराजविजय नामक भाणग्रन्थ भी इन्होंने रचे हैं। विप्रसन्देश में एक वृद्ध विप्र को दूत रूप में नियुक्त कर उसके द्वारा सन्देश सम्प्रेषित किया गया है। काव्य का मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है।

श्येनदूतम्[2] : इस काव्य के रचनाकार श्री नारायण कवि जी हैं। काव्य में श्येन (बाज पक्षी) के माध्यम से सन्देश-सम्प्रेषण सम्पन्न हुआ है। काव्य बहुत ही सुन्दर है।

शिवदूतम्[3] : इस दूतकाव्य के रचनाकार तंजौर मण्डल के अन्तर्गत नटुकाबेरी के निवासी श्री नारायण कवि जी हैं। इन्होंने विभिन्न काव्य तथा गद्यात्मक जीवन-चरित्र भी लिखे हैं। इस दूतकाव्य का भी मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है।

शुकदूतम्[4] : इसके रचयिता श्री यादवचन्द्र हैं। दौत्यकर्म शुक अर्थात् तोता के माध्यम से सम्पादित हुआ है। एक नायिका अपने प्रिय नायक के पास शुक को अपना दूत बनाकर एवं उसे अपना सन्देश देकर भेजती है।

शुकसन्देश[5] : दाक्षिणात्य कवि करिंगमपल्लि नम्बूदरी द्वारा इस दूतकाव्य की रचना हुई है। शुक के ही माध्यम से सन्देश-सम्प्रेषण सम्पादित किया गया है।

शुकसन्देश[6] : श्री रंगाचार्य द्वारा विरचित अपने नाम का यह दूसरा दूतकाव्य है। कथावस्तु स्वतन्त्र रूप से रची गई है। इसमें भी शुक ही दूत के रूप में चुना गया है।

---

१. जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक (१९००) पृ० ७६३ एवम् संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० २५८ पैरा,१८०; अप्रकाशित।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णमाचारियर, पृ० ६६८-९, पैरा ७२७; अप्रकाशित।

३. वही।

४. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण २, पृ० ६४; अप्रकाशित।

५. श्री गुस्टव आपर्ट द्वारा संकलित दक्षिण भारत के निजी पुस्तकालयों के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, मद्रास के ग्रन्थ-संख्या २७२१ और ६२४१ पर द्रष्टव्य।

६. श्री लेविस राइस द्वारा संकलित मैसूर एवं कुर्ग के संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों की सूची, बंगलौर में ग्रन्थ-संख्या २२५० पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुकसन्देश[1] : दूतकाव्य परम्परा में अपने नाम का यह तीसरा दूत-काव्य है। इस काव्य के रचनाकार श्री लक्ष्मीदास जी हैं। इस काव्य की कथा भी स्वतन्त्र ही है। एक प्रेमी ने स्वप्न में अपनी प्रिया के वियोग को देखकर स्वप्न में ही एक शुक को दूत बनाकर भेजा है। पूर्व तथा उत्तर सन्देश के रूप में दो भागों में काव्य विभक्त है, जिनमें क्रमशः ७४ एवं ८९ श्लोक हैं। काव्य-सौष्ठव उतना नहीं चमक सका है, जितना चाहिए था।

शुकसन्देश[2] : वेदान्तदेशिक के पुत्र श्री वरदाचार्य द्वारा रचित इस दूतकाव्य का भी मात्र उल्लेख ही प्राप्त होता है। अनुमानतः इस काव्य में भी शुक ही नायक-नायिका के पारस्परिक सन्देश-सम्प्रेषण का माध्यम होगा।

सिद्धदूतम्[3] : यह दूतकाव्य अवधूत रामयोगी द्वारा रचा गया है। काव्य में मात्र कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति भर की गई है। इस दूतकाव्य का भी दूतकाव्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सुभगसन्देश[4] : इस सन्देशकाव्य के रचयिता श्री नारायण कवि जी हैं। कवि जयसिंहनाद के राजा रामवर्मा की सभा में कवि था। अतः इस काव्य-रचना का समय १५४१–१५४७ ई० होगा। काव्य प्रकाशित नहीं है फिर भी पूर्ण अंश में उपलब्ध है, जिनमें कुल १३० श्लोक हैं।

सुरभिसन्देश[5] : तिरुपति के आधुनिक प्रसिद्ध कवि श्री वीरवल्लि विजयराघवाचार्य जी द्वारा रचित यह दूतकाव्य अति सुन्दर है। काव्य में आधुनिक नगरों का सूक्ष्म वर्णन है।

हनुमद्दूतम्[6] : इस दूतकाव्य के रचनाकार आशुकवि श्री नित्यानन्द शास्त्री जी हैं। काव्य १९वीं शती की रचना है। इस काव्य में मेघदूत के प्रत्येक पद की चतुर्थ पङ्क्ति की समस्यापूर्ति की गई है। समस्यापूर्ति के

---

१. श्री पी० एस० अनन्त नारायण शास्त्री द्वारा प्रणीत टिप्पणी सहित मंगलोदयम् प्रेस, तंजौर से प्रकाशित।

२. गुरु परम्परा प्रभाव, मैसूर (१९८) एवं संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

३. पाटन से सन् १९१७ में प्रकाशित।

४. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, (१८८४) पृ० ४४९ पर द्रष्टव्य; अप्रकाशित।

५ संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

६. खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा विक्रम संवत् १९८५ में बम्बई से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण मन्दाक्रान्ता छन्द भी प्रयुक्त है। पूर्व एवं उत्तर भाग में कुल क्रमशः ६८ एवं ५८ श्लोक हैं।

श्रीराम द्वारा हनुमान को सीता की खोज में भेजने की घटना के ही आधार पर यह दूतकाव्य रचा गया है। समस्यापूर्ति के साथ-साथ कवि ने मूल श्लोक के भाव को भी सुरक्षित रखा है। मेघदूत की प्रेरणा लेकर भी कवि ने अपने श्लोकों में कुछ नवीनता समाविष्ट करने की कोशिश की है।

हनुमत्सन्देश[1] : इस काव्य के रचयिता श्री विज्ञसूरि वीरराघवाचार्य जी हैं, जो पश्चिम गोदावरी जिले के तानुकु तालुके में दोन्तावरम् नगर के निवासी थे। इस काव्य के अतिरिक्त कवि ने रामानुजश्लोकचर्या, मानससन्देश, पानक नरसिंह स्तोत्र, रघुवीर-गद्य व्याख्या और चतुःश्लोकी की व्याख्या लिखी है। इनका समय ई० सन् १८५५ और १९२० के मध्य का है। यह काव्य भी रामकथा पर ही आधारित प्रतीत होता है, जिसमें दौत्यकर्म का सम्पादन हनुमान द्वारा किया गया होगा।

हरिणसन्देश[2] : आचार्य वेदान्तदेशिक के सुपुत्र श्रीवरदाचार्यजी द्वारा यह दूतकाव्य प्रणीत है। हरिण इस दूतकाव्य में दूत का कार्य सम्पादित करता है। काव्य का मात्र उल्लेख ही मिलता है।

हारीतदूतम्[3] : इस दूतकाव्य के विषय में सभी कुछ अज्ञात ही है। प्रो० मिराशी ने अपनी पुस्तक में इस दूतकाव्य का उल्लेख अवश्य किया है।

हंसदूतम्[4] : श्री रूपगोस्वामी जी प्रस्तुत दूतकाव्य के रचनाकार हैं। इस काव्य में कुल १४२ श्लोक हैं, जो कि शिखरिणी छन्द में रचित हैं। विद्वानों का मत है कि यह दूतकाव्य मध्ययुगीन दूतकाव्यों में सर्वप्राचीन है, जिसकी कथा श्रीकृष्ण से सम्बद्ध है।

मेघदूत के ही समान इस काव्य में भी मार्ग-वर्णन मिलता है। कथा-वस्तु इस प्रकार है कि कंस के अत्याचार से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण

---

१. संस्कृत के सन्देशकाव्य : रामकुमार आचार्य, परिशिष्ट २; अप्रकाशित।

२. मैसूर की गुरुपरम्परा में उल्लिखित; अप्रकाशित।

३. कालिदास : प्रो० मिराशी, पृ० २५९; अप्रकाशित।

४. श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उनके काव्य-संग्रह में प्रथम भाग के तृतीय संस्करण में सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृन्दावन से मथुरा आ जाते हैं। कृष्ण के चले जाने पर राधा अपनी सखियों के साथ यमुना के किनारे आती हैं। अति विरह से व्याकुल कृष्ण को याद करती-करती वहीं मूर्च्छित हो जाती हैं, यह दशा देखकर ललिता नाम की एक सखी ने यमुना में विचरते एक हंस को देखकर उसी को दूत बना श्रीकृष्ण के पास भेजा। काव्यकला की दृष्टि से यह दूतकाव्य एक पूर्णतया सफल दूतकाव्य है।

हंसदूतम्[1] : इस दूतकाव्य के काव्यकार का नाम श्री रघुनाथ दास जी है। इस दूतकाव्य में भी दूत के रूप में हंस को ही चुना गया है। कथानक संक्षेप में इस प्रकार प्राप्त होता है कि जब श्रीकृष्ण वृन्दावन से मथुरा चले आते हैं, तब उनके वियोग में राधाजी मूर्च्छित हो जाती हैं। उस समय ललिता नाम की उनकी एक सखी वृन्दावन में एक हंस को देखकर उसके माध्यम से राधा की विरह-दशा का सन्देश श्रीकृष्ण के पास भिजवाती है।

काव्य का प्रत्येक वर्णन अति रमणीय है। भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष—इन दोनों ही दृष्टियों से यह काव्य श्रेष्ठ दूतकाव्यों की पंक्ति में रखा जाता है। कुल मिलाकर यह दूतकाव्य अपने रचना-वैशिष्टय हेतु दर्शनीय है।

हंसदूतम्[2] : इस दूतकाव्य की रचना श्री वेंकटेश कवि ने की है। इस काव्य में भी सन्देश-सम्प्रेषण का माध्यम हंस ही रखा गया है। कथा इस प्रकार है कि जब सीताजी रावण द्वारा अपहृत कर ली गयीं, तब श्रीराम अपनी प्राणप्रिया सीता के वियोग में व्याकुल होने लगे। व्याकुलता अधिक होने पर वह अपने विरह-ताप को न संभाल पाकर एक हंस पक्षी को दूत बना उसी के द्वारा अपना विरह-सन्देश सीता के पास भेजते हैं। अति लघु होने पर भी काव्य बहुत सुन्दर है। काव्य का रचना-सौष्ठव भी दर्शनीय ही है।

हंसदूतम्[3] : इस दूतकाव्य के रचियता श्री भट्टवामन जी हैं। हंस ही इस काव्य में भी दूत का माध्यम है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है कि एक शापग्रस्त यक्ष अपनी विरह-विधुरा यक्षिणी के पास एक हंस के

१. बंग साहित्य परिचय : डी० सी० सेन पृ० ८५०; अप्रकाशित।

२. ऑफ्रेक्ट के कैटालोगस कैटालोगरम् के प्रथम भाग पृष्ठ-संख्या ७५३ पर उल्लिखित; अप्रकाशित।

३. डा० जे० बी० चौधरी द्वारा सन् १८८८ में कलकत्ता से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माध्यम से अपना विरह-सन्देश भेजता है। मेघदूत के ही भावों पर आधारित होने के कारण यह काव्य भी बहुत ही सुन्दर बना है।

हंसदूतम्[1] : कवि श्री कवीन्द्राचार्य जी सरस्वती द्वारा यह दूतकाव्य रचित है। कुल ४० श्लोकों का पूर्ण दूतकाव्य है। कथा-प्रसंग किसी प्राचीन ग्रन्थ पर आधारित न होकर स्वतन्त्र रूप से रचा गया है। काव्य में एक विरहिणी नायिका द्वारा अपने प्रिय नायक के पास एक हंस के माध्यम से विरह-संदेश भेजने की कथा वर्णित है। कवि श्री सरस्वतीजी ने अपने काव्य-चातुर्य द्वारा काव्य को अति सुन्दर बना दिया है।

हंससन्देश[2] : रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य, दार्शनिक एवं कवि श्री वेदान्तदेशिक जी इस दूतकाव्य के प्रणेता हैं। रचनाकाल वि० सं० १४वीं शती है। रामायण की कथा पर इस काव्य की कथा आधारित है। सीताजी की खोजकर हनुमानजी वापस आकर श्रीराम को सन्देश देते हैं। रामाचन्द्रजी युद्ध की तैयारी करने के पूर्व सीता को सांत्वना देने हेतु राजहंस को अपना दूत बनाकर लंका भेजते हैं। किसी को सन्देश भेजने का प्रयोजन उसे आश्वासन देना ही होता है। इसीलिए इस काव्य को दो आश्वासों में बाँटा गया है। प्रथम आश्वास में ६० तथा द्वितीय आश्वास में ५१ श्लोक हैं। छन्द भी मन्दाक्रान्ता ही प्रयुक्त है। काव्य का मुख्य रस विप्रलम्भ-शृङ्गार है। मेघ-सन्देश के अनुकरण पर लिखे होने के कारण उसमें कहीं भी समानता नहीं प्रतीत होती है। काव्य में मौलिकता है। राम जैसे धीरोदात्त और इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति को काव्य का नायक बनाकर कवि ने अपने काव्य को विशिष्ट रूप दिया है।

हंससन्देश[3] : काव्य के रचयिता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। काव्य के ही अन्तिम श्लोक[4] से यह अनुमान किया

---

१. श्री ए० सी० बर्नेल, लन्दन द्वारा तंजौर राजमहल के हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ-सूची के पृ० १६३ में उल्लिखित; अप्रकाशित।

२. गवर्नमेण्ट प्रेस, मैसूर से तथा वी० रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास से सन् १९३७ में एक साथ प्रकाशित।

३. त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से ग्रन्थ-संख्या १२९ के रूप में सन् १९३० में प्रकाशित।

४. अन्यं विष्णोः पदमनुपतन् पक्षपातेन हंसः
पूर्णज्योतिः पदयुगजुषः पूर्णसारस्वतस्य।
क्रीडत्येव स्फुटमकलुषे मानसे सज्जनानाम्
मेघेनोच्चैर्निजरसभरं वर्षता घर्षितेऽपि ॥१०२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता है कि काव्य के रचयिता श्री पूर्णसारस्वत जी हैं। काव्य का रचनाकाल १३वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध अनुमानित होता है। काव्य की कथा स्वतन्त्र एवं काल्पनिक ही है। कोई एक स्त्री, किसी महोत्सव में श्रीकृष्ण की विजय-यात्रा को देखकर, उन पर मुग्ध हो जाती है। एक दिन कृष्ण-विरह में चिन्तित वह पुष्पवाटिका पहुँचती है, वहाँ उसने एक राजहंस देखा। उसने उसी हंस को अपना दूत बनाकर अपना सन्देश श्रीकृष्ण के पास भेजा। समग्र काव्य में कुल १०२ श्लोक हैं। छन्द भी मन्दाक्रान्ता ही है। विशुद्ध विप्रलम्भ-शृङ्गार के स्थान पर इस काव्य में दिव्य कृष्णभक्ति का आलोक अधिक मिलता है।

हंससन्देश[1] : इस दूतकाव्य का रचनाकार अज्ञात ही है। कथावस्तु जैसी कोई चीज भी इस काव्य में विशेष नहीं है। मात्र वेदान्त विषय को समझाने हेतु प्रतीक शैली में यह सन्देशकाव्य रचा गया है। एक शिवभक्त शिवभक्ति रूपी अपनी प्रेयसी के सुखद सम्पर्क से अद्वैतानन्द में मग्न था। पूर्व-कर्म के प्रभाव से माया के वशीभूत हो वह अपनी प्रिया शिवभक्ति से एकदा वियुक्त हो जाता है। कुछ दिनोपरान्त वह अपने मानस-हंस को दूत बनाकर शिवलोक में अपनी प्रेयसी शिवभक्ति के पास भेजता है।

विषय की दृष्टि से यह सन्देशकाव्य दार्शनिक परिवेश में रचा गया है। सन्देशकाव्यों की परम्परा में यह काव्य विषय की दृष्टि से एक विशुद्ध नवीन दिशा का निर्देश करता है।

हंससन्देश[2] : इस दूतकाव्य के कर्ता के विषय में सब कुछ अज्ञात ही है। इस काव्य में हंस को दूत के रूप में नियुक्त कर एक वियुक्त प्रेमी अपनी प्रेमिका के पास अपना सन्देश भेजता है।

हृदयदूतम्[3] : कवि श्री भट्टहरिहर जी द्वारा विरचित इस दूतकाव्य में हृदय को दूत बनाकर भेजा गया है। कथा स्वतन्त्र रूप से कल्पित की गयी है। जिसमें एक नायिका अपने प्रिय नायक के पास अपना सन्देश, हृदय को ही दूत के रूप में मानकर उसके द्वारा भेजती है। काव्य अति लघु है, पर चमत्कारपूर्ण है। इंदिरेश भट्ट के मनोदूत के साथ ही यह दूतकाव्य प्रकाशित भी हुआ है।

●

---

१. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, मद्रास के ग्रन्थसंख्या १०३ के रूप में सन् १९३० में प्रकाशित।

२. गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में प्रति उपलब्ध; अप्रकाशित।

३. चुन्नीलाल बुकसेलर, बड़ा मन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि-परिचय

आचार्य मेरुतुङ्ग

संस्कृत-साहित्य में कालिदासीय मेघदूत के अनुकरण पर रचित जैन कवियों के अनेक दूतकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन उपलब्ध जैन दूतकाव्यों में अचलगच्छ के आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरिकृत जैनमेघदूतम् अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस दूतकाव्य में अन्य दूतकाव्यों के समान कवि ने समस्या-पूर्ति नहीं की है, अपितु स्वयं अपनी मौलिक प्रतिभा का स्पष्ट परिचय दिया है। कवि ने एक स्वतन्त्र कथानक को अपनी स्वच्छन्द शैली में मन्दाक्रान्ता वृत्त के आधार पर प्रस्तुत किया है। कालिदासीय मेघदूत का अनुकरण उन्होंने मात्र वृत्त-निर्धारण एवं काव्य-शिल्प-विधान में किया है। मेघ को दूत निर्वाचित करना भी मेघदूत का ही अनुकरण स्पष्ट करता है, फिर भी कवि ने प्रत्यत्नपूर्वक इस काव्य को पूर्णतः स्वतन्त्र ही रखा है। काव्य का स्वतन्त्र कथानक तथा उसकी व्याकरण-निष्ठ भाषा आदि कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा को उजागर करती हैं।

अतः निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि जैनमेघदूतम् काव्य-प्रणेता आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि जी अवश्यमेव तत्कालीन साहित्य-क्षितिज के एक प्रकाशमान् नक्षत्र रहे होंगे।

स्थितिकाल :

जैन साहित्य में मेरुतुङ्ग नामक तीन आचार्य हुए हैं, परन्तु काव्य-प्रणेता के रूप में दो आचार्य ही प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रथम मेरुतुङ्गसूरि जो इन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे, प्रायः नगेन्द्रगच्छ के आचार्य थे। इन्होंने प्रबन्धचिन्तामणि नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ विक्रम संवत् १३६१ में पूर्ण किया[1]। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य कृतियाँ विचारश्रेणी या स्थविरावली

---

१. त्रयोदशस्वब्दशतेषु चेकषष्टयधिकेषु क्रमतो गतेषु।
वैशाखमासस्य च पूर्णिमायां ग्रन्थः समाप्तिंगमितो मितोऽयम् ॥५॥
—प्रबन्धचिन्तामणि : आचार्य मेरुतुङ्ग, ग्रन्थकार प्रशस्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं महापुरुषचरित आदि हैं।[1] अतः प्रथम आचार्य मेरुतुङ्गसूरि का काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी निश्चित होता है। द्वितीय आचार्य मेरुतुङ्ग-सूरि अचलगच्छ के एक विद्वान् आचार्य थे। इन्हीं आचार्य मेरुतुङ्ग ने प्रस्तुत जैनमेघदूतम् काव्य की रचना की है। इनका जन्म विक्रम की पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ विक्रम संवत् १४०३ में हुआ था।[2] यह अचल-गच्छीय आचार्य श्री महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे।

जीवन-चरित :

अचलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्गसूरि जैन साहित्य-क्षितिज के एक अत्यन्त प्रभावक विद्वान् हुए हैं। इनके जीवन-परिचय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री इतस्ततः अभी तक बिखरी हुई है। अतः वास्तविक परिचय प्राप्त न हो सकने के कारण और कवि द्वारा स्वयं अपने प्रति कुछ न लिखने के कारण, मेरुतुङ्ग के वास्तविकतापूर्ण जीवन को प्रकाश में लाना अति कष्टसाध्य सा प्रतीत हो रहा था। परन्तु सद्यःप्राप्त एक रास[3]—जो कि मेरुतुङ्गसूरि के समकालीन किसी कवि ने उनके जीवन-चरित को प्रकाशित करते हुए रचा है—से उनके जीवन-वृत्त पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। कच्छ अंजार वाले शा० सोभचन्द धारणी द्वारा प्रकाशित अचलगच्छीय म्होटी पट्टावली में भी मेरुतुङ्गसूरि का जीवन-वृत्त प्रकाशित हुआ है। अतः इन्हीं सामग्रियों के आधार पर--उनमें वर्णित प्रामाणिक वृत्तान्त के आधार पर ही—यहाँ आचार्य मेरुतुङ्ग का जीवन-परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

मरुभूमि मारवाड़[4] प्रदेश के अन्तर्गत नाणी नामक एक ग्राम में वहोरा वाचारगर एवं उनके भ्राता वहोरा विजयसिंह निवास करते थे। उनमें वहोरा विजयसिंह की पत्नी के वहोरा वयर सिंह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि प्राग्वाट वंश के शृङ्गार के रूप में था। वह पुत्र अत्यन्त विचक्षण बुद्धि वाला, महान् दानी एवं धार्मिक विचार वाला था।

---

१. बाम्बे ब्रान्च रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल, पृ० १४७, १८६७-६८।

२. जैनमेघदूतम्, प्रस्तावना, पृ० १५।

३. "मेरुतुङ्गसूरि रास" नामक रास की नकल कलकत्ते से प्राप्त कर श्री भंवर लाल नाहटा ने उसका सार-संक्षेप "श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति-ग्रन्थ", बम्बई में प्रकाशित किया है।

४. व्याख्यान पद्धति में "थालदेश" ऐसा उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नालदेवी[1] नामक अत्यन्त शीलवती कन्या से उस पुत्र का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। किंचित् कालानन्तर एक बार नालदेवी को महनीय कुक्षि में एक अतीव पुण्यशाली जीव देवलोक से आकर अवतीर्ण हुआ, फलतः उस प्रभावी जीव के प्रभाव से नालदेवी ने स्वप्न में देखा कि सहस्त्रकिरण-पुंज सहित रवि मेरे मुख में प्रविष्ट हो रहा है। तभी चक्रेश्वरी देवी ने तत्काल आकर इस महास्वप्न के प्रभावी फल को नालदेवी से बताया कि तुम्हारी कुक्षि से ज्ञानकिरणयुक्त रवि की भाँति महाप्रतापी, तेजस्वी एवं मुक्तिमार्ग-प्रकाशक एक पुत्र जन्म-ग्रहण करेगा, जो अपरिग्रह भाव से संयम-मार्ग का अनुगमन करता हुआ एक युगप्रधान-योगीश्वर होगा। चक्रेश्वरी देवी के इन वचनों का ध्यानपूर्वक श्रवण कर एवं उसको आदर-सम्मान देती हुई, नालदेवी तबसे धर्मध्यान में अत्यधिक अनुरक्त हो अपने गर्भस्थ शिशु का यथाविधि पालन करने लगीं।

गर्भस्थ शिशु शनैः शनैः वृद्धि प्राप्त करता रहा एवं विक्रम संवत् १४०३ में पंचग्रहों के उच्च स्थान पर चले जाने पर एवं गर्भकाल पूर्ण होने पर माता नालदेवी ने उस पुत्र को जन्म दिया। वहोरा वयरसिंह के कुल-परिवार में हर्षोल्लासपूर्वक खुशी की शहनाईयाँ बज उठीं। हर्षपूर्ण उत्सव के साथ पुत्र का नाम वस्तिगकुमार[2] रखा गया। वस्तिगकुमार चन्द्र की भाँति दिन-प्रतिदिन क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा और उसके जीवन-चरित्र में समस्त सद्गुण निवास करने हेतु स्वतः आने लगे। बालक वस्तिग अभी शैशव की किलकारियाँ भरता हुआ बाल्यावस्था की दहलीज पर अपने पग रख ही रहा था कि उसी बीच नाणी ग्राम में अचलगच्छीय आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि का शुभागमन हो गया। आचार्य श्री महेन्द्रप्रभसूरि के सारगर्भित मुक्तिप्रदायी उपदेशों के श्रवण से अतिमुक्तकुमार की तरह सांसारिक सुखोपभोगों के प्रति आसक्ति-रहित होकर बालक वस्तिग ने मात्र सात वर्ष की अल्पवय में ही माता-पिता की आज्ञा प्राप्तकर विक्रम संवत् १४१० में आचार्य श्री महेन्द्र-प्रभसूरि से दीक्षा ग्रहण कर ली[3]। इस दीक्षा-महोत्सव में वस्तिगकुमार के माता-पिता ने प्रचुर द्रव्य आदि का दान एवं व्यय किया।

---

१. पट्टावली में पत्नी का नाम "नाहुणदेवी" है, "नालदेवी" नाम रास में वर्णित है, अन्यत्र भी।

२. व्याख्यान पद्धति में पुत्र का नाम "वस्तो" है, गच्छ की गूर्जर पट्टावली में "वस्तपाल" नाम दिया गया है।

३. अचलगच्छीय म्होटी पट्टावली में दीक्षा का काल विक्रम संवत् १४१८ दिया हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी दीक्षा-महोत्सव पर ही आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि ने इस नव-दीक्षित मुनिकुमार का नाम "मेरुतुङ्ग" रखा।

एक तो बाल्यावस्था, दूसरे बाल-ब्रह्मचर्य—अतएव इन दोनों के एक साथ संयोग के कारण बालमुनि मेरुतुङ्ग का विद्या-अध्ययन सविधि एवं सुचारु रूप से चलता रहा। इस बाल मुनिवर को एक के पीछे एक कर समस्त सिद्धियाँ स्वयमेव प्राप्त होती गयीं। आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि के सान्निध्य में तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार मुनि मेरुतुङ्ग ने अपनी बुद्धि-विचक्षणता द्वारा संस्कृत, प्राकृत तथा इनसे सम्बद्ध विविध विषयों यथा—व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, ज्योतिष, आगम, वेद एवं पुराण प्रभृति विषयों का यथाविधि ज्ञान अर्जित कर इन समस्त विद्याओं के पारंगत पण्डित बन गए। कालक्रम से उनके चरित्र, ज्ञान एवं क्रियाओं का भी पूर्णतया विकास होता गया और वे शुद्ध-संयम का पालन करते हुए अपनी अमृत-सदृश कल्याणमयी वाणी से सदुपदेश व प्रवचन आदि भी देने लगे।

इस प्रकार अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न मुनि मेरुतुङ्ग को आचार्य पद के सर्वथा योग्य जानकर आचार्य महेन्द्रप्रभसूरिजी ने विक्रम संवत् १४२६ में पाटण नामक स्थान में "सूरि" पद से समलंकृत किया।

इस माङ्गलिक अवसर पर संघपति नरपाल नामक श्रेष्ठी ने एक भव्य-महोत्सव का आयोजन कर विविध प्रकार के दानादि दिये। तब से मुनि श्रीमेरुतुङ्गसूरि की बहुत अधिक ख्याति बढ़ गयी और वे मन्त्र-प्रभावक बन गये। उन्होंने अष्टाङ्ग योग एवं मन्त्राम्नाय आदि में भी पूर्ण महारत प्राप्त कर ली। वे देश-विदेश में इतस्ततः विचरण करते हुए अपने सदुपदेशों व प्रवचनों द्वारा भव्य-जीवों एवं नरेन्द्रादिकों को प्रतिबोध देने लगे। एक बार विचरते-विचरते मेरुतुङ्गसूरि आसाउली नामक नगरी में पधारे। वहाँ यवनराज को प्रतिबोधित कर उसे अहिंसा का मार्मिक सन्देश दिया।

अनेक प्रभावी अवदात :

विक्रम संवत् १४४४ में आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ने लोलाइड नामक नगरी में चातुर्मास व्यतीत किया। उस चातुर्मास-अवधि में मेरुतुङ्गसूरि ने राठौरवंशीय पणगर मेघराज को १०० मनुष्यों के सहित प्रतिबोधित कर धर्मदीक्षा प्रदान की। चातुर्मास-अवधि में एक दिन गुजराताधिपति मुहम्मद सुल्तान अपनी यवनसेना के साथ नगर में आक्रमण करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार से आ गया। सारे नागरिक भयभीत हो गये, तब नागरिकों के भय-निवर्तनार्थ आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ने सवा मन चावल अभिमन्त्रित कर, श्रावकों द्वारा यवन सेना के समक्ष फिकवा दिया, जिनसे शस्त्रधारी घुड़सवार प्रकट होकर मुहम्मद सुल्तान की सेना का नाश करने लगे। इससे सुल्तान घबड़ाया और अन्त में आचार्य श्री से प्रतिबोध प्राप्त कर वापस लौट गया। इस प्रसंग पर लोलाइड संघ ने आचार्य श्री से विनती की कि "आप प्रत्येक वर्ष यहीं चातुर्मास व्यतीत करें"। मेरुतुङ्गसूरि सघ की इस विनती को स्वीकार कर प्रतिवर्ष का चातुर्मास उसी नगर में व्यतीत करने लगे।

एक बार आचार्य मेरुतुङ्गसूरि कायोत्सर्ग-ध्यान में स्थित खड़े थे कि एक विषैले काले सर्प ने उनके पैर में काट लिया। परन्तु सूरिजी दमदन्त, चिलातीपुत्र आदि की भाँति ध्यान में ही स्थिर व अचल रहे। कायोत्सर्ग ध्यान पूर्ण होने पर मन्त्र, तन्त्र आदि प्रयोगों को छोड़कर भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष वे ध्यानस्थ-मुद्रा में बैठ गये और "त्रैलोक्य विजय" नामक महामन्त्र द्वारा प्रभु श्री पार्श्व की स्तुति करने लगे। ध्यान और स्तुति के प्रभाव से सर्प-विष अमृत में परिणत हो गया। प्रातः आचार्य जब व्याख्यान देने के हेतु संघ के समक्ष आये तब संघ में अपार हर्ष की लहर फैल गयी।

लोलाइड नगर के मुख्य-द्वार के पास एक बिल में एक बहुत विशाल-काय भयंकर अजगर साँप रहता था। लोग उस अजगर से बहुत डरते थे। लोगों की विनती पर मुनि श्री मेरुतुङ्गसूरि ने अपने मन्त्र-बल से उस अजगर को नगर से बाहर कर दिया।

तदनन्तर आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि अणहिलपुर पाटण पधारे। यहाँ आने पर "गच्छनायक" पद से सूरि जी को अलंकृत करने के लिए सुमुहूर्त विचार कर नाना प्रकार की तैयारियाँ होने लगीं। पाटण नगर में तोरण, वंदनवारों से सुसज्जित विशाल मण्डप बनाये गये। सम्पूर्ण नगर विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों की स्वर-लहरियों से गुञ्जरित हो उठा। फाल्गुन वदी एकादशी विक्रम संवत् १४४५ के दिन आचार्य श्री महेन्द्रप्रभसूरि जी ने श्री मेरुतुङ्गसूरि को "गच्छनायक" की पदवी देकर सारी अचलगच्छधुरा उनको समर्पित कर दी; साथ ही श्री रत्नशेखर-सूरिजी को उपाचार्य स्थापित किया गया। यह "गच्छनायक-पद-समर्पण-महोत्सव" संघपति नरपाल के सान्निध्य में सानन्द सम्पन्न हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तबसे आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि जी तप-संयम की आराधना करते हुए योगाभ्यास में विशेष रुचि लेने लगे। प्राणायाम, हठयोग, राजयोग आदि यौगिक-क्रियाओं द्वारा वे नियमित रूप से ध्यानावस्थित होने लगे। वे प्रतिदिन कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा को अतिशय निर्मल करने लगे। पाटण में ही एक बार जब वे अपनी शिष्य-मण्डली के साथ विहार कर रहे थे, तभी मार्ग में यवन सैनिक मिल गये और साधुओं को त्रास देकर अपने कब्जे में करने लगे। इस पर आचार्य श्री जी तुरन्त यवनराज के पास पहुँचे। उनके विशाल एवं तेजस्वी ललाट को देखते ही यवनराज विस्मित सा हो गया और उसका हृदय पलट गया। उसने तत्काल सभी साधुओं को मुक्त कर दिया।

इसी प्रकार खम्भात, सायोर व बाडमेर में जब वे विराजमान थे, तब उन नगरों पर शत्रुओं ने हमला कर दिया। परन्तु आचार्य श्रीसूरिजी के ध्यान व प्रभाव के कारण शत्रु पलायित हो उठे।

एक बार आचार्य श्रीसूरिजी आबू पर्वत के जिनालयों का दर्शन कर रहे थे कि सन्ध्या हो गयी। अतः आचार्य श्री को अपनी पगडण्डी वाला मार्ग विस्मृत हो गया और वे किसी विषमस्थान में पहुँच गये। परन्तु तभी विद्युत् की भाँति प्रकाशित किसी देव ने प्रकट होकर उनको मार्ग-दर्शन करवा दिया।

चक्रेश्वरी भगवती विहितप्रसादाः श्री मेरुतुङ्गगुरवो नरदेववंद्याः

यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि आचार्य मेरुतुङ्गसूरि चक्रेश्वरीदेवी के विशिष्ट कृपापात्र थे। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ने अन्य अनेक नृपति-गणों को भी प्रतिबोधित किया था।

उपाधियाँ :

इस प्रकार आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि से सम्बन्धित अनेकानेक अवदात उल्लिखित मिलते हैं। इन्हीं अवदातों के कारण ही आचार्य श्री को "मन्त्र-प्रभावक", "महिमानिधि" आदि मानद उपाधियों से सम्बोधित किया गया है। आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि के प्रभावी उपदेशों के कारण ही वींछीवाडा, सिंहवाडा, पुनासा, वडनगर आदि अनेक नगरों में जिनालयों का निर्माण हुआ तथा उनमें धातु-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापनाएँ भी हुईं।

शिष्य-परिवार :

आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि का शिष्य-परिवार भी अतिविशाल था। इन्होंने छः आचार्य, चार उपाध्याय तथा एक महत्तरा प्रभृति संख्या-बद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद स्थापित किये एवं दीक्षित किये। इनमें श्री जयकीर्तिसूरि मुख्य पट्टधर थे, इसके अतिरिक्त माणिक्यशेखरसूरि, माणिक्यसुन्दरसूरि, मेरुनन्दनसूरि, रत्नशेखरसूरि, उपाध्याय धर्मनिन्दगणि आदि अनेक विद्वान् उपाध्याय व मुनि थे। आचार्य मेरुतुङ्गसूरि के संघ में विशाल साध्वी-परिवार भी था। साध्वी श्री महिमाश्रीजी को आचार्य श्री ने "महत्तरा" पद पर स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त साध्वी श्री मेरुलक्ष्मी श्री जी का भी उल्लेख हुआ है।

स्वर्गवास :

इस प्रकार आचार्य मेरुतुङ्गसूरि पृथ्वीतल पर अविरत-विहार व समाज का उपकार करते हुए, अन्त में विक्रम संवत् १४७१ की मार्गशीर्षपूर्णिमा, दिन सोमवार को अपराह्न उत्तराध्ययनसूत्र का श्रवण करते-करते समाधिपूर्वक कालधर्म का पालन कर गये। परन्तु अचलगच्छ के इतिहास में आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि का यशस्वी योगदान सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

रचनाएँ :

आचार्य मेरुतुङ्गसूरि ने साहित्यक्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा रचित साहित्य, जैन संस्कृति के लिए तो प्रभावी सिद्ध ही हुआ, साथ ही समग्र भारतीय साहित्य में भी अपना मूलभूत स्थान रखता है। आचार्य श्री के ग्रन्थों की संख्या के विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ही सम्मति दी है। डा० रामकुमार आचार्य[1] ने इनके आठ ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है। इनके साथ ही डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[2] ने भी करीब-करीब यही संख्या अपने ग्रन्थ में दी है। इसी बीच श्री भंवरलाल नाहटा[3] ने अपने एक लेख में "मेरुतुङ्गसूरिरास" के आधार पर आचार्य श्री द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या बारह दी है।

मुनि कलाप्रभसागर जी[4] ने आचार्य श्री के ग्रन्थों की संख्या जहाँ उन्नीस दी है, वहीं 'अंचलगच्छ दिग्दर्शन' में श्री पार्श्व ने आचार्य श्री

---

१. संस्कृत के सन्देशकाव्य : डा० रामकुमार आचार्य, पृ० १९४-१९५।

२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान :
—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० ४८३।

३. श्री आर्य कल्याण गौतम स्मृति-ग्रन्थ : सम्पादित मुनि कलाप्रभसागरजी द्वारा, पृ० २६।

४. वही, पृ० ८८-८९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रचनाओं की कुल संख्या ३६ बतायी है। अतः यहाँ पर इन विभिन्न ग्रन्थों का आधार लेकर इनके उल्लिखित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय अवश्य दृष्टव्य है। अतएव यहाँ पर आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि द्वारा रचित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) **षड्दर्शनसमुच्चय** : इस ग्रन्थ का अपरनाम 'षड्दर्शननिर्णय' है। ग्रन्थ विक्रम संवत् १४४९ के पूर्व का रचा हुआ है क्योंकि सप्ततिभाष्य टीका में इस ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है—**काव्यं श्री मेघदूताख्यं षड्दर्शन-समुच्चयः**। अत्यल्पकाय होने पर भी अनेक दृष्टियों से भारतीय दर्शन-जगत् में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्थान है। इसमें बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य और वैशेषिक दर्शनों के मूल-सिद्धान्तों को वर्णितकर उनका खण्डन करते हुए जैन दर्शन को स्व-तर्कों से परिपुष्ट किया गया है। संक्षिप्त होकर भी तत्त्वनिर्णय-सम्बन्धी इसके तर्क सचोट, प्रमाणयुक्त एवं निर्णयात्मक हैं। यह ग्रन्थ गूर्जर अनुवाद सहित मुनि श्री कलाप्रभसागरजी के कुशल सम्पादकत्व में प्रकाशित भी हो गया है।[१] वैसे इसकी एक हस्तलिखित प्रति सेण्ट्रल लाइब्रेरी, बम्बई में सुरक्षित है।

(२) **बालावबोध व्याकरण** : इस ग्रन्थ के अपरनाम 'मेरुतुङ्गव्याकरण' और 'कुमार-व्याकरण' हैं। वैसे श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने इस ग्रन्थ के—'व्याकरण चतुष्क बालावबोध' तथा 'तद्धित बालावबोध' दो अन्य नाम भी बताये हैं।[२] यह ग्रन्थ भी विक्रम संवत् १४४९ के पूर्व का ही रचा हुआ है तथा इस पर आचार्य श्री द्वारा ही रचित वृत्ति का भी उल्लेख है, क्योंकि सप्ततिभाष्य टीका की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का भी नामोल्लेख (वृत्ति-सहित) है—**वृत्तिर्बालावबोधाख्या धातुपारायणं तथा**। व्याकरण-सम्बन्धी अति गूढ़ तत्त्वों को सुबोध रूप देने वाला यह ग्रन्थ, अपने में विरल है तथा आचार्य श्री के व्याकरण-विषयक गहन ज्ञान का परिचायक है।

(३) **जैनमेघदूतम्** : आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि द्वारा रचित इसी ग्रन्थ का समग्र साहित्यिक विश्लेषण तथा हिन्दी-अनुवाद सहित मूल ही प्रस्तुत पुस्तक का ग्राह्य विषय है। एतदर्थ इस ग्रन्थ के विषय में विस्तृत सूचनाएँ समग्र पुस्तक में प्राप्त होंगी।

---

१. श्री आर्य-जय-कल्याणकेन्द्र, श्री गौतम-नीति गुणसागरसूरि जैन मेघ संस्कृति भवन, ठे० लालजी पुनशी वाडी, देरासरलेन, घाटकोपर (पूर्व), बम्बई—४०००७७।

२. जैन गूर्जर कविओं : मो० द० देसाई, भाग ३, पृ० १५७२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **धातुपारायण** : संस्कृत-व्याकरण की धातुओं का ज्ञान कराने वाला यह ग्रन्थ भी विक्रम संवत् १४४९ के पूर्व ही रचा गया है, क्योंकि सप्ततिभाष्य टीका की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का भी उल्लेख किया गया है।

(५) **रसाध्याय टीका** : इस ग्रन्थ का अपरनाम 'रसालय' है। कंकालय नामक एक जैनेतर आचार्य द्वारा प्रणीत इस रसाध्याय ग्रन्थ की आचार्य श्री ने विक्रम संवत् १४४३ में टीका रची थी। वैद्यक-शास्त्र का इसमें गहन अध्ययन किया गया है।

(६) **सप्ततिभाष्य टीका** : जैन कर्म-सिद्धान्त का इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। ग्रन्थ विक्रम संवत् १४४९ में रचा गया है। संस्कृत भाषा में निबद्ध यह ग्रन्थ आचार्य श्री की विद्वता का परिचायक है।

(७) **लघुशतपदी** : इसका अपरनाम 'शतपदी सारोद्धार' है। संस्कृत भाषा में १५७० श्लोकों में निबद्ध श्रीधर्मघोषसूरि के इस मूल ग्रन्थ पर आप श्री ने अपने पैंतालिस विशेष उपयोगी विचार तथा सात नये विचार प्रस्तुत किये हैं। आपश्री ने इस ग्रन्थ का अपने नवीन विचारों के आधार पर परिष्कार भी किया है, इसी कारण इस ग्रन्थ का अपरनाम 'शतपदी सारोद्धार' भी दिया गया है—

तत्पट्टकमले राजमराला इव सांप्रतं
श्री मेरुतुङ्गसूरींद्रां जयंति जगतीतले ॥१॥
सुकुमारमतीनां तैः सुखायः व्यरचि स्वयम्
शतपद्याः समुद्धारस्त्रिपंचाशीतिवत्सरे ॥२॥

(८) **कामदेव नृपति कथा** : ७४९ श्लोक परिमाण की इस संस्कृत गद्यकृति की रचना कवि ने विक्रम संवत् १४६९ में की थी, ऐसा इस ग्रन्थ की ग्रन्थ-प्रशस्ति में उल्लिखित मिलता है—

एवं श्रीकामदेवक्षितिपतिचरितं तत्त्वषड्वार्द्धिभूमिसंख्ये।
श्रीमेरुतुङ्गाभिधगणगुरुणा वत्सरे प्रोक्तमेतत् ॥

(९) **पद्मावती कल्प** : आचार्य श्री द्वारा ही प्रस्तुत ग्रन्थ की भी रचना हुई है, ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1]

(१०) **शतकभाष्य** : सप्ततिका भाष्य वृत्ति का ही यह अपरनाम है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु श्री पार्श्व[2] ने इसे भी आचार्य श्री के एक ग्रन्थ की संख्या दी है।

---

१. अंचलगच्छदिग्दर्शन : श्रीपार्श्व, पृ० २२३।

२. वही, पृ० २२३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(११) **नमुत्थणं टीका** : 'चैत्यवन्दन विधि' में 'नमुत्थणं' ग्रन्थ के सूत्रों पर वृत्ति के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है।

(१२) **जीरावल्ली पार्श्वनाथ स्तव** : इस स्तव में मूल में ११ श्लोक थे, पश्चात् ३ श्लोक अतिरिक्त जोड़ दिये जाने पर यह १४ श्लोक परिणाम का संस्कृत-स्तव है, जिसकी रचना आचार्य श्री ने लोलाइड नगर में सर्प-विष के निवारण हेतु किया था। इसका आदि है—**ॐ नमो देवदेवाय**। विक्रम संवत् १७२४ में प्रशिष्य पुण्यसागरजी ने इस स्तव की व्याख्या की थी। इस का अपरनाम "त्रैलोक्यविजय" महामन्त्र है। अचलगच्छ में इस मन्त्र का पाठन-पाठन में अत्यधिक महत्त्व है।

(१३) **सूरिमन्त्रकल्प सारोद्धार** : ५५८ श्लोक-परिमाण के इस संस्कृत भाषा में निबद्ध मन्त्र-शास्त्र विषयक ग्रन्थ की रचना भी आचार्य श्री ने ही की है।

(१४) **संभवनाथ चरित्र** : इस ग्रन्थ की रचना आचार्य श्री ने विक्रम संवत् १४१३ में की है।[1]

(१५) **सप्ततिभाष्य टीका** : यह एक कर्म-ग्रन्थ है। इसकी रचना विक्रम संवत् १४४९ में आचार्य श्री ने की थी। इस ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा आचार्य श्री को अपने गुरुबन्धु मुनिशेखरसूरि जी द्वारा मिली। संस्कृत भाषा में रचित यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि यह एक महाग्रन्थ था—

काव्यं श्री मेघदूताख्यं षड्दर्शनसमुच्चयः
वृत्तिर्बालावबोधाख्या धातुपरायणं तथा।
एवमादिमहाग्रन्थनिर्माण परायणाः
चतुराणां चिरं चेतश्चमत्काराय येऽन्वहम् ॥

(१६) **शतपदी सारोद्धार** : इसका अपरनाम 'शतपदी समुद्धार' है। विक्रम संवत् १४५६ में आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ की रचना की है। आचार्य धर्मघोषसूरि द्वारा मूल रचित शतपदी का आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ में समुद्धार किया है। अतएव इसको उपर्युक्त नाम दिया गया है।

(१७) **जेसाजी प्रबन्ध** : इस ऐतिहासिक प्रबन्ध के विषय में शंका है। श्रीपार्श्व ने इसका भी उल्लेख किया है।[2]

---

१. अंचलगच्छदिग्दर्शन : श्रीपार्श्व, पृ० २२०।

२. वही, पृ० २२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१८) **स्तम्भक पार्श्वनाथ प्रबंध** : इस ग्रंथ की रचना भी आपने संस्कृत भाषा में की है। इसका भी मात्र नामोल्लेख ही हुआ है।[१]

(१९) **नाभिवंश काव्य** : आचार्य श्री द्वारा रचित इस महाकाव्य का मात्र नामोल्लेख मिलता है।[२]

(२०) **सूरिमन्त्र कल्प** : सूरिमन्त्र की महिमा प्राचीन जैन साहित्य में विशेष रही है। 'अंचलगच्छ विचारव्यवस्था' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ में इस मन्त्र की अनिवार्यता निर्दिशत की गयी है। प्रत्येक गच्छनायक को इस कल्प की साधना करनी चाहिए। इसी आधार पर आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि ने रहस्यों से निगूठित इस मन्त्र की रचना की है।

(२१) **यदुवंशसम्भव कथा** : इस संस्कृत महाकाव्य की रचना भी आचार्य श्री ने की है। इसका भी उल्लेख श्री पार्श्व ने किया है।[३]

(२२) **नेमिदूत महाकाव्य** : श्री पार्श्व ने नेमिदूत नामक एक महाकाव्य की रचना भी आचार्य श्री द्वारा माना है। उन्होंने इस महाकाव्य का नामोल्लेख भी किया है।[४]

(२३) **कृदवृत्ति** : ऐसा प्रतीत होता है कि यह आचार्य श्री द्वारा रचित कातन्त्र व्याकरण की टीका का एक खण्ड ही है। ऐसा ही उल्लेख श्री पार्श्व ने भी किया है।[५]

(२४) **कातन्त्र व्याकरण बालावबोध वृत्ति** : कातन्त्र व्याकरण नामक इस व्याकरणपरक ग्रंथ की आपने संस्कृत में बालावबोध वृत्ति विक्रम संवत् १४४४ में रची। इस ग्रन्थ का पूर्वनाम 'कालापक व्याकरण' था। इसी का अपरनाम 'आख्यातवृत्ति टिप्पण' भी सम्भव है।[६]

(२५) **उपदेशचिन्तामणि वृत्ति** : मुनि श्री जयशेखरसूरि द्वारा विरचित उपदेशचिन्तामणि नामक ग्रन्थ पर आपश्री ने ११६४ श्लोक-परिमाण की संस्कृत-वृत्ति रची है।

(२६) **नाभाकनृपकथा** : विक्रम संवत् १४६४ में आपश्री ने संस्कृत गद्य-पद्य मय कथानक के रूप में इस कृति की २९४ श्लोकों में रचना की

---

१. अंचलगच्छदिग्दर्शन : श्रीपार्श्व, पृ० २२२।
२. वही, पृ० २२२।
३. वही, पृ० २२३।
४. वही, पृ० २२३।
५. वही, पृ० २२३।
६. वही, पृ० २२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। देवद्रव्य का नाश अथवा दुर्व्यय करने वाले मनुष्य किस प्रकार दुःख भोगते हैं, वह इस कथा में प्रत्यक्षीकृत किया गया है।

(२७) **सुश्राद्ध कथा** : इस ग्रन्थ की भी रचना आचार्य श्री के ही द्वारा हुई है[1], पर ग्रन्थ के विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

(२८) **चतुष्कवृत्ति** : ४९३ श्लोक-परिमाण के इस व्याकरण-सम्बन्धी संस्कृत ग्रंथ[2] में विभिन्न व्याकरणिक विषयों पर चर्चा की गयी है।

(२९) **अंगविद्योद्धार** : इस ग्रन्थ का उल्लेख भी 'मेरुतुङ्गसूरि रास' में तथा 'अंचलगच्छदिग्दर्शन'[3] में किया गया है।

(३०) **ऋषिमण्डलस्तव** : सत्तार संस्कृत की कारिकाओं में निबद्ध इस स्तव में ऋषियों की स्तुति की गयी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस रचना का भी उल्लेख श्री पार्श्व ने किया है।[4]

(३१) **पट्टावली** : इस पट्टावली का नाम भी श्री पार्श्व ने आचार्य श्री की रचनाओं में रखा तो अवश्य है परन्तु इसकी भाषा, घटना आदि विविध विचारों के आधार पर शंका के साथ ही यह विचार व्यक्त किया है कि यह आचार्य श्री की ही रचना है।[5]

इसके अतिरिक्त श्री पार्श्व ने उक्त स्थल पर ही आचार्य श्री द्वारा रचित अन्य निम्न ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख किया है[6]—(३२) **भाव कर्म प्रक्रिया**; (३३) **लक्षणशास्त्र**; (३४) **राजीमती-नेमि सम्बन्ध**; (३५) **वारिविचार** और (३६) **कल्पसूत्रवृत्ति**।

इस प्रकार आचार्य श्रीमेरुतुङ्गसूरि जी द्वारा प्रणीत छत्तीस ग्रंथों का उल्लेख विविध साक्ष्य-ग्रंथों के आधार पर उपलब्ध होता है। परन्तु इस ग्रन्थ-सख्या में कुछ ग्रंथ तो ऐसे हैं, जिनका अन्य ग्रंथों में मात्र नामोल्लेख भर ही हुआ है तथा उनकी स्थिति के प्रति शंका भी व्यक्त की गयी है। साथ ही इनमें से अधिकांश उपलब्ध ग्रंथ भी अपनी मूल अवस्था में ग्रंथ-भण्डारों में ही पड़े हुए हैं। शेष कुछ ही ग्रन्थ प्रकाश में अब तक आ सके

---

१. अंचलगच्छदिग्दर्शन : श्रीपार्श्व, पृ० २२३।
२. वही, पृ० २२३।
३. वही, पृ० २२३।
४. वही, पृ० २२३।
५. वही, पृ० २२३।
६. वही, पृ० २२३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अप्रकाशित व अनुपलब्ध ग्रन्थों की महत्ता तथा उनकी कोटि के आकलन का तो प्रश्न ही नहीं, परन्तु आचार्य श्री के जितने भी ग्रंथ प्रकाश में अब तक आ चुके हैं, उनके आधार पर भी यदि हम आचार्य श्री की साहित्यिक-प्रतिभा का मूल्याङ्कन करें तो यह निस्सन्देह ही कहना होगा— आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि द्वारा प्रदत्त यह ग्रन्थगुच्छ-उपहार युग-युग तक जनमानस को सुवासित रखेगा तथा पथ-विमुक्त दिग्भ्रान्त मानव को अपने सुमधुर शान्त रस का रसास्वादन कराकर अमृत-कलश का स्थान ग्रहण करेगा।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य-परिचय

जैनमेघदूतम्

विरह को यदि शृङ्गार-शैल का सर्वोच्च शिखर कहा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। यही एक कारण है जो कि शृङ्गारी कवि विरह-प्रधान काव्य की रचना में जितने सफल हो सके हैं, उतने अन्य किसी साहित्य-विधा की काव्य-रचना में नहीं। साहित्य में विरह ने आज अपना एक ऐसा अद्वितीय स्थान सुनिश्चित कर लिया है कि साधारण समाज में प्रचलित लोक-गीतों से लेकर खण्डकाव्यों एवं महाकाव्यों तक इसके चित्रण में जितनी प्रवीणता एवं पूर्णता परिलक्षित होती है, उतनी प्रवीणता या पूर्णता किसी अन्य काव्य-विषय में नहीं।

पूर्व परिचय :

विरह-काव्य तो अनेक लिखे गये, पर अद्यावधिपर्यन्त संस्कृत काव्य-साहित्य के क्षेत्र में जितनी प्रसिद्धि कालिदास के मेघदूत काव्य की है, उतनी अन्य किसी भी काव्य की नहीं। यह उसी के प्रभाव का प्रतिफल है कि आज तक सौ से भी अधिक कवियों ने मेघदूत के अनुकरण पर अपने स्वतन्त्र काव्य रचे या फिर समस्यापूर्ति के ढंग पर कालिदासीय मेघदूत काव्य का अनुकरण किया है। कवि कालिदास की इस अमरकृति मेघदूत के अनुकरण पर ही जैन कवि आचार्य मेरुतुङ्ग ने एक स्वतन्त्र काव्य के रूप में जैनमेघदूतम् काव्य की रचना की है, फिर भी यह काव्य कालिदास के मेघदूत से सर्वथा भिन्न ही है।

जैन दूतकाव्य-परम्परा में उपलब्ध प्रायः अन्य दूतकाव्यों की भाँति इसमें समस्यापूर्ति नहीं की गयी है। कालिदासीय मेघदूत के अनुकरण के रूप में मात्र मन्दाक्रान्ता वृत्त ही दृष्टिगत होता है। सम्पूर्ण काव्य चार सर्गों में विभक्त है। जिसके प्रथम सर्ग में पचास, द्वितीय सर्ग में उनचास, तृतीय सर्ग में पचपन तथा चतुर्थ सर्ग में बयालीस श्लोक हैं। नायिका राजीमती मेघ को दूत बनाकर उसे काव्य-नायक (अपने पति श्रीनेमि) के पास भेजती है, इसी कारण इस काव्य का नाम मेघदूत है। परन्तु यह दूतकाव्य जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ के जीवन-चरित पर आधारित होने के कारण एवं एक विद्वान् जैन आचार्य द्वारा रचित होने के कारण ही इस दूतकाव्य को "जैनमेघदूतम्" कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् की कथावस्तु जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर, करुणा के ज्वलन्त-जीवन्त प्रतीक भगवान् श्रीनेमिनाथ के जीवन-चरित से सम्बन्धित है। महाभारत काल में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इन्होंने यदुवंश में जन्म ग्रहण कर अपनी करुणा की परम-पुनीत धारा द्वारा सृष्टि के कण-कण को अभिसिञ्चित किया। श्रीनेमि अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ लड़के समुद्रविजय के पुत्र एवं राजनीति-धुरन्धर भगवान् श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। जहाँ योग-पुरुष श्रीकृष्ण ने राजनीति की शिक्षा दी, वहाँ श्रीनेमि ने प्राणिमात्र पर करुणा की शीतल-रश्मियों की वर्षा की।

समुद्रविजय ने अपने पुत्र श्रीनेमि का—जो सौन्दर्य एवं पौरुष के अजेय स्वामी थे—विवाह महाराज उग्रसेन की रूपसी एवं विदुषी पुत्री राजुलमती (राजीमती या राजुल) से करना निश्चित कर लिया। वैभव-प्रदर्शन के उस युग में महाराज समुद्रविजय अनेक बारातियों को लेकर पुत्र नेमिनाथ के विवाहार्थ गये। जब बारात वधू के नगर "गिरिनगर" पहुँची तब वहाँ पर बँधे पशुओं की करुण चीत्कार ने नेमिनाथ की जिज्ञासा को कई गुना बढ़ा दिया। अत्यन्त उत्सुकतावश जब श्रीनेमि ने पता लगाया तब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये सारे पशु बारात के भोजनार्थ लाये गये हैं। इन सभी पशुओं को काटकर उनके आमिष से विविध भाँति के व्यञ्जन बारातियों के निमित्त बनाये जायेंगे। यह बात ज्ञात होते ही श्रीनेमि के प्राण अत्यधिक मानसिक-उद्वेलन के कारण काँप उठे और उनकी भावना करुणा की अजस्र अश्रुधारा में परिवर्तित हो प्रवाहित हो उठी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे करुणा-सिन्धु में ज्वार उत्पन्न हो गया हो। करुणापूरित उनके अन्तर्मानस में अनेकानेक प्रश्न आलोडित होने लगे कि जिस संसार में अपने भोजन के लिए ही निरीह पशुओं की बलि दी जाती है, तो भला उसकी अमङ्गलता में कैसा सन्देह? इसका निदान यह कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि विवाह-बन्धन में बँधने की अपेक्षा क्यों न सर्व-श्रेयस्कर इस निष्करुण संसार को ही त्याग दिया जाये और इस विचार के साथ ही श्रीनेमि इस दुःखमय संसार का त्यागकर तपस्या के संकल्प के साथ वन-कानन की ओर मुड़ गये।

परन्तु इधर कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि उस समय हल्दी-चढ़ी, मेंहदी-रची, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं विवाह-हेतु प्रस्तुत नववधू के रूप और विवाह की इस प्रकार की असफलता ने राजीमती के हृदय-सिन्धु में हाहाकार के कितने चक्रवातों को एक साथ उत्पन्न किया होगा? इसके पूर्व में अपने प्रिय की प्राप्ति के प्रति उसने अपने आन्तर-प्रदेश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितनी सुकोमल-कुमारी-कल्पनाएँ संजो रखी होंगी ? किन्तु अकस्मात् यह क्या ? नव-वधू का घूँघट-पट उठने से पूर्व ही यह निर्मम पटाक्षेप कैसा ?

परन्तु भारतीय नारी भी अपने आदर्श के प्रति सदैव अडिग रही है, वह जीवन में अपने पति का चयन एक ही बार करती है। अतः इसी विचार व आदर्श स्वरूप राजीमती ने भी पति-स्वरूप श्रीनेमिनाथ को ही अपने मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित किया था। विवाह-महोत्सव का त्याग कर वन की ओर चले जाने के समाचार ने गिरिनगर में तो मानो वज्रपात ही कर दिया था। नगर के सभी माङ्गलिक-अनुष्ठान समाप्त कर दिये गये थे। इधर इस दुःखद समाचार से महारानी, राजीमती एवं सखियों का करुण-क्रन्दन एवं हाहाकार की करुण-चीत्कारें सर्वत्र पाषाण-हृदयों को भी तरलीभूत किये जा रही थीं।

काव्य की कथावस्तु को समझने के लिए इतनी पूर्व कथा आवश्यक प्रतीत होने के कारण ही दी गयी है। इस पूर्वकथा के पश्चात् की कथा को कवि मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् काव्य में प्रस्तुत किया है। अतः अब सर्ग के क्रम के अनुसार जैनमेघदूतम् की कथावस्तु संक्षेप में प्रस्तुत की जा रही है—

प्रथम सर्ग कथा :

काव्य के प्रथम सर्ग में श्रीनेमिनाथ की बालक्रीडा व पराक्रमलीला का वर्णन किया गया है। कवि ने काव्य के प्रारम्भ में श्रीनेमि के विवाह-महोत्सव का त्यागकर चिदानन्द सुख-प्राप्ति के हेतु रैवतक पर्वत पर चले जाने का वर्णन किया है।[1] तत्पश्चात् कामजित् श्रीनेमि की भावी पत्नी राजीमती को, कामदेव ने यह जानकर कि यह हमारे शत्रु श्रीनेमि की भक्त है, अत्यन्त पीड़ित किया। जिस कारण प्रिय-विरहिता भोजकन्या (राजीमती) मूर्च्छित हो गयी।[2] राजीमती की सखियाँ अपने शोक गद्-गद् वचनों एवं लोकप्रसिद्ध चन्दन-जलार्द्र-वस्त्रादि प्रभृत शीतोपचार द्वारा उसकी चेतना वापस लाती हैं और तब राजीमती हृदय में तीव्र उत्कण्ठा जगाने वाले मेघ को देखकर सोचती है कि उन भगवान् श्रीनेमि ने अपने में आसक्त तथा तुच्छ मुझको किस कारण साँप की केंचुल की भाँति छोड़ दिया है।[3] इन विचारों में उलझती हुई नवीन

१. जैनमेघदूतम्, १/१।
२. वही, १/२।
३. वही, १/७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघों से सिक्त भूमि की तरह निःश्वासों को छोड़ती हुई तथा मदयुक्त मदन के आवेश के कारण युक्तायुक्त का विचार न करती हुई राजीमती, जिस प्रकार मेघमाला प्रभूत जल को बरसाती है उसी प्रकार अश्रुधारा-वृष्टि करती हुई, दुःख से अतिदीन होकर तथा श्री नेमि का हृदय में ध्यान कर मधुर वाणी में मेघ का सर्वप्रथम स्वागत करती है,[1] फिर उसका गुणगान भी करती है।[2]

तत्पश्चात् वह मेघ से श्रीनेमि के चरित्र का विस्तृत वर्णन करती है। इसके अन्तर्गत श्रीनेमि की बालसुलभ क्रीडाओं एवं पराक्रम लीलाओं का वह अत्युक्ति पूर्ण वर्णन करती है।

द्वितीय सर्ग कथा :

द्वितीय सर्ग में वसन्त-वर्णन किया गया है, जिसमें श्रीनेमि की विविध भाँति की वसन्त-क्रीडाओं का वर्णन हुआ है। वसन्तागमन से वन-उपवनों एवं तडाग-पर्वतों की शोभा अत्यन्त रमणीय व मनोहारी हो गयी थी।[3] इस प्रकार वसन्त-वर्णन के पश्चात् राजीमती कथा-प्रसंग को पुनः आगे बढ़ाती हुई श्रीनेमि एवं श्रीकृष्ण की वसन्तक्रीडा का वर्णन करती है।[4]

तदनन्तर राजीमती मेघ से श्रीनेमि के साथ श्रीकृष्ण की पत्नियों की वसन्त-क्रीडा का वर्णन करती है।[5] परन्तु वह यह वर्णन कर ही रही थी कि तभी पुष्पित पारिजात से सुशोभित श्रीनेमि[6] के मनोहारी स्वरूप का स्मरण करती हुई राजीमती मौनभाव से सोई हुई की तरह पुनः मूर्च्छित हो जाती है तब उसकी सखियाँ चन्दनयुक्त जलधारा से उसे किसी प्रकार सचेत करती हैं।[7] सचेत होने पर राजीमती अपनी अधूरी कथा को पुनः प्रारम्भ करती हुई मेघ से श्रीनेमि तथा श्रीकृष्ण को वसन्त-क्रीडा के पश्चात् ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन करती है जो कि मानो स्वामि-सेवाशील भृत्य की भाँति अपने फल का उपहार देने के लिए वहाँ आ पहुँची थी।[8]

१. जैनमेघदूतम्, १/१०।
२. वही, १/११, १२, १३।
३. वही, २/२-११।
४. वही, २/१२-१७।
५. वही, २/१८-२२।
६. वही, २/२४।
७. वही, २/२५।
८. वही, २/२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रीष्म-ऋतु-वर्णन[1] के पश्चात् राजीमती श्रीकृष्ण के साथ श्रीनेमि की लीलोपवन में जल-केलि का वर्णन प्रस्तुत करती है।[2]

तृतीय सर्ग कथा :

तृतीय सर्ग में श्रीनेमि के विवाह-महोत्सव एवं गृहत्याग का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम राजीमती मेघ से लीलोपवन में जल-केलि कर उसमें से निकले हुए श्रीनेमि की शोभनीय अप्रतिम शोभा का वर्णन करती है।[3] जलार्द्र वस्त्रों का त्यागकर रुक्मिणी द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठने के पश्चात् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ, श्रीकृष्ण स्वयं एवं बलदेव आदि सभी श्रीनेमि को पाणिग्रहण हेतु बहुत समझाते हैं।[4] अपने ज्येष्ठ एवं आदरणीय जनों के वचनों का तिरस्कार तथा निरादर न करते हुए श्रीनेमि उन समस्त अग्रजों की आज्ञा को शिरोधार्य कर लेते हैं।[5] तब श्रीकृष्ण सहर्ष महाराज उग्रसेन से राजीमती को श्रीनेमि के साथ पाणिग्रहण हेतु मांगते हैं।[6]

श्रीनेमि के विवाह का सुसमाचार ज्ञात होने पर श्रीसमुद्र एवं शिवा देवी अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। पूरे नगर में विवाह-सम्बन्धी तैयारियाँ होने लगीं। विवाह-मण्डप नानाभाँति सजाया गया। दिन-रात मधुर वाद्ययन्त्र एवं यदुस्त्रियों के अविश्रान्त-स्वर गुञ्जरित हो उठे। वर-वधू दोनों ही पक्षों में पधारे अतिथियों का यथाविधि स्वागत-सत्कार हो रहा था। तत्पश्चात् श्रीनेमि मतवाले राजवाह्य पर आरूढ़ होकर अपने सभी सम्बन्धी बन्धु-परिजन के साथ विवाह हेतु चल पड़े। विवाह हेतु सुसज्जित श्रीनेमि की शोभा को देखने हेतु पुरवासी अत्यन्त व्यग्र से थे[7]।

इस प्रकार विवाह हेतु आ रहे श्रीनेमि का वर्णन करती हुई राजीमती मेघ से आगे कहती है कि नान्दीरव को सुनते ही पाणिग्रहण योग्य वेश को धारण की हुई मैं उन श्रीनेमि को देखने के लिए अति व्याकुल हो उठी। तभी सखियों के—"**पेञ्जूषेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्सूत्सुखकाया-**

१. जैनमेघदूतम्, २/३०-३५।
२. वही, २/३६-४९।
३. वही, ३/१-२।
४. वही, ३/३-२०।
५. वही, ३/२१।
६. वही, ३/२३।
७. वही, ३/२४–२८।
८. वही, ३/३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायान्त्यस्मै सखि ! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम् ?''—इस वचन का बहुमान करती मैं गवाक्ष पर चढ़ गयी[1]। उन आयुष्मान् के दर्शन होते ही मुझमें मोह का इतना महासमुद्र उमड़ा कि उस समुद्र की तरंगमाला से चंचलचित्तवाली तथा जड़ीभूत-सी होकर मैं क्षणभर के लिए 'मैं कौन हूँ ? वह कौन हैं ? मैं क्या कर रही हूँ ? आदि कुछ भी न जान सकी[2]। राजीमती अभी इसी ऊहापोह में थी कि तभी उसके दाहिने नेत्र ने फड़क-कर भाग्याभाव के कारण उसके मनोरथ रूपी कमलसमूहों को संकुचित बना दिया[3]। इस घटना से घबराई हुई उसकी सखियाँ जब तक उसे कुछ समझा सकें, इसके पूर्व ही भगवान् श्रीनेमि ने बारातियों को दिये जाने वाले सुस्वादु भोजन के निमित्त लाये गये पशुओं के करुण-आर्तनाद को सुना[4]। महावत से पूछने पर प्रभु श्रीनेमि को ज्ञात हुआ कि इन पशुओं के मांस से विवाह-भोज का शोभासम्भार बढ़ाया जायेगा। इतना ही नहीं महावत ने, यह निश्चयकर कि इन निरीह पशुओं को छुड़ाकर मैं दीक्षा प्राप्त कर लूँगा, बन्धमोक्षसमर्थ प्रभु श्रीनेमि को उस पशु-समूह के पास पहुँचा भी दिया[5]। श्रीनेमि ने दीनता से ऊपर देखते हुए एवं मजबूत बँधे हुए उन नभचर, पुरचर व वनचर जन्तुओं को छुड़वा दिया और अपने हाथी को गिरिनगर से प्रत्यावर्तित कर अपने भवन के सामने ले आये[6]।

श्रीनेमि के माता-पिता तथा श्रीकृष्ण आदि चिरभिलषित-महोत्सव से निवृत्त श्रीनेमि को वाष्पपूरित नेत्रों से देखते हुए उनके इस अकारण पाणिग्रहण के त्याग का कारण पूछने लगे। भूरि-भूरि आग्रह करने पर श्री-नेमि ने सभी को यह कहकर निवारित कर दिया कि "इस तपस्या (दीक्षा) के बिना कोई भी स्त्री निश्चित ही बाधाओं को दूर नहीं कर सकती, जिसका फल सदैव सुखकारी हो। सज्जनों का वही कार्य श्लाघ्य होता है, मैं कर्मपाश से बँधे हुए प्राणियों को इन्हीं पशुओं के समान ही मुक्त करूँगा[7]।" यह ज्ञात होते ही कि "श्रीनेमि व्रत ही ग्रहण करेंगे" यादव-

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/३७।
२. वही, ३/३९।
३. वही, ३/४०।
४. वही, ३/४१।
५. वही, ३/४३।
६. वही, ३/४४।
७. वही, ३/४८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण पृथ्वी-आकाश को भी रुलाते हुए रोने लगे। यादवगण अभी रो ही रहे थे कि डिण्डिमघोष के साथ प्रातः श्रीनेमि ने वार्षिक-दान प्रारम्भ कर दिया।

राजीमती मेघ से आगे कहती है कि हे मेघ! अपने प्राणेश्वर के विवाह-भूमि से लौट जाने पर, उस समाचार से उत्पीड़ित, मैं वल्लरी की भाँति गिर पड़ी और उस समय उत्पन्न दुःखरूपी ज्वार-भार वाली मैंने मूर्च्छा-समुद्र में डूबकर किञ्चित् सुख सा अनुभूत किया। उस मूर्च्छा-समुद्र में ही डूबने से शायद मुझे कोई अत्यधिक कम्पन से युक्त ताप उत्पन्न हुआ है जिसके कारण मैं ऐसा अनर्गल प्रलाप कर रही हूँ[1]। राजीमती मेघ से आगे कहती है कि उस समय मुझे अपनी सखियों की यह वाणी—"हे सखि! यदि वे अग्नि तथा पूज्यजनों के समक्ष विवाह करके फिर तुम्हें छोड़ते, तब तो नाव को समुद्र में छोड़कर डूबा ही देते, परन्तु अभी तो अधिक गुणवान् कोई अन्य राजपुत्र तुम्हारा विवाह कर ही लेगा"—हमें जले पर नमक के समान लगी[2]। परन्तु भारतीय नारी के एक-पतित्व के आदर्श का पालन करने वाली राजीमती ने योगिनी की भाँति उन प्रभु श्रीनेमि के ध्यान में ही सारा जीवन काट डालने की अपनी उन सखियों के समक्ष ही प्रतिज्ञा कर ली[3]।

वह मेघ से आगे कहती है कि यद्यपि अखिलविश्वपूज्य मेरे पति वे श्रीनेमि इस विवाहोत्सव को उसी भाँति असमाप्त छोड़कर चले गये जैसे तुम (मेघ) धारावृष्टि को छोड़कर चले जाते हो, परन्तु फिर भी मैं गृहस्थावस्था तक उनकी उसी प्रकार अपने हृदय में आशा लगाये रही, जिस प्रकार प्रजा पुनः वर्षानक्षत्र के आने तक तुम्हारी आशा लगाये रहती है[4]।

चतुर्थ सर्ग कथा :

चतुर्थ सर्ग में मुख्य रूप से विरहविवशा राजीमती द्वारा पति-विरहिता स्त्री की दशाओं का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम राजीमती श्रीनेमि के दान की महिमा व प्रशंसा सुनाती है[5]। तत्पश्चात् एक वर्ष पूर्ण

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/५१–५२।
२. वही, ३/५३।
३. वही, ३/५४।
४. वही, ३/५५।
५. वही, ४/१-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर शरद्-ऋतु में सर्वांगविभूषित श्रीनेमि को राजीमती ने गवाक्ष से वन-कानन जाते हुए इस प्रकार देखा जिस प्रकार कमलिनी जल से जाने वाले रवि को देखती है[१]। अपने प्रभु श्रीनेमि को अपने सामने ही वन जाते देखकर राजीमती प्रबल व विषम विरहपीड़ा से मूर्च्छित हो ही रही थी कि उसकी सखियों ने शीतोपचार द्वारा उसे सचेत किया। तदनन्तर "अब मैं उनके द्वारा कीचड़ से गीले हुए वस्त्र की तरह त्याग दी गयी हूँ" इस विचार से अपार शोकपूरित होकर राजीमती शोकजलपूर्ण-कुम्भ की भाँति हो गयी[२]।

अपने स्वामी के जगज्जीवातु दर्शनों के पान से पुष्ट और अब उच्छ्वास व्याज से धूमायमान राजीमती का हृदय चूने की तरह फूट-फूट चूर्णित हो रहा था।[३] तत्पश्चात् वह अपनी विरहपूर्ण दीनावस्था का मार्मिक वर्णन करती[४] हुई मेघ से अपने हर्षवर्द्धक उन मुनीन्द्रश्रेष्ठ तक अपना सन्देश पहुँचाने का अनुरोध करती है[५] और कहती है कि जब वह भगवान् शमजन्य सुखरस के पान से चिदानन्द पूर्ण हो कुछ-कुछ आँखें खोलें, तभी तुम उनके चरणों में भ्रमरलीला करते हुए प्रियम्वद व अखिन्न होकर मृदुवचनों से सन्देश कहना[६] कि जो निष्पापा में ईश द्वारा पहले स्वीकर की जाकर स्त्रियों की मुकुटायित बना दी गयी थी, आज वही राजीमती आप द्वारा दूर हटायी जाने पर शोकरूपी क्षार-समुद्र से संगत होने से दुःखी चित्त वाली होकर आपसे निवेदन करती है।[७] इसप्रकार अन्त में राजीमती अपने स्वामी श्रीनेमि के प्रति अपना विस्तृत सन्देश बतलाती है।[८]

अपने इस सुदीर्घ सन्देश में राजीमती ने श्रीनेमि से अधिकाधिक रूप से जवाब-तलब ही किया है और अपने हृदय का उद्घाटन कम। फिर भी

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/३-४।
२. वही, ४/६।
३. वही, ४/७।
४. वही, ४/८-१०।
५. वही, ४/११।
६. वही, ४/१३।
७. वही, ४/१४।
८. वही, ४/१५-३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजीमती ने अत्युत्तम ढंग से व्यंजनापूर्ण शैली में अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यंजना की है। पर राजीमती की सखियाँ, उसकी विरहवेदना तथा उसके सन्देश-कथन को देखकर उसे बहुत समझाती हैं तथा इस सारे दोष का कारण मोह ही है, ऐसा बतलाती हैं।[1]

तत्पश्चात् राजीमती की सखियाँ राजीमती को अनायास उत्पन्न इस महामोह को बोधरूपी शस्त्र से नष्ट कर डालने का परामर्श देती हैं[2] और उसके बाद वे सखियाँ प्रभु श्रीनेमि की विशेषताओं का वर्णन करती हुई राजीमती को समझाती हैं कि–"हे बुद्धिमति ! रंगरहित पाषाणखण्डों को रंगीन बनाती हुई उस वरवर्णिनी को देख यह न विश्वास कर लो कि मैं भी तो वरवर्णिनी हूँ, अतः मैं भी भगवान् श्रीनेमि को राग-रंजित कर लूँगी, क्योंकि वह पाषाण तो नाम से ही चूर्ण है पर ये भगवान् श्रीनेमि, वह अकृत्रिम हीरा हैं, जिसे अधिक चटकीले रंगों से भी नहीं रंगा जा सकता है[4]।"

इस प्रकार राजीमती अपनी सखियों के उक्त वचनों को सुनकर शोक का त्याग कर देती है और अपने पति के ध्यान से सावधान बुद्धि-वाली होकर वह तन्मयत्व (स्वामिमयत्व) को प्राप्तकर, केवल-ज्ञान को प्राप्त, अपने स्वामी प्रभु श्रीनेमि की शरण में जाकर व्रतग्रहण कर लेती है और अपने स्वामी के ध्यान से स्वामी की ही तरह रागद्वेषादि से रहित होकर, स्वामी के प्रभाव से गिने हुए कुछ ही दिनों में परम-आनन्द के सर्वस्व मोक्ष का वरण कर अनुपम तथा अव्यय सौख्य-लक्ष्मी को प्राप्त कर शाश्वत् सुख का उपभोग करती है।

इस प्रकार शृङ्गारपरक इस दूतकाव्य का शान्तरस में पर्यवसान कर तथा तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ जैसे महापुरुष को अपने काव्य का नायक बनाकर आचार्य मेरुतुङ्ग ने रसज्ञ-जनों के समक्ष शान्त रस का एक अप्रतिम आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। यह शान्त रस ही एक मात्र ऐसा रस है, जो तृष्णाओं का क्षय करता है, मनुष्यों को मानव-धर्म की स्मृति

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/३८।
२. वही, ४/३९।
३. वही, ४/४०।
४. वही, ४/४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराता है तथा मानव-हृदय में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की विशुद्ध भावना उत्पन्न करता है। ऐसे ही सत्साहित्य से विशृङ्खलित हो रहे इस विश्व में विश्व-प्रेम की भावना भी प्रसरित होती है। हम देखते हैं कि इस दूतकाव्य में ऐसे ही सत्साहित्य विषयक, त्याग-प्रधान जीवन का अतिगूढ सन्देश भी छिपा हुआ है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् का कथा-शिल्प

(कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में)

जैनमेघदूतम्-काव्य की कथा-शिल्प सम्बन्धी विशेषताओं के स्पष्टीकरण हेतु हम यहाँ पर कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में उसका आकलन करने का प्रयत्न करेंगे। इस स्पष्टीकरण हेतु हम यहाँ पर कालिदासीय मेघदूत के साथ जैनमेघदूतम् की कथा-विषयक विभिन्नताओं का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न कर रहे हैं।

काव्य-शिल्प-विधान:

सर्वप्रथम कालिदासीय मेघदूत एवं जैनमेघदूत की कथावस्तु के शिल्प-विधान में ही पर्याप्त विभिन्नता मिलती है। प्रायः समस्त विद्वानों ने कालिदासीय मेघदूत को खण्डकाव्य स्वीकार कर लिया है। खण्डकाव्य के समस्त लक्षण इसमें प्राप्त भी होते हैं—"महाकाव्य के एक भाग का अनुसरण करने वाले काव्य को खण्डकाव्य कहते हैं। इसमें समूचा चरित्र वर्णित न होकर उसके एक ही भाग का वर्णन होता है।"[1]

खण्डकाव्य के इस लक्षण के आधार पर मेघदूत को खण्डकाव्य की कोटि में रखने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें यक्ष का समूचा चरित्र वर्णित न होकर मात्र उसकी वियोगावस्था का ही वर्णन हुआ है। अतः कालिदास का मेघदूत खण्डकाव्य की कोटि में स्पष्ट रूप से रखा जाता है। जबकि इसके विपरीत आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूत न तो पूर्ण रूप से खण्डकाव्य की सीमा में ही समाहित हो सका है और न महाकाव्य की ही सीमाओं तक पहुँच सका है।

इसीलिए जैनमेघदूतम् स्पष्ट रूप से न तो खण्डकाव्य ही कहा जा सकता है और न महाकाव्य ही।

खण्डकाव्य के लक्षणानुसार इसमें चरित्र के एकांश का वर्णन न होकर श्रीनेमि का समूचा चरित्र वर्णित मिलता है, अतः इसे महाकाव्य की श्रेणी

---

१. खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।
—साहित्यदर्पण, ६।३२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में रखने का प्रयास किया जा सकता है। परन्तु महाकाव्य के समस्त लक्षणों को यह दूतकाव्य पूर्ण नहीं कर पाता है। इसमें मात्र चार ही सर्ग हैं, जबकि एक महाकाव्य के लिए कम से कम आठ सर्गों का होना आवश्यक ही है।[1] वैसे महाकाव्य के कुछ अन्य लक्षणों को यह पूरा भी करता है, जैसे—सर्गबन्ध रूप इस दूतकाव्य में नायक देवविशेष श्रीनेमि ही हैं—उन्हीं का इसमें चरित्र भी प्रतिपादित है।[2] इस काव्य में शृङ्गार, वीर, शान्त रसों का समयोग तो है, परन्तु इनमें प्रधान कौनहै और गौण कौन है, यह निश्चय अति दुश्शक है; क्योंकि तीनों ही रस समभाव में विद्यमान हैं। अतः महाकाव्य का यह लक्षण इसमें लागू नहीं हो सकता है, अन्य सभी रस प्रधान रस को अपेक्षा गौण रूप से अभिव्यक्त होंगे।[3] इसी प्रकार महाकाव्य के अन्य लक्षण भी इसमें प्रतिपादित नहीं मिलते हैं, इसलिए इसे महाकाव्य की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता है।

इस काव्य को मात्र "काव्य" की ही कोटि में रखा जा सकता है, जिसमें ऐसी कोई शर्तें नहीं होती हैं। साहित्यदर्पणकार "काव्य" का लक्षण इस प्रकार देते हैं—"काव्य" पद्य-प्रबन्ध का वह प्रकार है, जो संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जा सकता है, इसमें सर्गों का बन्ध आवश्यक नहीं, साथ ही इसमें सन्धिपंचक भी अनिवार्य नहीं होता है। इसकी रूपरेखा "एकार्थप्रवण" अर्थात् एक वृत्त या चरित्र से सम्बद्ध हुआ करती है।[4] परन्तु जैनमेघदूतम् को मात्र "काव्य" कहने से हमारा मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पाता है, इसी कारण इसके दौत्यकर्म के आधार पर इसको कालिदासीय मेघदूत के समान ही "दूतकाव्य" से अभिहित किया गया है।

दौत्यकर्म में भिन्नता :

इन दोनों दूतकाव्यों में सम्पादित दौत्यकर्म भी परस्पर पूर्ण भिन्न हैं। हम देखते हैं कि कालिदासीय मेघदूत में जहाँ नायक यक्ष मेघ को दूत

---

१. नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
—साहित्यदर्पण, ६/३२०।

२. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः। —वही, ६/३१५।

३. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः॥ —वही, ६/३१७।

४. भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम्॥ —वही, ६/३२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में स्वीकृत करता है; वहाँ जैनमेघदूतम् में नायिका राजीमती मेघ को दूत के रूप में स्वीकार करती है। यक्ष मेघ के प्रति पूर्ण विश्वस्त है। मेघ यक्ष का यह सन्देश उसकी प्रिया तक पहुँचाता भी है। मेघ द्वारा यक्ष का सन्देश-सम्प्रेषण तथा उसका यक्षकान्ता के पास पहुँचना जानकर धनपति कुबेर का क्रोध शान्त हो जाता है और वे, दोनों (यक्ष-यक्षिणी) का सम्मिलन करवा देते हैं। इस प्रकार कालिदासीय मेघदूत का मेघ अपना दौत्यकर्म पूरा करता है। जबकि जैनमेघदूतम् में राजीमती सचेत होकर मेघ को दूत के रूप में चुनकर उसका स्वागत करती है और फिर अपना सन्देश सुनाने लगती है। काव्य की समाप्ति तक वह मेघ को अपने सन्देश में, श्रीनेमि का पूरा चरित्र ही सुना डालती है। अन्त में सखियों के वचनों को ग्रहण कर श्रीनेमि के पास स्वयं पहुँच जाती है और उनके साथ स्वयं भी वीतराग-भावना से मोक्ष का वरण कर लेती है।

इस काव्य के दौत्यकर्म के विषय में हम देखते हैं कि मेघ, राजीमती का सन्देश ही सुनता रह जाता है। वह उसका सन्देश लेकर, कालिदास के मेघ के समान श्रीनेमि के पास तक पहुँचता ही नहीं, नेमि के पास जाकर सन्देश सुनाना तो बहुत ही दूर रहा। इस प्रकार जैनमेघदूतम् में मेघ का दौत्यकर्म अधूरा ही रह जाता है।

कालिदास और मेरुतुङ्ग दोनों ने अपने-अपने काव्यों में मेघ का पर्याप्त महत्त्व व तद्विषयक बहुविध ज्ञान प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास के अन्तर्गत दोनों कवियों ने मेघ के मनोवैज्ञानिक एवं प्राकृतिक प्रभावों को स्पष्ट किया है।

मनोवैज्ञानिकता :

साधारणतः सामान्य मेघ-दर्शन भी प्रत्येक सहृदय मानव-चित्त को विकृत कर देता है, फिर आषाढ के प्रथम दिन के मेघ का क्या कहना! तभी न, आषाढ के इस प्रथम दिन के मेघ को देखकर यक्ष भी सुस्थिर न रह सका[१]। यक्ष की इस अस्थिरता के प्रति कालिदास ने, मानव-स्वभाव पर पड़ने वाले मेघ के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को वर्णित करते हुए कहा है कि जब उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाला यह मेघ सुखी व्यक्ति के चित्त को विकृत कर देता है, तब भला यक्ष का चित्त कैसे अविकृत रह जाता, वह तो आठ माह से अपनी प्रिया से दूर विरहाग्नि में जल रहा था[२]।

---

१. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्व मेघ, २।

२. वही, ३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरह-सन्तप्त मानव-चित्त को दुःखी करने वाले मेघ के इसी मनोवैज्ञानिक प्रभाव को जैनमेघदूतम् में मेरुतुङ्ग ने **"एकं तावद्विरहिहृदय-द्रोहकृन्मेघकालो"**[1] कहकर स्पष्ट किया है। विरहिणी स्त्रियों को इस मेघकाल में होने वाले कष्ट का, जैनमेघदूतम् के एक स्थल पर अति मनोवैज्ञानिक चित्रण है—"वर्षाकाल में स्वभाव से ईर्ष्यालु स्त्रियाँ अपने शोक को उत्पन्न करने वाले मेघ से जो ईर्ष्या करती हैं, वह ठीक ही है। क्योंकि नीलतुल्य जब यह मेघ श्याम वर्ण हो जाता है, तो वे भी मुख को श्याम बना लेती हैं (मुख मलिन होने से श्याम हो जाता है)। जब यह मेघ बरसता है तो वे भी अश्रु बरसाती हैं। जब यह मेघ गरजता है, तो वे भी चातुर्यपूर्ण कटु-विलाप करती हैं और जब यह मेघ विद्युत् चमकाता है, तो वे भी उष्णनिःश्वास छोड़ती हैं[2]।"

प्रायः देखा जाता है, इन मेघों के आते ही समस्त जीव-जन्तु, प्राणी आदि प्रसन्न हो जाते हैं। यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य ही है। इसी मनोवैज्ञानिकता को दोनों काव्यों में व्यक्त किया गया है। मेघ के आते ही वे स्त्रियाँ, जिनके पति विदेश में होते हैं, उन मेघों को बहुत व्यग्रतापूर्वक देखती हैं; कारण उनके पतियों के आगमन के वे पूर्व-सूचक जो होते हैं।[3] जबकि जैनमेघदूतम् में ये ही मेघ, राजा और प्रजा के लिए प्रसन्नतादायक हैं; क्योंकि राजा और प्रजा दोनों इस मेघ पर ही बहुत अंश तक आश्रित हैं।[4] इन मेघों के आते ही मयूरी भी अपने प्रिय के साथ संयोग की पूर्व-कल्पना से नाच उठती है।[5] मेघ-आगमन पर समस्त प्राणियों की मनोवैज्ञानिक-स्थिति का कितना विचित्र दिग्दर्शन हुआ है—कालिदासीय मेघदूत एवं जैनमेघदूत में। सामान्यतः मेघ के गर्जन और उसकी विद्युत्-चमक से प्रत्येक व्यक्ति एक बार काँप ही जाता है और उसके नेत्र अनायास एक बार निमीलित ही हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघागमन से प्राणियों पर होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावों का, मेघदूत एवं जैनमेघदूतम् दोनों ही काव्यों में सूक्ष्मता के साथ चित्रण हुआ है, जो प्रशंसनीय है।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/४।
२. वही, १/६।
३. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, ८।
४. जैनमेघदूतम्, ३/२४।
५. वही, ४/९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृतिक-चित्रण :

कालिदासीय मेघदूत एवं जैनमेघदूत दोनों काव्यों में कवियों ने, वर्षा-कालीन लक्षणों से सुशोभित मेघ का सविधि चित्रण किया है। ये समस्त चित्र पूर्णतया प्रकृतिगत ही हैं। आषाढमासीय इस मेघ की शक्तिशालिता के प्रति तर्क देते हुए आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में कहा है कि शुचि-आषाढ यह मेघ, आषाढ मास में उत्तरदिशा से प्रसरित वायु द्वारा पुष्टि को प्राप्त करता है।[१] आगे जैनमेघदूतम् में बलाकासमूहों से सुशोभित मेघ को चित्रित किया गया है।[२] ऐसी ही प्राकृतिक मेघ-शोभा का चित्रण कालिदास ने कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि वर्षाकाल आते ही इन मेघों को देख, प्रसन्न-चित्त पपीहा मधुर शब्द करने लगता है। बगुलियाँ आकाश में पंक्तिबद्ध होकर मेघ का आश्रय ले लेती हैं।[३] मानसरोवर जाने को उत्कण्ठित राजहंस, मृणाल के अग्रभाग के टुकड़ों को लेकर आकाश में मेघ के सहचर हो जाते हैं।[४] हर्षाश्रुओं से युक्त नेत्रोंवाले मयूर, अपने तीव्र कण्ठ-स्वरों से मेघ का स्वागत करते हैं।[५]

मेघाच्छादित आकाश में चमकता बहुरंगी इन्द्रधनुष, प्रायः सभी को आकर्षित ही कर लेता है। फिर इस रंग-बिरंगे इन्द्रधनुष से मण्डित श्याम वर्ण मेघ की शोभा तो अवश्य ही अतुलनीय होगी। इसी बात को दोनों काव्यों में चित्रित करने की अपनी-अपनी शैली अति सुन्दर ढंग से व्यक्त की गयी है।[६] सामान्यतः देखने में आता है कि धारावृष्टि कर मेघ के चले जाने पर भी लोग मेघ की ओर निहारा करते हैं, वृष्टि की और भी इच्छा से। इसी आशय को जैनमेघदूतम् में व्यक्त किया गया है कि धारावृष्टि कर चले जाने पर भी प्रजा पुनः वर्षानक्षत्र आने तक उसकी आशा लगाये रहती है।[७] कालिदास का बहुरंगी इन्द्रधनुष से सज्जित श्याम मेघ का चमकता स्वरूप, बरबस मयूरपिच्छधारी श्रीकृष्ण की स्मृति कराता मिलता है[८]

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२१।
२. वही, १/३५।
३. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, ९।
४. वही, ११।
५. वही, २२।
६. वही, २१ (१), २७।
७. जैनमेघदूतम्, ३/५५।
८. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, १५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इधर मेरुतुङ्ग का वही इन्द्रधनुष से मण्डित कृष्ण-कान्ति-युक्त मेघ का मनोहर स्वरूप, बहुविध पुष्पों से ग्रथित माला को धारण किये हुए श्रीनेमि को स्मृति दिलाता मिलता है।[1] इसी प्रकार मेघदूत के एक स्थल पर कवि ने शुभ्र कैलाश पर्वत पर अधिष्ठित, सूक्ष्म पीसे गये कज्जल सदृश कृष्ण मेघ की मनोहारी छटा को कृष्णवस्त्रधारी गौरवर्णवाले श्रीबलराम जी की शोभा के सदृश बताया है।[2]

वैज्ञानिकता :

मनोवैज्ञानिक प्रभावों के साथ ही साथ कालिदास ने मेघ का वैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने मेघ का पूर्णतया रासायनिक विश्लेषण करते हुए कहा है कि यह मेघ धूम्र, तेज, जल और वायु के समग्र समूह रूप है।[3] कालिदास की यह व्याख्या, कालिदास को रसायनशास्त्र में भी निपुण सिद्ध करती है। इसके विपरीत आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में ऐसी कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। अतः इस विषय में मेरुतुङ्ग का मौन रहना, मेरुतुङ्ग को रसायनशास्त्र के प्रति अनभिज्ञ सिद्ध करता है। इसके साथ ही जैनमेघदूतम् में कवि ने मेघ के वंश आदि का भी रंचमात्र उल्लेख नहीं किया है। अतः जैनमेघदूतम् का कवि मेघशास्त्र के प्रति अनभिज्ञ था, ऐसा प्रतीत होता है। जबकि कालिदास मेघशास्त्र के प्रति पूर्ण विज्ञ प्रतीत होते हैं।

हम देखते हैं कि जहाँ मेघ की मनोवैज्ञानिक एवं प्राकृतिक सुषमा का दोनों काव्यों में अत्यन्त रमणीक दर्शन होता है, वहाँ मेघ के वैज्ञानिक महत्त्व के विषय में दोनों काव्य साम्यता स्थापित नहीं रख सके हैं।

मेघ-महत्त्व-प्रतिपादन :

जैनमेघदूतम् में कवि द्वारा मेघ-महत्त्व को अवश्य प्रतिपादित किया गया है। जैसे राजहंस-राजहंसी सरोवर की सेवा करते हैं, वैसे ही गर्जन और विद्युत् आपकी सेवा करते हैं।[4] यह मेघ अतिनम्र, त्रिरूपधारी देव के समान अपने सिंचन-सत्त्व से अखिल-विश्व की सृष्टि करने वाला, अपने सत्त्व के अभाव से विश्व का क्षय करने वाला है एवं अपने सत्त्व के

---

१. जैनमेघदूतम्, २/१९।
२. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, ५९।
३. वही, पूर्वमेघ, ५।
४. जैनमेघदूतम्, १/१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षण से विश्व का पालन करने वाला है।[१] यह मेघ असाध्य उपकारों को करने वाला, अपने दान से कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि को भी परास्त करने वाला एवं जगत् की जीवन-लक्ष्मी (जल-विद्युत् आदि) को धारण करने वाला है। भला कौन है, जो इसको देखकर अपनी आँखों को विशाल नहीं बना लेता है।[२] स्वभावसुन्दर इस मेघ का आबालवृद्ध सभी मन्त्र के समान स्मरण करते हैं। विश्व-स्रष्टा ने समस्त प्राणि-सृष्टि मेघ के ही अधीन सन्निहित कर दी है।[३] कालिदास ने मेघ के ऐसे महत्त्व एवं महिमा आदि के विषय में किंचित्मात्र भी नहीं लिखा है। हाँ! उन्होंने अपने काव्यगत मेघ को लोकविख्यात पुष्कर और आवर्तक नाम वाले उच्च मेघवंश में उत्पन्न तथा उसे इन्द्र का प्रधान अवश्य कहा है।[४] अतः जैनमेघदूत एवं मेघदूत में जहाँ मेघ-विषयक कुछ साम्यताएँ मिलती हैं, वहीं कुछ विषमताएँ भी उपलब्ध होती हैं।

काव्य-नायक-विचार :

कालिदासीय मेघदूत और जैनमेघदूत दोनों ही काव्यों के नायकों में भी पर्याप्त विभिन्नता प्राप्त होती है। मेघदूत का नायक यक्ष एक देवयोनि विशेष का है। अमरकोश की एक उक्ति के अनुसार देवताओं के आठ भेद हैं—ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच।[५] इन आठ देव-भेदों में यक्ष-योनि भी एक है। मेघदूत का नायक इसी यक्ष-योनि विशेष का है। इस यक्ष का नाम "हेममाली" है। यह यक्ष उस अलकानगरी का नागरिक है, जो स्वर्ग के समान केवल भोगभूमि है, कर्मभूमि नहीं। जबकि जैनमेघदूतम् का नायक एक देव विशेष है। वह हरिवंश के दशार्हों में प्रथम श्रीसमुद्र का पुत्र है। जो इस भू-खण्ड पर

---

१. जैनमेघदूतम्, १/११।

२. वही, १/१२।

३. वही, १/१३।

४. जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
—मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, ६ (पूर्वार्द्ध)।

५. विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥
—अमरकोश, १।१/११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाईसवें जिनपति भगवान् कहे जाते हैं।[1] अतः मेघदूत के यक्ष के समान जैनमेघदूतम् के नायक श्रीनेमि भी भोगयोनि ही हैं।

मेघदूत का नायक यक्ष अपनी प्रिया के साथ भोग-विलास में इतना रमा हुआ था कि उसे अपने कर्तव्य का भी बोध न रहा और कर्तव्यच्युत होने के कारण ही उसे यक्षपति कुबेर के शाप-वश एक वर्ष का प्रिया-विहीन प्रवास प्राप्त हुआ।[2] अतः यहाँ यह पूर्ण स्पष्ट होता है कि यक्ष का यह प्रवास, बलात् दिया गया प्रवास था, स्वयमेव अपने मन से लिया गया प्रवास नहीं। जबकि जैनमेघदूतम् के नायक श्रीनेमि, स्वयं चिदानन्द सुख-प्राप्ति हेतु समस्त पाप-व्यापारों की मूलकारण कान्ता (राजीमती) का त्यागकर पर्वतश्रेष्ठ रैवतक पर प्रवास ग्रहण करते हैं।[3]

नायक-सम्बन्धी प्रवासमूलक कारण :

दोनों काव्य-नायकों का प्रवासमूलक कारण भी पूर्णतया भिन्न है। जहाँ मेघदूत का नायक यह प्रवासकाल प्रमादवश भोगता है, वहाँ जैनमेघ-दूतम् के नायक श्रीनेमि यह प्रवास स्वेच्छापूर्वक भोगते हैं। इस विषय में विशेष ध्यातव्य है कि कालिदासीय मेघदूत का नायक यक्ष जहाँ अपना प्रवासकाल पूर्ण कर पुनः अपनी प्रिया का समागम प्राप्त करता है, जैसा कि मेघदूत के अन्तिम प्रक्षिप्त श्लोक से विदित होता है[4], वहाँ जैनमेघदूत के नायक श्रीनेमि, अपने ही साथ काव्य-नायिका राजीमती को भी मोक्ष का वरण करवाते हैं।[5]

भौगोलिकता :

कालिदासीय मेघदूत का नायक यक्ष जहाँ अपने सन्देश में, मेघ का सर्वप्रथम स्वागत-सत्कार कर उसको, अपनी प्रिया के पास जाने का मार्ग

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१५।

२. मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ, १।

३. जैनमेघदूतम्, १/१।

४. श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायाऽस्तकोपः।
संयोयैज्तौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्ठानविरतसुखं भोजयामास शश्वत्॥
—मेघदूतम् : कालिदास, उत्तरमेघ (२) ५४।

५. सध्रीचीनां वचनरचनामेवमाकर्ण्यसाऽथो।
पत्युर्ध्यानादवहितमतिस्तन्मयत्वं तथाऽऽपत्॥
—जैनमेघदूतम्, ४/४२ (पूर्वार्द्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बतलाता है; वहाँ जैनमेघदूतम् की नायिका राजीमती मेघ का स्वागत कर उसको, अपने स्वामी श्रीनेमि का जीवन-चरित्र बतलाती है। यही कारण है कि कालिदासीय मेघदूत में जहाँ अतिशय भौगोलिक वर्णन मिलता है, वहाँ जैनमेघदूतम् में श्रीनेमि की जन्मावस्था, बाल्यावस्था एवं युवावस्था का चित्रण मिलता है। भौगोलिकता के क्षेत्र से जैनमेघदूतम् बहुत परे है। जब कि मेघदूत का भौगोलिक वर्णन, काव्य-रसिक के समक्ष पूर्णतया एक रेखाचित्र ही उपस्थित करता मिलता है।

मेघदूत में मेघ को किस-किस मार्ग का अवलम्बन करना होगा और उसे क्या-क्या और कौन-कौन दृश्य देखने होंगे, उन सबका एक-एक करके यक्ष पूर्वमेघ में सविस्तार वर्णन करता है। रामगिरि से उत्तराभिमुख होकर[१] जाते-जाते आम्रकूट पर्वत[२], नर्मदा नदी[३], विदिशा नगरी[४], वेत्रवती नदी[५], मालव की राजधानी उज्जयिनी[६] और धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र[७] आदि इन सबका अतिक्रमण कर मेघ को अपने वासस्थल अलका पहुँचने का यक्ष निर्देशन करता है। इस प्रकार मेघदूत में अत्यन्त गहन भौगोलिक वर्णन मिलता है। जबकि जैनमेघदूतम् में एक भी स्थल पर भौगोलिक वर्णन नहीं उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर दोनों काव्यों के शिल्प-विधान एवं दौत्यकर्म में विभिन्नता ही दृष्टिगोचर होती है। जहाँ कालिदासीय मेघदूत

---

१. स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं।
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥
—मेघदूतम् : कालिदास, पूर्वमेघ १४ (उत्तरार्द्ध)।

२. त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना।
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः॥ —वही, १७ (पूर्वार्द्ध)।

३. रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥ —वही, १९ (उत्तरार्द्ध)।

४. तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं।
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा॥ —वही, २४ (पूर्वार्द्ध)।

५. तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्।
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥ —वही, २४ (उत्तरार्द्ध)।

६. वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां।
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः॥ —वही, २७ (पूर्वार्द्ध)।

७. ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः।
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः॥ —वही, ४८ (पूर्वार्द्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोवैज्ञानिकता पूर्ण प्राकृतिक-चित्रण के प्रतिपादन में विशिष्ट दिखता है, वहाँ जैनमेघदूतम् मनौवैज्ञानिकता के साथ ही साथ ग्रीष्म, शीत, वसन्त आदि ऋतुओं के भी वर्णन को प्रस्तुत करते हुए प्राकृतिक-चित्रणों को प्रस्तुत करता है। दोनों काव्यों में मेघ का महत्त्व भी प्रतिपादित है। दोनों काव्यों में काव्य-नायकों के प्रवासमूलक कारणों के सम्बन्ध में पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इसी के साथ ही कालिदासीय मेघदूत जहाँ काव्य में वर्णित क्षेत्र की भौगोलिकता को भी सुस्पष्ट करता मिलता है, वहाँ मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् इस विषय में किंचिदपि वर्णन नहीं करता है।

इस प्रकार कालिदासीय मेघदूत के कथा-शिल्प के परिप्रेक्ष्य में जब हम जैनमेघदूतम् के कथा-शिल्प पर सम्यक् दृष्टिपात करते हैं तो हमें जो स्पष्ट होता है, उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि कालिदासीय मेघदूत में नायक यक्ष मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजता है, जबकि मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में नायिका राजोमती मेघ को दूत बनाकर अपने प्रिय के पास सन्देश भेजती है। मेघदूत में मेघ को गन्तव्य मार्ग भी विधिवत् बतलाया गया है, जबकि जैनमेघदूतम् में मेघ को गन्तव्य मार्ग न बताकर नायक श्रीनेमि का—जन्म से लेकर विवाह हेतु द्वार तक जाने का—विस्तृत जीवन-चरित बतलाया गया है। कालिदासीय मेघदूत का यक्ष अपने सन्देश में जहाँ अपने विरह-कातर हृदय की व्यथा सुनाता मिलता है, वहाँ मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् की नायिका राजीमती ने अपने सुविस्तृत सन्देश में श्रीनेमि को अधिक उपालम्भ (ताने) ही दिया है, अपनी मनोव्यथा का उद्घाटन कम।

मेघदूत का नायक यक्ष जहाँ अलकानगरी में स्थित निज प्रियतमा हेतु अति आतुर मिलता है, वहाँ जैनमेघदूतम् के नायक श्रीनेमि निज भार्या सहित समस्त भोग-ऐश्वर्य को त्याग, योगासक्त हो रैवतक पर्वत पर "केवल-ज्ञान" प्राप्ति हेतु उत्सुक मिलते हैं। मेघदूत का यक्ष जहाँ सांसारिक भोग-विलास में ही जीवन का सच्चा उपयोग सिद्ध करता मिलता है, वहाँ जैनमेघदूतम् के नायक श्रीनेमि भोग-विलास में आसक्त एवं शरणागत राजीमती को भी अपने साथ ही शाश्वत-आनन्द के सर्वस्व मोक्ष का वरण करवाकर अनुपम तथा अव्यय सौख्यलक्ष्मी को प्राप्त करवाते मिलते हैं। श्रीनेमि में मानवता का वह उच्चादर्श मिलता है, जिसे भगवत्-तत्त्व कहा जा सकता है और जो एकमात्र साधक द्वारा ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्य है। इसीलिए सखियों द्वारा बहुविध समझाई जाने पर अपनी कामजनित मोह-पीड़ा का बोध रूपी शस्त्र से हनन कर राजीमती जब श्रीनेमि के पास पहुँचती है, तो वे रैवतक पर्वत (पिण्ड के आध्यात्मिक जगत्) के उच्चतम शिखर (आनन्दमय कोश के उच्चतम स्तर) पर तप में लीन मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त मेघदूत जहाँ प्रत्यक्षतया सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति मानव-आसक्ति को अभिप्रेरित करता है, वहाँ जैनमेघदूतम् प्रत्यक्षतया लोक-जीवन का परिमार्जन कर उसको एक अध्यात्मपरक दृष्टि प्रदान करता है एवम् परोक्षतया काव्य-धरातल पर निर्वेद की रसपूर्ण अभिव्यंजना करता है, साथ ही जैन धर्म व दर्शन का व्याख्या भी करता है।

इस तरह दोनों काव्यकारों का दृष्टिकोण परस्पर पूर्णतया भिन्न-भिन्न ही है। कालिदास जहाँ सांसारिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में संलीन हैं, वहाँ मेरुतुङ्ग आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में संलीन हैं। अतः यदि सांसारिक चित्तवृत्तियों की दृष्टि से देखा जाय तो कालिदासीय मेघदूत सर्वोत्तम है और यदि आध्यात्मिक चित्तवृत्तियों की दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूतम् सर्वोत्तम है। यहाँ हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि सांसारिक भोगोपभोगों से मानव को दैहिक शान्ति कुछ बहुत चाहे अवश्य मिल जाये परन्तु उस शान्ति से वह पूर्ण तृप्त नहीं हो पायेगा; पूर्ण शान्ति के लिए तो उसे अपनी आध्यात्मिक चित्तवृत्तियों को ही शान्त करना होगा साथ ही इस नेक कार्य में अवलम्बन का हेतु भी कोई नेक आध्यात्मिक परिपाक से पुष्ट काव्य ही होगा और इसके लिए आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् पूर्णतया उपयुक्त होगा।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में रस-विमर्श

रस : सामान्य परिचय :

समस्त प्राणिजाति जन्म से रस के अभिमुख रही है। मानव तो क्या मानवेतर जीवों में भी सुख-दुःख की अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। फिर तो इस रस का निरन्तर विकास एवं परिवर्तन के अटूट मार्ग पर अग्रसरित होते रहना और मानव-जाति में इसकी अजस्रधारा प्रवाहित होना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि रस की इस परम्परा को—जो कि मानव द्वारा सभ्यता के प्रथम विहान में पदार्पण करने के बहुत पहले से ही चली आ रही थी—वाणी में उसी प्रकार से नहीं उतारा जा सका था, जिस प्रकार आज उसका प्रयोग किया जा रहा है। वैदिक काल के पूर्व भी मानव प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द आनन्द अवश्य ही लेता रहा होगा। उसकी कृपा से तथा संत्रास से सुखी एवं दुःखी भी अवश्य होता रहा होगा। परन्तु वैदिक कवि तो आनन्द-विभोर होकर ही रस की शक्ति का गान करता रहा है—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्[1]।

(विविध वाक्-कौशलों की प्रधानता होते हुए भी इसकी (महाकाव्य की) आत्मा तो रस ही हैं।) यहाँ अग्निपुराणकार स्पष्ट रूप से कह रहा है कि आत्मा रस ही है—अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से रस की ही महत्ता असन्दिग्ध है। इसी प्रकार समस्त वैदिक रचनाओं में कवित्व की पूर्णता एवं सरसता का पूर्ण साम्राज्य है। क्योंकि याग आदि में वैदिक-मन्त्रों का गान होता ही था, जो कि अत्यन्त सरस होता है। फिर भी वैदिक-काल में रस की जैसी स्थिति व मान्यता थी, उससे बहुत बदले हुए रूप में आज वर्तमान समय में रस की मान्यता स्थापित है। वर्तमान में तो रस को ब्रह्मानन्द का ही वाचक मानते हैं।

---

१. अग्निपुराण, ३३७/३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्यशास्त्र में रस का अर्थ है—काव्यसौन्दर्य और काव्यानन्द या काव्यास्वाद। यही काव्यानन्द ही मूल रूप से हमारा अभिप्रेत रस है और वर्तमान में प्रकथित ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द का वाचक है।

काव्य के श्रवण या पठन से श्रोता या पाठक के चित्त में जो एक विचित्र प्रकार का विलक्षण आनन्द उत्पन्न होता है—वही रस है। व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार "रस" शब्द का अर्थ होता है—वह वस्तु विशेष, जिसका आस्वादन किया जा सके—

रस्यते-आस्वाद्यते इति रसः

यह रस विभावादि भावों के संयुक्त संयोग द्वारा निष्पन्न होता है, जैसा कि नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतमुनि ने स्पष्ट किया है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

(विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी (भावों) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् तीनों भावों के संयोग से स्थायीभाव रस रूप में परिणत होता है।) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भोजन के रस-वेत्ता अनेक पदार्थों से युक्त व्यञ्जनों का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार अनेक भाव तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदय-जन-मानस आस्वादन करते हैं[२]। यह स्थायीभाव ही "रस" रूप को प्राप्त होता है।

इस प्रकार विभावादि द्वारा अभिव्यंजित होने पर स्थायीभाव ही रस के रूप में परिणत हो जाता है और तब वह रस अलौकिक आनन्द का जनक बन जाता है। इसी को कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है कि जब यह विभावादि भाव काव्य, सङ्गीत, रंग आदि की सहायता से रंग-मंच पर अभिनीत किया जाता है या पढ़ा जाता है, तब उस समय प्रेक्षक या पाठक के चित्त में वासना रूप में स्थित रति स्थायीभाव जागृत होकर उस चरम-सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है, जहाँ पर प्रेक्षक या पाठक वीतविघ्न होकर अर्थात् देश-कालादि का विस्मरण न करते हुए प्रस्तुत प्रसंग में तन्मय हो जाने से आत्मविश्रान्तमय आनन्द में विभोर हो जाता है—यही आनन्द चेतना रस है।

इस चेतनानन्द रूप रस की एकता और अनेकता के विषय में भारतीय काव्य-चिन्तन ने पर्याप्त चर्चा तो की है, परन्तु आज वह गौण ही है।

---

१. नाट्यशास्त्र, ६/३३।

२. वही, ६/३४, ३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि प्रायः समस्त प्राचीन आचार्यों ने घूम-फिर कर यह मान लिया है कि नवरस की ही प्रकल्पना समीचीन है। इन गम्भीरचेता आचार्यों ने रस-संख्या को विशेष महत्त्व नहीं दिया, इसीलिए जहाँ एक ओर सभी रसों को एक ही रस में समाहृत करने के प्रयत्न किये गये, वहीं दूसरी ओर भावों की अनन्तता के आधार पर रसों की अनन्तता भी सिद्ध की गयी। इसका प्रबल प्रमाण यही है कि आचार्य भोज ने दोनों दिशाओं में युगपत् प्रयत्न किया है—"रस संख्या एक भी है और अनन्त भी[1]।"

जैनमेघदूतम् में रस :

जैनमेघदूतम् के रस-विवेचन के सम्बन्ध में कोई एक सुनिश्चित आधार नहीं उपलब्ध होता है। वैसे यह दूतकाव्य शृंङ्गार रस के दोनों पक्षों—संयोग-शृङ्गार रस एवम् विप्रलम्भ-शृङ्गार रस—की पृष्ठभूमि लेकर रचा गया है, फिर भी जैनदूतकाव्यों में उपलब्ध होने वाली एक विशेषता इस दूतकाव्य में भी मिलती है। वह है—इन जैन कवियों द्वारा अपने दूत-काव्यों में शृङ्गार आदि रसों के अतिरिक्त शान्त रस की प्रस्तुति। यही विशेषता इस जैनमेघदूतम् काव्य में भी देखने को मिलती है। संयोग-शृङ्गार रस एवं विप्रलम्भ-शृङ्गार रस के वातावरण में जैनमेघदूतम् की काव्य-रचना प्रारम्भ कर और फिर उसे शृङ्गारिकता की चरम-कोटि तक पहुँचाकर, पुनः शनैः-शनैः धार्मिकता का पुट प्रदान करते हुए उसमें शान्त रस की स्थापना कर दी गयी है। यही कारण है कि जैनमेघदूतम् काव्य जहाँ एक ओर शृङ्गार रस के उभय पक्ष—संयोग एवं विप्रलम्भ—का प्रतिपादन करता मिलता है, वहीं दूसरी ओर शान्त रस का भी पूर्णतः दिग्दर्शन करवाता मिलता है।

फलतः जैनमेघदूतम् में संयोग एवं विप्रलम्भ रूप उभय पक्ष सहित शृङ्गार रस एवं शान्त रस की स्थिति एक समान ही दृष्टिगत होती है। जैनमेघदूतम् का शृङ्गार रस अपने उभय पक्षों (संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार) के द्वारा जहाँ नायक-नायिका के शृङ्गारिक क्रिया-कलापों एवं विरह-कातरहृदय की मर्मस्पर्शी वेदना की अभिव्यञ्जना करता है, वहीं जैन-मेघदूतम् का शान्त रस जीवन-व्यापी सत्यता को अभिव्यञ्जित करता है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार : साहित्यदर्पणकार के अनुसार विप्रलम्भ-शृंङ्गार रस के चार प्रकार हैं—(१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण—

---

१. रस-सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ० २७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।[1]

इनमें से कोई भी विप्रलम्भ-प्रकार पूर्णरूप से जैनमेघदूतम् में सन्निविष्ट नहीं हो पा रहा है। वैसे इस दूतकाव्य में विप्रलम्भ-शृङ्गार के समस्त प्रसङ्ग राजीमती से सम्बन्धित हैं। राजीमती अपने प्रियतम श्रीनेमि को मात्र गवाक्ष से देखती भर है[2] कि उनके विरक्त होकर चले जाने का समाचार सुनकर ही मूर्च्छित हो जाती है[3] और फिर सचेत होकर अपने उन्हीं स्वामी की स्मृति से हो रही अपनी मनोव्यथा का कथन मेघ से करती है। इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य यह है कि राजीमती अपने उन स्वामी श्रीनेमि के प्रति अधिक आकर्षित हुई है, जो विवाह-मण्डप में उसको त्यागकर चले गये हैं। साथ ही अन्त में उसका यह स्वामि-आकर्षण नष्ट भी हो जाता है—श्रीनेमि को केवल-ज्ञान की प्राप्ति के कारण। अतः यहाँ पर विप्रलम्भ-शृङ्गार रस का प्रथम उपभेद पूर्वराग कुछ अंशों में स्पष्ट हो रहा है।

साहित्यदर्पणकार ने पूर्वराग-विप्रलम्भ-शृङ्गार रस का लक्षण दिया है कि पूर्वराग का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का, जो कि उनके समागम के पूर्व की दशा हुआ करती है। रूप-सौन्दर्यादि का श्रवण तो दूत, बन्दी, सखी आदि के मुख से सम्भव है और दर्शन सम्भव है इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात्-दर्शन में—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते॥
श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतबन्दिसखीमुखात्।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्[4]**॥**

पूर्वराग-विप्रलम्भ-शृङ्गार रस के इस लक्षण के आधार पर जब जैनमेघदूतम् में विप्रलम्भ-शृङ्गार रस-सम्बन्धी विचार करते हैं, तो मिलता है कि यहाँ राजीमती ने अपने स्वामी श्रीनेमि का गवाक्ष से साक्षात् दर्शन किया है[5]। इस साक्षात् दर्शन के हो जाने के कारण ही राजीमती

---

१. साहित्यदर्पण, ३/१८७।
२. जैनमेघदूतम्, ३/३७।
३. वही, ३/५१।
४. साहित्यदर्पण, ३/१८८, १८९।
५. जैनमेघदूतम्, ३/३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के हृदय में अपने प्रिय-सम्बन्धी पूर्वरागमूलक विप्रलम्भ-शृङ्गार रस उद्-भूत होता है। राजीमती की यह दशा समागम के पूर्व की ही दशा है, क्योंकि अभी उसने श्रीनेमि का दर्शन मात्र ही प्राप्त किया है। अतः पूर्व-राग की स्थिति किञ्चित् अंशों में तो यहाँ घटित हो रही है, परन्तु यहीं पर पूर्वराग के ही प्रथम लक्षणानुसार नायक-नायिका परस्पर अनुरक्त नहीं हैं। यहाँ नायक तो पूर्णरूपेण रागशून्य है और मोक्ष का वरण करने हेतु स्वयं ही रैवतक पर्वत पर जा बैठा है। अतः यहाँ पर नायक-नायिका का अनुराग एकपक्षीय है। मात्र राजीमती अपने प्रिय स्वामी नायक श्रीनेमि से मिलने को आतुर है। इसलिए जैनमेघदूतम् का विप्रलम्भ शृङ्गार रस अपने प्रथम उपभेद पूर्वराग से किञ्चित् अंशों में सम्बद्ध है।

जैनमेघदूतम् काव्य का प्रारम्भ वियोग की अतिकारुणिक स्थिति से होता है। नायक श्रीनेमि विवाह-भोज के लिए काटे जाने वाले पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर विरक्त हो जाते हैं और विवाह-स्थल से तत्काल ही वापस होकर पर्वतश्रेष्ठ पवित्र रैवतक पर आत्म-शान्ति एवं आध्या-त्मिक सुख-प्राप्ति हेतु चले जाते हैं। श्रीनेमि के वैराग्य-धारण की सूचना पाते ही कामपीडिता राजीमती मूर्च्छित हो जाती है[1]। उसका अंग-अंग इस समाचार से हिल उठता है। सखियों के शीतोपचार द्वारा किसी प्रकार चेतना वापस लाये जाने पर राजीमती, हृदय में तीव्र उत्कण्ठा को उत्पन्न करने वाले मेघ को देखकर सोचती है कि एक तो विरहिणियों के हृदय में द्रोह उत्पन्न करने वाला वर्षाकाल, दूसरा यह स्वभाव से कुटिल तारुण्यप्रवेश, तीसरा यह कि हृदयवल्लभ श्रीनेमि भोग से विरक्त हो चुके हैं और चौथा यह कि मेरा मन धर्मोचित मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है। हाय! क्या होना है[2]?

राजीमती की कितनी तीव्र विरह-व्यथा वर्णित है। वह अपने जैसी अन्य विरहिणी स्त्रियों को मेघ के सदृश बतलाती है। वर्षाकाल में श्यामवर्ण यह मेघ जब बरसता है तो वे भी अपने मुख को श्याम बना लेती हैं और अश्रु बरसाती हैं। जब यह मेघ गरजता और विद्युत् चमकाता है तो वे भी कटुविलाप करती हैं और उष्ण-निःश्वास छोड़ती हैं।[3] राजीमती सर्वप्रथम मेघ को देखकर उसके समक्ष अपने अन्तस्तल से

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२।
२. वही, १/४।
३. वही, १/६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्भूत मनोभावों का प्रकटन करती है, तत्पश्चात् मेघमाला सदृश प्रभूत अश्रुधारा प्रवाहित करती हुई अतिदीन होकर मेघ का स्वागत करती है।[1]

भूषितसर्वाङ्ग श्रीनेमि को कानन जाते हुए देखते ही[2] राजीमती का मुख—यह सोचकर कि अब मैं उनके द्वारा कीचड़ से गीले हुए वस्त्र की भाँति त्याग दी गयी हूँ—उष्ण-निश्वासों तथा अश्रुजल-धारा से पूरित हो गया—

त्यक्तैवातः परमचिकिलक्लिन्नवासोवदेषा
हा किं भावि ? स्फुटसि हृदय ? द्वैधमापद्य किं न ?।
ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्यो-
द्यातास्राम्बुर्व्यजनिषि ततोऽस्तोकशोकोदकुम्भः[3] ॥

राजीमती का हृदय प्रिय के विरह में चूने की तरह फूट-फूट कर चूर्णित हो रहा है—

सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानं।
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयते स्म[4] ॥

वह दिन-कुमुदिनी को भी अपने से अधिक दुःखी नहीं मानती है, क्योंकि सायंकाल में चन्द्रमारूपी निजपति के आलिंगन से उसके पुनः विकास की आशा तो है—

रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसायं-
वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बह्वमन्येऽद्य मत्तः[5] ॥

कोकी, चकोरी और मयूरी का शोक भी किञ्चित्कालीन ही होता है, परन्तु राजीमती का शोक सर्वकालिक है। क्योंकि वह कहती है कि मेरे स्वामी ने यौवनावस्था में मुझे उसी प्रकार छोड़ दिया है, जिस प्रकार साँप केंचुल छोड़ देता है—

त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां ह्रद इव शुचामाभवं त्वाभवं भाः ॥[6]

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१०।
२. वही, ४/३-४।
३. वही, ४/६।
४. वही, ४/७ (उत्तरार्ध)।
५. वही, ४/८ (उत्तरार्ध)।
६. वही, ४/९ (उत्तरार्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजीमती का विरहपूर्ण कारुणिक-प्रलाप अनायास ही हृदय को झंकृत कर देता है। उपालम्भ से परिपूर्ण उसके एक-एक तर्क सहृदय रसिक के अन्तस्तल को भेदते हुए से प्रतीत होते हैं। स्वामी श्रीनेमि के वैराग्य से राजीमती अत्यन्त सन्त्रस्त हो जाती है और तब मर्माहत उसके अन्तर्हृदय से उद्भूत मनोभाव, उपालम्भ के रूप में परिणत होकर श्रीनेमि पर एकाएक बौछार करने लगते हैं कि हे नाथ ! विवाहकाल में नवीन तथा स्थिर प्रेमवाली जिस मुझको आपने मधुर तथा घृताक्त किन्तु शीतल क्षैरेयी (खीर) की तरह हाथ से भी नहीं छुआ था, कामानल से अतीव तप्त हो वाष्पपूरित एवं अनन्यभुक्ता उसी मुझको आप आज क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ?—

यां क्षैरेयीमिव नवरसां नाथ वोवाहकाले
सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनाऽपि।
सा किं कामानलतपनतोऽतीव बाष्पायमाणा-
ऽनन्योच्छिष्टा नवरुचिभृताऽप्यद्य न स्वीक्रियेत[1] ॥

हे नाथ ! यदि मुनि बनकर मुझे त्यागना ही था तो मुझे पहले स्वीकार ही क्यों किया, क्योंकि सज्जन लोग "हरशशिकलान्याय" के अनुसार उन वस्तुओं को ही स्वीकार करते हैं, जिनका निर्वाह कर सकते हैं—

आसीः पश्चादपि यदि विभो ! मां मुमुक्षुर्मुमुक्षुः
भूत्वा तत्किं प्रथममुररीचकरोषि स्वबुद्धया।
सन्तः सर्वेऽप्यतरलतया तत्तदेवाद्रियन्ते
यन्निर्वोढुं हरशशिकलान्यायतः शक्नुवन्ति[2] ॥

राजीमती विरह में अति आतुर होकर अपना मानसिक सन्तुलन ही खो बैठती है, तभी तो वह श्रीनेमि के प्रति कुछ तीक्ष्ण-शब्दों का भी प्रयोग करने में किञ्चित्मात्र भी नहीं हिचकती है। अपनी बातों से वह श्रीनेमि को बहुत ही लज्जित करती है, साथ ही ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत करती है, जिससे श्रीनेमि की शायद मति पलट ही जाये, परन्तु ऐसा होता नहीं है। राजीमती के कुछ ऐसे ही अतिकरुण विरहपूर्ण सम्वाद दर्शनीय हैं—

हे नाथ ! आपने पहले तो स्वजनों के आग्रह से विवाह को स्वीकार किया और गुरुजनों तथा परिजनों के बीच विवाह करने लिए हाथी से गये

१. जैनमेघदूतम्, ४/१५।
२. वही, ४/१६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी, फिर श्वसुर के द्वार से लौट आये। हे गुणनिधान ! चार वर्ष वाले बालक को भी ऐसे नहीं वंचित किया जाता, जैसे आपने मुझे वंचित किया है[१]।

आगे वह फिर कहती है कि आपके ये ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण एक सहस्र सुन्दरियों के साथ क्रीडागार में अविश्रान्त रूप से अतिशय क्रीडा करते हैं और आप इतना समर्थ होते हुए भी एक सुन्दरी को अंगीकार करने का उत्साह नहीं करते हैं। ठीक ही है, स्वभाव-श्रेष्ठ लोगों के चरित्र को कौन जान सकता है[२] ?

यदि आप यह कहते हैं कि वैराग्यशत्रु प्रौढ़ यौवन के होते हुए भी मैं नीराग हूँ, इस निर्विकार बुद्धि से मैंने कामभोगों को छोड़ा है तो फिर मैं कहीं पौरुषहीन जनता की पंक्ति में न गिन लिया जाऊँ, इस भय से शंख-ध्वनि द्वारा पुर में क्षोभ तथा श्रीकृष्ण की भुजा का मोचन क्यों किया था[३] ?

हे नाथ ! यदि आप वस्तुतः अराग हैं तो दिव्यज्ञानत्रयी से युक्त होते हुए भी सामान्य बालक की तरह कभी मनोज्ञ एवं स्नेहिल हँसना, तेजी से सरकना, सामने पड़ने वाली किसी भी वस्तु को कौतूहलतापूर्वक देखना, भूमि पर लोटना, खाली हाथ मुट्ठी बाँधना, उत्तान लेटकर हाथ-पैर चलाना, अस्पष्टाक्षर बोलना, पैदल ही वक्ता के साथ धीरे-धीरे चलना, जिस किसी भी वस्तु को पकड़ने की इच्छा करना, दोनों हाथों से बुलाने वाले व्यक्ति से दूर भागना, प्रेमीजन को कण्ठ लगाना, हठपूर्वक जननी की गोद में बैठ जाना, पिता की दाढ़ी को पकड़कर खींचना आदि-आदि विविध चेष्टाएँ आपने क्यों कीं[४] ?

इस प्रकार ऐसे प्रश्नों की बौछार से भी जब राजीमती को शान्ति न मिली तो उसने आत्महत्या की भी ठान ली, शायद यही सोचकर कि श्री-नेमि के वियोग से उत्पन्न विरहाग्नि से आतप्त उसके शरीर को इसी से कुछ शान्ति प्राप्त हो जाए। इसीलिए वह श्रीनेमि से पूछती है कि पति-पुत्र से विहीन तथा अमर्षशील मैं होश खो देने के कारण यदि नब्बे पुरुषों के बराबर गहरे किसी तालाब में कूद पड़ूँ, तो क्या होगा ?—

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/१८।
२. वही, ४/१९।
३. वही, ४/२१।
४. वही, ४/२२, २३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्बीराऽसौ तवहमबलाऽसासहिः पापतिश्चेत्
निश्चैतन्यान्नवतिपुरुषीं खातिकां स्यात्तदा किम् ?[1] ॥

विरहव्याकुला राजीमती को श्रीनेमि के वियोग का कष्ट इतना अधिक सता रहा है कि वह नदी को अंगार-परिखा, पहने हुए अपने रेशमी वस्त्रों को तुषानल, चन्द्र को दावानल, कमल को वृश्चिक, भूषणों को त्रिकुट और पुष्प-ताम्बूल आदि खाद्य-स्वाद्य वस्तुओं को शरीरव्यापी विष मानती है।[2]

वह अपने स्वामी के विरह से इतनी दीन-हीन सी है कि वह स्वयं को दोषी मान लेने को तैयार है। वह कहती है यदि आप दुर्जनों को आनन्द-दायक कोई दोष लगाकर मुझ वराकी को तापित करते हैं, तो ठीक ही है। अन्यथा आप कलंक से लाञ्छित होंगे और फिर यमराज भी तो बिना बहाने किसी को नहीं मारता है।[3]

इस प्रकार अति सहजतापूर्वक अपने हृदय में पूर्वसंयोजित बातों को नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर वह श्रीनेमि से कहती है कि मुझे आशा थी कि मैं आपकी प्रीति के लिए आपकी महिषी बनूँगी, किन्तु विधि ने मुझे उलटे काली, दुर्बल और प्रबल दोषों वाली भैंस बना दिया है।[4]

मैंने सोचा था कि प्राणनाथ जीवनपर्यन्त पानी भी मेरे ही हाथ से पियेंगे, परन्तु आप मुझे छोड़कर, मोक्ष की इच्छा करने लगे हैं। अतएव आपको नमस्कार है—

प्रव्रज्यायाः पुनरभिलषंस्तन्मुखेनामुचन्मां
ज्ञानश्रीयुक् तदय कमितोन्मुच्य तां तन्नमोऽस्तु[5] ॥

यहाँ राजीमती श्रीनेमि को ईर्ष्याभाव से नमस्कार कर रही है। इस तरह अपने विरह-सन्देश में किञ्चित् व्यंग्य और किञ्चित् रोष का पुट लेकर राजीमती बहुत संलाप करती है, परन्तु राजीमती के इस विरहपूर्ण प्रलाप को सुनकर भी श्रीनेमि का हृदय नहीं पिघला। इस पर राजीमती की सखियाँ उसे समझाती हैं कि श्रीनेमि ने अपने पराक्रम से मोह रूपी

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/२८ (उत्तरार्ध)।
२. वही, ४/२९।
३. वही, ४/३०।
४. वही, ४/३४।
५. वही, ४/३५ (उत्तरार्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामल्ल को जीत लिया है, इसीकारण उनसे बद्धवैर होकर काम तुमको पीडित कर रहा है। तुम उनकी वीर पत्नी हो, तुम्हें भी कामजनित इस पीडा को सहना उचित नहीं है। अतः तुम भी बोध रूपी शस्त्र से इसे मार डालो[1]। क्योंकि तुम पाषाण सदृश कठोर श्रीनेमि को रागरञ्जित नहीं बना पाओगी—

मा विश्वस्या मतिमति ! वरप्राक्पदां वर्णिनीं तां
रागोत्सृष्टानुपलशकलान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य।
चूर्णो नाम्ना स खलु भगवानेष जात्यं तु वज्रं
नो रागाङ्कैरविकलबलै रज्यते जातु कैश्चित्[2] ॥

सखियों की ऐसी वचन-रचना को सुनकर, पति के ध्यान से सावधान बुद्धिवाली राजीमती केवल-ज्ञान को प्राप्त भगवान् श्रीनेमि के समीप जाकर व्रत ग्रहणकर, अपने स्वामी के ध्यान से स्वामी की ही तरह द्वेषादि से रहित हो गई और परम आनन्द के सर्वस्व मोक्ष का वरण कर अनुपम तथा अव्यय-सौख्य-लक्ष्मी को प्राप्त हुई[3]।

इस प्रकार जैनमेघदूतम् में राजीमती का विरह-संलाप सन्देशात्मक न होकर सम्वादात्मक ही प्रतीत होता है। राजीमती से सम्बन्धित विप्रलम्भ शृङ्गार के ये समस्त चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं।

संयोग शृङ्गार : जैनमेघदूतम् में कवि ने नायक श्रीनेमि की यौवनावस्था का अत्यन्त शृङ्गारिकतापूर्ण कथन किया है। श्रीकृष्ण और अन्तःपुर की उनकी पत्नियों के साथ श्रीनेमि का उद्यानादि में रमण अति विलासितापूर्वक वर्णित है। अन्तःपुर की स्त्रियों की श्रीनेमि के साथ क्रीडा भी शृङ्गार रस से ओत-प्रोत है। जैनमेघदूतम् के ये संयोग-शृङ्गारिक वर्णन विप्रलम्भ के वर्णनों की भाँति ही अति उच्चकोटिक हैं।

श्रीनेमि बाल्यावस्था से यौवनावस्था की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनके शरीरांग अतीव पुष्टता एवं सुन्दरता को प्राप्त हो रहे हैं। श्रीनेमि की इसी शरीर-कान्ति का वर्णन करती हुई राजीमती मेघ से कहती है कि कमल उनके चरणों के, कदलीस्तम्भ उनकी ऊरुओं के, गंगा का तट उनकी कटि के, शोण उनकी नाभि के, तोरण उनके वक्ष के, कल्पवृक्ष की शाखा उनकी भुजा के, कमल-किशलय उनके करों के, पूर्णचन्द्र उनके

१. जैनमेघदूतम्, ४/३९।
२. वही, ४/४१।
३. वही, ४/४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमुख के, कमल-पत्र उनके नेत्रों के, पुष्प-सुगन्ध उनके मुखामोद के एवं उत्तम रत्न उनके शरीर के तुल्य हैं[1]। श्रीनेमि के सुन्दर वदन से पूर्णचन्द्र सदृशता प्राप्त करता है, श्रीनेमि के नेत्रों से कमल-दल सदृशता प्राप्त करता है, श्रीनेमि के मुख-परिमल से पुष्प-पराग सदृशता प्राप्त करता है तथा श्रीनेमि के शरीर से रिष्ट-रत्न सदृशता प्राप्त करता है[2]।

काव्य में वासन्तिक शोभा का अत्यन्त शृङ्गारिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह वसन्त ऋतु कामदेव के सेनानी की भाँति पथिक-अंगनाओं को विधवा बनाता हुआ चारों ओर प्रादुर्भूत हुआ—

एवं दिष्टे व्रजति जनयन्नध्वनीनाङ्गनानां
विश्वस्तत्वं यमनियमभीदायको व्याप्तविश्वः[3]॥

कामदेव के सेनानी इस वसन्त के, वनों से श्यामोभूत पर्वत युद्ध के लिए समुद्यत हाथी के समान थे। पर्वतों पर उगे तालीवन उनके ध्वजा-समूह थे, वृक्ष-किशलय ही उनके अंग में लिप्तसिन्दूर थे और स्वर्ण-सदृश अंकुर ही उन पर पड़े स्वर्णिम कालीन थे[4]।

उद्यान में श्रीनेमि के स्वागत में वन-लक्ष्मी ने तो मानो नाटक ही आयोजित कर रखा था, जिसमें वायु ही वादक थे, भृंग सुमधुर गान करते थे, कोकिलें तान दे रही थीं, कीचक (बाँस) वंश-वर्णन कर रहे थे और लताएँ नृत्य कर रही थीं—

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम्[5]॥

इस नाटक की आयोजिका वनलक्ष्मी का कितना शृङ्गारिक चित्रण किया गया है कि भ्रमर रूपी पुतलियों वाले कमल ही जिसके नेत्र हैं, उन कमलों वाली वापियाँ ही जिसके मुख हैं, उज्ज्वल पुष्प ही जिसके ईषत् हास्य हैं, शृंगिका ही जिसका स्फुट अनुराग है और पुष्पों से गिरता हुआ रज ही जिसका कुंकुमलेप है तथा नाना प्रकार के पत्ते ही जिसके वस्त्र हैं[6]।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२३।
२. वही, १/२४।
३. वही, २/१ (पूर्वार्ध)।
४. वही, २/३।
५. वही, २/१४ (पूर्वार्ध)।
६. वही, २/१५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीकृष्ण की पत्नियाँ श्रीनेमि को चारों ओर से घेर लेती हैं[1] और उनके साथ विविध प्रकार की क्रीडाएँ करने लगती हैं। श्रीकृष्ण की किसी एक पत्नी ने—भ्रमर-समूह जिसके परिमल पर मंडरा रहे हैं तथा जो बाल और अरुण किशलयों एवं सभी प्रकार के पुष्पों से गुंथी हुई है ऐसी—एक माला को श्रीनेमि के कण्ठ में पहना दी[2]।

एक अन्य हरिवल्लभा ने श्रीनेमि के शरीर में चन्दन-रस से पत्रवल्ली की रचना की और उनके सिर पर पौष्प-मुकुट रख दिया[3] तथा एक हरिप्रिया ने मेखला के बहाने श्रीनेमि के कटि-प्रदेश में रक्तकमलों की माला ऐसे बाँध दी, जैसे प्रकृति आत्मा को बाँध लेती है—

व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध[4]॥

किसी एक अन्य हरिवल्लभा ने चन्दन-रस से सिक्त तथा सजाकर रखे हुए सरस पुष्पों से श्रीनेमि के वक्षस्थल को ढक दिया।[5] इस प्रकार हरिवल्लभाओं द्वारा नानाविध सज्जित श्रीनेमि उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे पुष्पित पारिजात हो—

पौष्पापीडः शितिशतदलैः कल्पितकर्णावतंसः
कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी सलीलम्।
तत्केयूरो बकुलवलयः पद्मिनीतन्तुवेदी
रेजे मूर्त्तात्प्रति मम पतिः पुष्पितात्पारिजातात्[6]॥

इसी प्रकार वापी-विहार में भी हरिवल्लभाओं के साथ श्रीनेमि की अत्यन्त शृङ्गारिकता पूर्ण क्रीडा सम्पन्न होती है। सारंगाक्षी उन रमणियों ने सुरभित रंगों द्वारा श्रीनेमि को सभी ओर से रंग दिया[7]। तभी उनमें से एक रमणी ने एक कमल को तोड़कर श्रीनेमि के कर्णों में

---

१. जैनमेघदूतम्, २/१८।
२. वही, २/१९।
३. वही, २/२०।
४. वही, २/२१ (उत्तरार्ध)।
५. वही, २/२२।
६. वही, २/२३।
७. वही, २/४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहना दिया[1]। एक अन्य रमणी ने तीक्ष्ण कटाक्ष चलाते हुए जड़ से उखाड़े एक श्वेत कमल को श्रीनेमि के वक्षस्थल में यह कहते हुए पहना दिया कि 'अरे, तू मेरे देवर के निर्मल नेत्रों से स्पर्धा कर रहा है'—

स्पर्धध्वे रे! नयनलिने निर्मले देवरस्य
स्मित्वेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती[2] ॥

इस प्रकार कृष्ण-पत्नियों द्वारा बन्दी बनाए गये श्रीनेमि, स्वयं भी उन रमणियों को शतशः सींचते हुए, विद्युत् से युक्त सुन्दर वर्षा करते हुए मेघ के सदृश सुशोभित हुए[3] और तब वे श्रीनेमि उस दीर्घिका से उसी प्रकार निकले, जैसे ऐरावत क्रीडा करके समुद्र से निकलता है—

अश्रान्तोऽपि श्रममिव वहन् व्यक्तमुक्तायिताम्भो
बिन्दू रक्तोत्पलदललवामुक्तरक्तांकराढः।
श्रीमान्नेमिर्जलपतिकफत्पुण्डरीकप्रकाण्डो
वारांराशेरिव सुरकरी पुष्करिण्या निरैयः[4] ॥

श्रीनेमि के अतुलनीय स्वरूप की अतीव शृङ्गारिक स्तुति करती हुई रुक्मिणी कह रही है कि हे देवर! काम तुम्हारे रूप को सुनकर और इस प्रकार लज्जित होकर अनंग हो गया है, इन्द्र ने आपके लावण्य को सुनकर उसे देखने की इच्छा से सहस्र नेत्रों को धारण कर लिये हैं और तारुण्यशोभा ने तो उन दोनों का उसी तरह उत्कर्ष बढा दिया है जैसे शरद् ऋतु चन्द्र और सूर्य की शोभा बढ़ा देती है। किन्तु फिर भी तुम इस अप्रतिम रूप, लावण्य और तारुण्य को स्त्री के बिना काननकुसुमवत् (जङ्गल के पुष्प-सदृश) बना डालना चाहते हो[5]।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की अन्य अनेक पत्नियों ने भी श्रीनेमि को पाणिग्रहण करने के हेतु अपने शृङ्गारिक-कथनों द्वारा प्रेरित किया है। कृष्ण-पत्नियों की श्रीनेमि के साथ भाँति-भाँति की ये विलासमय एवं सुमधुर क्रीडाएँ एवं उनके चातुर्यपूर्ण ये विविध कथन संयोग-शृङ्गार रस को ही पुष्टता प्रदान करते मिलते हैं। इस प्रकार जैनमेघदूतम् के संयोग

---

१. जैनमेघदूतम्, २/४६।
२. वही, २/४७ (पूर्वार्ध)।
३. वही, २/४८।
४. वही, २/४९।
५. वही, ३/८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शृङ्गार रस से परिपूर्ण इन प्रयोगों के सम्यक् आलोचन के पश्चात् हम पाते हैं कि इस काव्य के प्रायः समस्त शृङ्गारिक प्रयोग प्राकृतिक आवरण से ढके उपलब्ध होते हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैनमेघदूतम् के समस्त संयोग-शृङ्गारिक वर्णनों में अन्य चाहे जो भी तत्त्व हों या न हों परन्तु उनमें प्रकृतिगत विशेषताएँ कूट-कूट कर भरी पड़ी हैं।

शान्त रस : जैनमेघदूतम् में कवि ने नायक श्रीनेमि को विरागी बनाकर उसे आध्यात्मिकता की सरणि में ले जाने का सफल प्रयास किया है। इसी कारण इस काव्य में उभयपक्षों (संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार) सहित शृङ्गार रस के साथ ही शान्त रस की भी अवधारणा प्रस्तुत की गयी है और काव्य का पर्यवसान भी शान्त रस में किया गया है।

काव्य के प्रारम्भ में ही नायक श्रीनेमि आध्यात्मिक भावनाओं द्वारा उद्भूत मानसिक उद्वेलन के कारण स्वयमेव सन्त्रस्त होकर स्वकान्ता राजीमती का परित्याग कर देते हैं[1]। श्रीनेमि के द्वारा परित्याग कर दिये जाने के दुःख से अत्यन्त दुःखी राजीमती अपनी सखियों द्वारा बहुविध समझाई जाने पर अपनी कामजनित मोह-पीड़ा का बोध रूपी शस्त्र से हनन कर जब श्रीनेमि के पास पहुँचती है, तो श्रीनेमि पर्वतश्रेष्ठ पवित्र रैवतक पर्वत (पिण्ड के आध्यात्मिक जगत्) के उच्चतम शिखर (आनन्दमय कोश के उच्चतम स्तर) पर तप में ध्यानस्थ मिलते हैं।

शान्त रस की अभिव्यञ्जना करता हुआ राजीमती की सखियों का यह कथन, मोहरूपी महामल्ल को वशीभूत करने वाले श्रीनेमि[2] की अध्यात्मपरक विशेषताओं को इस प्रकार प्रकट कर रहा है कि जो तुच्छ-गरिमा वाला पर्वत-समूह समुद्र-कल्लोलों में डूब जाता है, वह पर्वत कम ऊँचाई वाला है। परन्तु ये श्रीनेमि पर्वतों के राजा तथा रत्नों से दीप्त उस मेरु पर्वत के सदृश हैं, जो मेरु पर्वत उस औन्नत्य (सर्वोच्च होने के कारण) और माध्यस्थ्य (विश्व के मध्य में स्थित होने के कारण) को धारण करता है, जिसके कारण समुद्र-तरंगें उनका स्पर्श तक भी नहीं कर पाती हैं—

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१।

२. वही, ४/३९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागाम्भोधौ ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिर्यः
संप्लाव्येत प्रतनुगरिमा स क्षमाभृद्गणोऽन्यः ।
औन्नत्यं तत्तदचलगुरश्चैष माध्यस्थ्यमीशो
धत्ते येन स्फुटवसुममुं स्प्रष्टुमप्यक्षमास्ताः [1]॥

सखियों की शान्त रस से आसक्त ऐसी वचन-रचनाओं को सुनकर पति श्रीनेमि के ध्यान से सावधान बुद्धिवाली राजीमती, अपने स्वामी की तरह ही राग-द्वेष आदि से रहित होकर तन्मयत्व को प्राप्त करती है, जिसके प्रभाव से वह गिने हुए दिनों में ही परम आनन्द के सर्वस्व मोक्ष का वरण करती हुई अनुपम सौख्यलक्ष्मी को प्राप्त करती है—

सद्भ्रीचीनां वचनरचनामेवमाकर्ण्य साऽथो
पत्युर्ध्यानादवहितमतिस्तन्मयत्वं तथाऽऽपत् ।
सद्यो घातैरधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा
तस्मादभेजेऽनुपमिति यथा शाश्वतीं सौख्यलक्ष्मीम्[2] ॥

शान्त रस के द्वारा पर्यवसित यह दूतकाव्य प्रत्यक्षतया लोक-जीवन का परिमार्जन कर उसको आध्यात्मपरक दृष्टि प्रदान करता है एवं परोक्षतया काव्य-धरातल पर निर्वेद की रसपूर्ण अभिव्यंजना करता है।

शान्त रस ही एकमात्र ऐसा रस है जो मानव के समक्ष मानवधर्म की वास्तविकता को चित्रित करता है, मानव की विषय-भोग रूपी तृष्णाओं का शमन करता है और मानव-हृदय में "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की भावना जागरित करता है। इसी प्रकार के सत्-साहित्य से ही जगत् में विश्व-बन्धुता की भावना प्रस्फुटित होती है और इस जैनमेघदूतम् में ऐसे ही त्याग-प्रधान जीवन का अतिगूढ़ सन्देश अवगूढ़ित भी मिलता है।

इस प्रकार शृङ्गार रस के वातावरण में प्रवाहित होने वाली इस दूतकाव्य-परम्परा को आचार्य मेरुतुङ्ग सदृश जैन मनीषी ने--अपनी काव्यप्रतिभा द्वारा एक नवीन आध्यात्मिक रूप देकर एवं श्रीनेमि के सदृश महापुरुषों को काव्य-नायक बनाकर—सहृदय रसिकों के समक्ष शान्त रस का एक आदर्श उपस्थित किया है।

रस-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

जैनमेघदूतम् के उपर्युक्त रस-विमर्श को जब हम कालिदासीय मेघदूत के साथ एक ही निकष पर परखने के लिए देखते हैं तो यह स्पष्ट होता

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/४०।
२. वही, ४/४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि मेघदूत एवं जैनमेघदूत दोनों काव्य मूलतः एक ही आधार पर प्रतिष्ठित हैं। दोनों काव्यों की रस-विषयक मूलभूत पृष्ठभूमि, विप्रलम्भ-शृङ्गार रस से ही सम्बद्ध है। जिस प्रकार कालिदास ने मेघदूत में शृङ्गार रस को प्रधान बनाकर अन्य रसों को गौण बना दिया है, ठीक उसी तरह आचार्य मेरुतुङ्ग ने भी शृङ्गार रस को ही प्रधान रखा है। यहाँ पर दोनों काव्यों के सम्बन्ध में विशेष ध्यातव्य यह है कि मेघदूत में कालिदास जहाँ प्रिय के अल्पकालिक वियोग में उत्थित होने वाले मर्मस्पर्शी भावोद्गारों का मनोरम कोष समाहित करते मिलते हैं, जैनमेघदूतम् में वहाँ आचार्य मेरुतुङ्ग प्रिया राजीमती के मार्मिक हृदयोद्वेलनों को चित्रित करते हुए साथ ही जीवन-व्यापी सत्य की अभिव्यञ्जना करते हुए मिलते हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग जैनमेघदूतम् को शृङ्गारिक वातावरण में प्रारम्भ कर और उसे शृङ्गारिकता की चरमकोटि तक ले जाकर पुनः शनैः-शनैः उसे धार्मिकता का पुट प्रदान करते हुए शान्त रस की ओर ले गये हैं। कालिदास के मेघदूत के समान इस दूतकाव्य में केवल शृङ्गार रस के उभयपक्षों (संयोग एवं विप्रलम्भ) द्वारा नायक-नायिका का परस्पर विरह व अनुराग-प्रदर्शन ही नहीं भरा पड़ा है, बल्कि त्याग और संयम को ही जीवन का प्रमुख पाथेय समझने वाले आचार्य मेरुतुङ्ग ने इस काव्य में अपनी संस्कृति के उच्च-तत्त्वों को भी समाविष्ट कर दिया है, साथ ही इसमें साहित्यिक और शृङ्गारिक सौन्दर्य के साथ शील, संयम, भावशुद्धि आदि अध्यात्मपरक तत्त्वों का भी समन्वय किया गया है।

चूँकि कालिदास आचार्य मेरुतुङ्ग से बहुत पूर्व के हैं, अतः इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि पश्चात्वर्ती आचार्य मेरुतुङ्ग के समक्ष, कालिदास का मेघदूत काव्य आदर्श के रूप में उपस्थित था। इसलिए आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् काव्य को रचने में कालिदासीय मेघदूत से प्रेरणा अवश्य ही प्राप्त की होगी, इसमें संशय नहीं।

जिस प्रकार कालिदासीय मेघदूत में नायक यक्ष और नायिका यक्ष-पत्नी ये दो आलम्बन विभाव हैं, मेघ-प्रादुर्भाव आदि उद्दीपन विभाव हैं, ज्ञानशून्यत्व आदि अनुभाव हैं, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं तथा रति स्थायी भाव है; उसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में नायक श्रीनेमि और नायिका राजीमती ये दो आलम्बन विभाव हैं, मेघ-प्रादुर्भाव आदि उद्दीपन विभाव हैं, ज्ञानशून्यत्व आदि अनुभाव हैं, ग्लानि आदि व्यभिचारीभाव हैं तथा रति स्थायीभाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु इस सन्दर्भ में यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि कालिदासीय मेघदूत का विप्रलम्भ शृङ्गार रस पाठक के समक्ष जैसी चित्रात्मकता उपस्थित करता है, वैसी चित्रात्मकता उपस्थित करने में आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् का विप्रलम्भ शृङ्गार रस समर्थ नहीं है। हाँ! इसमें सम्वादात्मकता अवश्य मिलती है। इसका कारण भी है कि मेघदूत का यक्ष अपने विरहातुर हृदय के अति करुण मनः-संवेगों को सीधे अपनी नायिका से न कहकर दूत मेघ के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसीलिए मेघदूत में चित्रात्मकता दृष्टिगत होती है। जबकि इसके विपरीत जैनमेघदूतम् में नायिका राजीमती अपने दूत मेघ से अपने सन्देश का कथन कम करती है, बल्कि उसके समक्ष उपालम्भ-स्वरूप अनेक सम्वादात्मक तर्क प्रस्तुत करती है। मेघदूत का विप्रलम्भ शृङ्गार रस मात्र अपनी प्रिया के वियोग से व्यथित नायक के कामपीडित हृदय का उद्घाटन करता है, जबकि जैनमेघदूतम् का विप्रलम्भ शृङ्गार रस, प्रिय-वियोग से व्यथित नायिका की मनःस्थिति को तो स्पष्ट ही करता है साथ ही सांसारिक भोगों के प्रति विरक्ति को भी प्रदर्शित करता है।

मेघदूत के विप्रलम्भ शृङ्गार में एक केवल संयोग होने की व्यग्रता ही चित्रित होती है, जबकि जैनमेघदूतम् के विप्रलम्भ शृङ्गार में संयोग की व्यग्रता के साथ, किञ्चित् उपालम्भ पूर्ण तर्कना भी मिलती है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि मेघदूत के नायक-नायिका (यक्ष-यक्षिणी) का वियोग बलात् हुआ है, इसलिए ऐसी दशा में नायक द्वारा नायिका को या नायिका द्वारा नायक को दोषी मनाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि जैनमेघदूतम् के नायक श्रीनेमि स्वयमेव अपने मन से नायिका राजीमती का परित्याग कर, वैराग्य धारण कर लेते हैं और नायिका से दूर हो जाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में नायिका द्वारा नायक श्रीनेमि से इस अलगाव का कारण पूछना अपेक्षित भी है। इसी कारण नायिका उपालम्भ स्वरूप अनेक प्रश्नों की झड़ी ही लगा देती है।

विप्रलम्भ शृङ्गार रस के साथ ही मेघदूत एवं जैनमेघदूतम् दोनों काव्यों में सम्भोग-शृङ्गार रस की भी अत्यन्त प्रचुरता मिलती है। दोनों काव्यों के ये संयोग-शृङ्गारिक वर्णन भी विचित्र ही हैं। परन्तु ये संयोग-शृङ्गार के वर्णन दोनों काव्यों में गौण रूप से ही हैं, प्रधान रस के रूप में इसी का उपभेद विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही है। फिर भी संयोग-शृङ्गार के जो भी स्थल दोनों दूतकाव्यों में हैं, वे मूल में नायक-नायिका से सम्ब-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्धित न होकर किसी अन्य से ही सम्बन्धित मिलते हैं। साथ ही ये संयोग-शृङ्गारिक वर्णन अधिकांशतः प्रकृतिगत चित्रणों की अभिव्यक्ति में ही प्रयुक्त किये गये मिलते हैं। मेघदूत के ये संयोग-शृङ्गारिक वर्णन अनेक नदियों, पर्वतों, काननों, अलका व उज्जयिनी नगरियों तथा यक्षप्रिया के निवास-स्थान का उत्कट शृङ्गारिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार जैनमेघदूतम् में काम एवं वसन्त आदि का वर्णन पूर्णतया शृङ्गार पर ही आधारित है। श्रीकृष्ण की पत्नियों की श्रीनेमि के साथ क्रीडा-सम्बन्धी अनेक स्थल संयोग-शृङ्गार की अभिव्यक्ति करते मिलते हैं।

वर्तमान युग में मेघदूत एवं जैनमेघदूतम् दोनों काव्य सुन्दर सन्देश प्रस्तुत करते हैं। आज जब मानव पारस्परिक कलह, ईर्ष्या और वैमनस्य से छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा है; इस प्रबल समरानल में विश्व की समस्त सभ्य जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा करती जा रही हैं; विश्व-संस्कृति अपने ही पालकों से पददलित होकर अपने जीवन की अन्तिम साँसें गिन रही है तब विश्व-संस्कृति-विनाश के ऐसे कठिन समय में आध्यात्मिकता की मूर्ति, त्याग, संयम एवं प्रेम के प्रतीक ये सन्देशकाव्य अपने हाथों में आशावाद का संबल लेकर विश्व-मानव के समक्ष उपस्थित होते हैं और मानों वे उस विश्व-मानव से पुकार-पुकार कह रहे हों कि भौतिकता का आश्रय, भोग-विलास की अभिलाषा एवं धर्मविरुद्ध काम की सेवा मानव को अवनति के गर्त में झोंकने के हेतु सर्वदा जागरूक रहती है।

इस प्रकार कविता-वनिता के लावण्य की अभिवृद्धि में कल्पना-विलास की विद्वत्ता, कोमल-भावों की सुकुमारतर अभिव्यक्ति एवं रसासिक्त मधुरता का जो सतत प्रवाह मेघदूत एवं जैनमेघदूतम् में हमें मिलता है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। यक्ष और राजीमती तो उन भावाभिव्यक्तियों के आलम्बन मात्र हैं। यद्यपि मेघदूत में शान्त रस का निदर्शन कहीं भी नहीं होता है, परन्तु मेघदूत का प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक दृश्य वियोग-व्यथित मानव-मानस की गम्भीर निःश्वास है। इसी उद्देश्य से कवि ने इसे एक देशीय विप्रलम्भ से ओत-प्रोत किया है। अतः मेघदूत में विप्रलम्भ-शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का न उपलब्ध होना अस्वाभाविक नहीं है। जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग संयम और सदाचार की स्थापना करते हुए अपने जैनमेघदूतम् काव्य को परमार्थ तत्त्व के निरूपण की ओर ले गये हैं। इसलिए इसमें शान्त रस की प्रस्थिति स्वाभाविक ही है। फिर भी गहन शृङ्गार रसालिप्त अजस्र धारा को वैराग्य की तरफ मोड़ देना, कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं है। जैनमेघदूतम् में अभिव्यञ्जित शान्त रस की सुधाधारा, राग-द्वेष से ग्रस्त मानव-समाज को शाश्वत् आनन्द प्रदान करने की क्षमता रखती है। आचार्य मेरुतुङ्ग ने इसके साथ ही अपने काव्य में दार्शनिक दृष्टिकोण भी अपनाया है। इससे यह काव्य कुछ सीमाओं तक और भी अधिक सरस और आस्वाद्य हो गया है।

कामरूप मेघ एवं कामुक यक्ष और राजीमती, ये तीनों मिलकर सम्पूर्ण जगती को काम के पावन-पीयूष-प्रवाह में निमज्जित कराते हैं। तभी तो मेघदूतम् का प्रति-पद मानव की हृत्-तन्त्री को एकदम झकझोर कर रख देता है। अतः ऐसी विलक्षण शक्ति से परिपूरित ये दोनों दूतकाव्य अनूठे एवं अद्वितीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हे कि जहाँ कालिदासीय मेघदूत सांसारिक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना में संलीन है, वहाँ आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यंजना में संलीन है। अतः यदि सांसारिक चित्तवृत्तियों की दृष्टि से देखा जाये तो कालिदास का मेघदूत श्रेष्ठ है और यदि आध्यात्मिक चित्तवृत्तियों की दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् उत्कृष्ट है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में ध्वनि-विमर्श

ध्वनि : सामान्य परिचय :

प्रतिभासम्पन्न सहृदय को काव्य में एक ऐसा अर्थ प्रतीत होता है, जो मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ से पूर्णतया भिन्न होता है, यही अर्थ है—व्यंग्यार्थ। इसी व्यंग्यार्थ को ही पूर्वाचार्यों ने "ध्वनि" नाम से अभिहित किया है। यह अर्थ प्रतीतिगम्य होने से "प्रतीयमान" भी कहा जाता है। इस प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति के अवलोकन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हेतु दृष्टान्त रूप में लावण्यवती युवती को लिया है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[1]

किसी सुन्दरी के शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक अंग तथा अवयव से भिन्न लावण्य की पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान रहती है।

आनन्दवर्धन से पहले किसी ने भो ध्वनि को काव्य का स्वतन्त्र तथा महनीय तत्त्व नहीं स्वीकार किया था। ध्वनिस्थापनाचार्य का गौरव आनन्दवर्धन को इसी कारण मिला कि उन्होंने अपनी अप्रतिम मनीषा द्वारा इस काव्य-तत्त्व को अन्य काव्य-तत्त्वों से सर्वथा एक पृथक् स्वतन्त्र स्थान दिया। ध्वनि का साम्राज्य तो आदिकवि वाल्मीकि, व्यास और महाकवि कालिदास जैसे काव्यकारों के भी काव्यों में है, परन्तु इन सब कवियों ने अपने काव्यों की ध्वनि को काव्य-तत्त्व का एक प्रमुख सिद्धान्त निश्चित करने का तनिक भी प्रयास नहीं किया है, फिर ध्वनि को काव्य-तत्त्व का प्रधान सिद्धान्त प्रतिपादित करना साधारण आलोचक की बुद्धि के बस का भी तो नहीं। पाश्चात्य आलोचकों ने भी ध्वनि के चमत्कार को स्वीकार किया है। पाश्चात्य कवि ड्रायडन की यह उक्ति—

---

१. ध्वन्यालोक, १/४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"More is meant than meets the ear."

(कानों को जो सुनाई पड़ता है--उससे अधिक काव्य में अपेक्षित अर्थ है) प्रकारान्तर से ध्वनि को ही सूचित करती है। परन्तु इस काव्य-तत्त्व की पाश्चात्य साहित्य में व्यवस्था नहीं मिलती। इस काव्य-तत्त्व की प्रथम मार्मिक व्याख्या आनन्दवर्धन ने की, जिसे उनके पश्चात् अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में और भी दृढ़ीभूत किया। तभी अनेक ध्वनि-विरोधी आचार्यों ने इस काव्यातत्त्व का खण्डन करना चाहा परन्तु आचार्य मम्मट ने इन सभी विरोधी आचार्यों के आक्षेपों का उत्तर देकर अपने काव्यप्रकाश में इस ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण व्यवस्था स्थापित कर दी—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥[1]

काव्य-सृष्टि में इस ध्वनि-तत्त्व का बहुत ही अधिक उपयोग है। इस ध्वनि का ही आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में प्रस्फुटित होती है। ध्वनि-सम्पन्न कविता एक नवीन ही चमत्कार उत्पन्न करती है। क्योंकि काव्य के कथन-प्रकार का ही काव्य में विशेष महत्त्व होता है। ऐसी स्थिति में यदि काव्य के वर्णन-प्रकार में कुछ नवीनता एवं विभिन्नता है, तो वह वस्तु नवीन तथा चमत्कारयुक्त प्रतीत होगी। सामान्यतया वाटिका के वृक्षों में मूलतः किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है। वे ही रूखे-सूखे वृक्ष होते है, परन्तु वसन्त ऋतु आते ही उन्हीं पुराने वृक्षों में एक नवीनता, एक अपूर्वता दिखने लगती है। ऐसी ही कुछ स्थिति ध्वनि से युक्त काव्य की है कि अर्थ या भाव की कितनी भी प्राचीनता होने पर भी ध्वनि, उसमें एक नवीनता फूंक देती है। वह उस काव्य को फिर से एक नवीन शक्ति प्रदान कर देती है। तब वही एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण नया तथा अपूर्व होने लगता है। इसी कारण कवि प्रायः ध्वनि का ही आश्रय लिया करते हैं। शायद इसीलिए ध्वनिस्थापनाचार्य आनन्दवर्धन ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दे डाली है--

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥[2]

जिस प्रकार वसन्त अपने आगमन से वृक्षों में एक नूतन चमत्कार

---

१. काव्यप्रकाश, १/४।

२. ध्वन्यालोक, ४/१०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार कवि भी रस द्वारा एक नवीन चमत्कार पैदा कर पुराने अर्थों में एक नवीनता का पुट भर देता है। यही ध्वनि का चमत्कार है।

ध्वनि के इसी चमत्कार से मण्डित काव्य को उत्तम काव्य का स्थान प्राप्त होता है। हम देखते हैं जहाँ साधारण व्यक्ति अधिकतर अभिधा-वृत्ति से अपने अभिप्राय को प्रदर्शित करते हैं, वहाँ कुछ मध्यम प्रतिभा-वाले व्यक्ति, लक्षणावृत्ति के द्वारा अपने भावों को व्यक्त कर लेते हैं। परन्तु कुछ व्यक्ति, मध्यम प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति से भी ऊपर होते हैं, वे परिपक्व विचारशील व्यक्ति लक्षणावृत्ति की भी सतह से कुछ ऊपर उठकर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अपने अभिप्राय को अति सूक्ष्मतया अभिव्यक्त कर ले जाते हैं, यही परिपक्व विचारवान् व्यक्ति ध्वनिकवि कहे जाते हैं।

जैनमेघदूतम् में ध्वनि :

जैनमेघदूतम् में ध्वनि-सम्बन्धी अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आचार्य मेरुतुङ्ग ने एक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में लेकर इस ध्वनि को अपने काव्य में नहीं प्रयुक्त किया है, फिर भी सामान्य शैली में रचित होने पर भी इसमें ध्वनि-अभिव्यञ्जन के अनेक स्थल दृष्टिगत होते हैं।

कश्चित्कान्तामविषयसुखानोच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वोचकार॥[1]

काव्य का यह प्रारम्भिक श्लोक ही ध्वनिपूरित मिलता है। इस श्लोक के प्रारम्भिक शब्द "कश्चित्" से व्यंग्य रूप में काव्य-नायक श्रीनेमि का बोध हो रहा है।

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यभ्र वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्यत्यौष्ण्यमियत्।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम्॥[2]

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१।

२. वही, १/६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में वर्षाकाल में विरहिणी स्त्रियों को होने वाली काम-व्यथा ध्वनि रूप में अभिव्यञ्जित हो रही है।

त्वं जीमूत ! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशो स्वे दृशौ नो विधत्ते।
दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै ॥[1]

यहाँ पर कवि ने श्रीनेमिनाथ को कल्पवृक्ष और सुरमणि से भी श्रेष्ठ बतलाकर व्यंग्य रूप में श्रीनेमिनाथ की महानता को अभिव्यञ्जित किया है।

यस्य ज्ञात्वा जननमनघं कम्पनादासनाना-
मास्यां तासामिव न सहतां पूज्यपूजाक्षणेऽस्मिन्।
दिक्कन्याः षट्शरपरिमिताः साङ्गजायाः सवित्र्याः
सम्यक् चक्रुः कनककदलीसद्मगाः सूतिकर्म ॥[2]

इस श्लोक में कवि ने श्रीनेमिनाथ तथा उनकी माता का सूतिका-कर्म दिक्-कन्याओं द्वारा करवाकर श्रीनेमिनाथ की अतिमहानता को ध्वनि रूप में अभिव्यञ्जित किया है, क्योंकि सामान्यतया समाज में जन्म के समय शिशु तथा माता का सूतिका-कर्म सामान्य दाई द्वारा ही सम्पन्न होता है।

ये ये भावाः प्रियसुतकृते प्रक्रियन्ते प्रसूभि-
स्तांस्तांस्तस्तायनिषत हरिप्रेरिता देव्य एव।
नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्वीचयस्तं
देवा एवानिशमरमयत्केलिवापीषु भक्त्या ॥[3]

इस श्लोक में भी श्रीनेमिनाथ की महानता ध्वनि रूप में अभिव्यञ्जित हो रही है, क्योंकि समाज में प्रायः बच्चे की वृद्धि के सारे हेतु माता ही करती है, जबकि श्रीनेमि की वृद्धि के समस्त हेतु-क्रियाओं को इन्द्रप्रेरित अप्सराओं ने किया और देवताओं ने उनको केलिवापियों में रमाया।

आगृह्णानावुपयतिकृते कृत्स्नवात्सल्यखानी
पौनःपुन्यात्प्रकृतिसरलौ क्षीरकण्ठाविवैतौ।
लप्स्ये लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं तद्विवक्ष्येऽ-
तीक्ष्णोक्त्येत्यागमयत कियत्कालमेषोऽप्यलक्ष्यः ॥[4]

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१२।
२. वही, १/१६।
३. वही, १/२०।
४. वही, १/३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में श्रीनेमि के कथन "लोकम्पृणगुणखनी" में व्यंग्य रूप से ध्वनित होता है कि 'मैं लोकप्रीतिकारी शम, मार्दव, सन्तोष आदि गुणों को खान दीक्षा को प्राप्त करूँगा", जबकि उनके माता-पिता ने इसका वाच्यार्थ ग्रहण किया कि "जब लोकप्रीतिकारी गुणों से युक्त कन्या को प्राप्त करूँगा"।

सत्या सत्यापितकृतकवाक्कोपमाचष्ट सख्यः
साध्यः साम्नां न जलपृषतां तप्तसर्पिर्वदेषः।
रुद्ध्वा तन्न स्वयमतिबलाच्चाशु वश्यं विधाय
स्वान्तं संविद्वदिममबलेत्यात्मदोषाऽद्य नोद्यः॥[1]

इस श्लोक में श्रीकृष्ण की एक पत्नी सत्यभामा का कथन है कि इन अतिबलशाली श्रीनेमिनाथ को बलपूर्वक अपने वश में कर हम सब अपने "अबला" दोष को मिटा दें। इसमें व्यंग्य रूप से ध्वनित हो रहा है कि इतने बड़े महाबली को वश में करने के कारण आज से हमें कोई अबला नहीं कहेगा।

हृद्यातोद्यध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
क्षौमोल्लोचोन्नतघनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमङ्गल्यदामो-
दृदीप्तेन्द्रास्त्रः स्वनुकृतपयोधारमुक्तावचूलः॥
षड्काशड्कास्पदमृगमदो वर्यवेडूर्यनद्ध—
क्षोणीखण्डोन्मुखरुचिरुहो मागधाधीतिकेकः।
आसीत् पित्रा स्थपतिकृतिनाऽनेहसा सद्ग्रहेणे—
वाम्भोदर्तुः प्रगुणिततमो मण्डपश्चौपयामः॥[2]

इस युग्मक श्लोक में वाच्यार्थ रूप से तो यही स्पष्ट हो रहा है कि विवाहमण्डप बहुभाँति सजाया गया था परन्तु व्यंग्य रूप से वर्षाकालीन आकाशीय वातावरण बहुत ही मनोहारी रूप में ध्वनित हो रहा है।

श्रीनेमीशः प्रतिदिनमथो कोटिमष्टौ च लक्षा
हेम्नः प्रातर्ददभिजनं कल्पसालायते स्म।
चित्रं कम्पं करकिशलयं नाऽऽप पावप्रदेशे
लग्नाः पुण्यैस्मित्सुमनसश्छायया चाशि विश्वम्॥[3]

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/१३।
२. वही, ३/२६-२७।
३. वही, ४/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में कवि ने भगवान् श्रीनेमि की कल्पवृक्ष से उपमा दी है, परन्तु यहाँ ध्वनि के सन्दर्भ में श्रीनेमि की कल्पवृक्ष से भी श्रेष्ठता ध्वनित हो रही है।

पित्र्यः सोऽयं तव मुररिपुः सुन्दरीणां सहस्रैः
लीलागारेऽनुपरततरः सन्ततं रंरमीति।
ऊरीकर्तुं क्षणमुदसहस्त्वं तु नैकामपीदृक्-
सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥[1]

इस श्लोक में ध्वनित हो रहा है कि अत्यन्त दक्ष लोगों की चतुराई को कौन समझ सकता है। यहाँ यह उपहास, व्यङ्ग्य रूप में अभिव्यञ्जित हो रहा है।

गोत्रस्यादावशकलपुरे चावरं वर्णमग्र्यो-
ज्जाग्रद्वर्णामुपतदमपि त्वं तु नातिष्ठपो माम्।
शीलं यद्वोन्नतिमत इदं जात्यवर्णानपेक्षं
मेरुर्नम्रा वहति शिरसा चैतमुन्नीलचूलः ॥[2]

इस श्लोक में व्यङ्ग्य रूप में महान् लोगों का उपहास ध्वनित हो रहा है।

आसीदाशेत्यमम ! महिषी प्रीतये ते जनिष्ये
श्यामा क्षामा त्वकृषि विधिना प्रत्युतोषोत्प्रदोषा।
पश्याम्येवं यदि पुनरजात्मत्वमप्यापयिष्ये
मूलात्कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि प्रकृत्य ॥[3]

इस श्लोक में व्यङ्ग्य रूप में यह ध्वनित हो रहा है कि पति तथा पुत्र विहीन स्त्री भी व्रत-कष्टों को सहन करती हुई सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है।

यावज्जीवं मदुपहितहृज्जीवितेनः शयेन
प्रेम्णा पास्यत्यमृतमपि मे विन्नमासीत्पुरेति।
प्रव्रज्यायाः पुनरभिलषंस्तन्मुखेनामुचन्मां
ज्ञानश्रीयुक् तदथ कमितोन्मुच्य तां तन्नमोऽस्तु ॥[4]

इस श्लोक में कवि ने राजीमती द्वारा श्रीनेमि को जो नमस्कार करवाया है, उसमें ध्वनि रूप में ईर्ष्याभाव अभिव्यञ्जित हो रहा है,

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/१९।
२. वही, ४/३३।
३. वही, ४/३४।
४. वही, ४/३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि यद्यपि मुनीन्द्र जन्म और मोक्ष दोनों में ही निस्पृह होते हैं, फिर भी मोक्ष में प्रवृत्त होने से उन्हें मोक्ष का इच्छुक कहा गया है।

काष्ण्र्योत्पादात्स्वजनवदनेऽतानि वर्णस्य तुल्यं
कृत्यं चाशाव्रततिनिकरोत्कर्तनान्नाथ ! नाम्नः।
अर्थादर्थान्तरमभियता द्राग्यथा चान्वयस्या-
सत्कर्मेभप्रमथसमये कारि मा मातुरित्थम्॥[1]

इस श्लोक में "कारि मा मातुरित्थम्" इस पद से व्यङ्ग्य रूप में यह अभिव्यञ्जित हो रहा है कि असत्कर्मरूपी हाथी के विनाश के समय आप भी मत भागियेगा, क्योंकि आपकी माता का नाम शिवा है और शिवा, शृगाली (सियारिन) को भी कहते हैं। अतः जैसे शृगालीपुत्र (सियार) भीरु होने के कारण किसी कठिन अवसर पर भाग जाता है, खड़ा नहीं रहता है, वैसे ही आप भी मत भागियेगा। यह बात यहाँ ध्वनि रूप में ध्वनित हो रही है।

इस प्रकार जैनमेघदूतम् में ध्वनि-विषयक अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

ध्वनि-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

जैनमेघदूतम् में अभिव्यञ्जित ध्वनि-प्रयोगों के मूल्याङ्कन हेतु हम यहाँ कालिदासीय मेघदूत में अभिव्यञ्जित ध्वनि-प्रयोगों के साथ उसकी तुलना प्रस्तुत कर रहे हैं। हम देखते हैं कि दोनों ही कवि अपने-अपने काव्यों को अत्यधिक चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए ध्वनि के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। परन्तु यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि इस ध्वनि-सिद्धान्त को अपने काव्य में प्रतिपादित करने में जहाँ कालिदास ने अतिलघुतापूर्ण पदावली को अपने काव्य में प्रयुक्त किया है, वहीं आचार्य मेरुतुङ्ग ने अतीव क्लिष्टतम पदावली का प्रयोग कर अपने काव्य में ध्वनि को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यथा—

त्वं जीमूत ! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशौ स्वे दृशौ नो विधत्ते।
दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै॥[2]

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/३६।

२. वही, १/१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में दीर्घ समास से युक्त एवं क्लिष्टतम अर्थों से युक्त पदावली का प्रयोग कर आचार्य मेरुतुङ्ग ने ध्वनि-विषयक व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित किया है, जबकि इसके विपरीत कालिदास के श्लोक कितने ही श्लिष्ट एवं सहजबोध्य छोटी-छोटी पदावली में मिलते हैं। यथा--

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषुदिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥[1]

इस श्लोक में कितने ही सरल एवं लघु शब्दों का प्रयोग कर कालिदास ने ध्वनि द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित किया है कि जिसप्रकार रात्रि के बीतने पर चक्रवाकी का अपने प्रिय चक्रवाक से समागम होता है, उसी तरह शाप की अवधि के बीत जाने पर मेरी (यक्ष की) पत्नी का भी मेरे (यक्ष के) साथ समागम होगा।

इसी प्रकार दोनों काव्यों के सूक्ष्मावलोकन से एक अन्य बहुत बड़ा अन्तर स्पष्ट होता है कि कालिदास ने जहाँ कुछ गिने-चुने शब्दों द्वारा भाव का एक रेखाचित्र खींचकर, उसमें रंग भरने का कार्य सहृदय पाठकों पर आश्रित कर दिया है, वहीं आचार्य मेरुतुङ्ग किसी भी रम्य-कल्पना के मन में आते ही लम्बे-चौड़े शब्दों में उसका वर्णन करने लगे हैं। अतएव इस दृष्टि से कालिदास का मेघदूत काव्य आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् काव्य की अपेक्षा अधिक खरा उतरा है; क्योंकि कालिदास का काव्य "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति" वाली रमणीयत्व की कसौटी पर पूर्णरूप से विशुद्ध उतरता है, उनके काव्य को पढ़ते-पढ़ते मन कभी ऊबता नहीं है, जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग इस कसौटी तक नहीं पहुँच पाये हैं। उन्होंने बहुत ही लम्बे-लम्बे वर्णनों की एक शृङ्खला सी लगा दी है, यथा—प्रथम सर्ग में नेमिनाथ की बाल-क्रीड़ा, पराक्रम-लीला; द्वितीय सर्ग में वसन्त-वर्णन। इसी प्रकार तृतीय सर्ग का विवाह-महोत्सव-वर्णन भी कुछ अधिक ही लम्बा किया गया है और चतुर्थ सर्ग में तीखे उपालम्भ प्रस्तुत किये गये हैं। इसके विपरीत कालिदास ने "गागर में सागर" भरने वाली उक्ति का वास्तविक पालन करते हुए अपने काव्य को उसी रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. मेघदूत : कालिदास, उत्तरमेघ २०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः इस बात का स्पष्टतया सङ्केत मिलता है कि जितनी सूक्ष्म एवं सहज पदों से युक्त शैली में कालिदास ने अपने भावों का स्वाभाविकतापूर्ण प्रकाशन कर दिया है, उतनी सूक्ष्मतापूर्ण शैली की अपेक्षा आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य को अतिगूढ भाषायुक्त शैली में प्रस्तुत किया है।

ध्वनि द्वारा अपने काव्य में रमणीयार्थता उत्पन्न करने में कालिदास की सिद्धहस्तता इसी बात से स्पष्ट होती है कि कालिदास के काव्य का प्रत्येक पद और लिङ्ग, वचन तथा विभक्ति इत्यादि ये काव्य के अवयव इतने अधिक रमणीयार्थ-व्यञ्जक सिद्ध हुए हैं कि इन्हीं काव्य-अवयवों से प्रभावित होकर आनन्दवर्धन[१], मम्मट[२], विश्वनाथ[३] इत्यादिक अनेक काव्यशास्त्रियों ने उनके काव्य के अनेकानेक श्लोकों को उदाहरणों के रूप में अपने काव्यों में उद्धृत किया है।

---

१. कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां।
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥—ध्वन्यालोक, ३/१।
दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ॥—वही, ३/१६।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठैः सुहृद्वः ॥—वही, ३/४४।
श्यामास्वाङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं।
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥—वही, २/१९।

२. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ॥
—काव्यप्रकाश, ४/२९, श्लोक संख्या ३६।

३. तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥
—साहित्यदर्पण, ३/८४।

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेन।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥—वही, ३/१५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन अनेक विशेषताओं के कारण निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार काव्य में दूत के रूप में प्रतिपादित मेघ-गर्जन ध्वनि वाला है, उसी भाँति कालिदास का यह सम्पूर्ण मेघदूत काव्य भी अत्यन्त गम्भीर एवं मर्मस्पर्शी काव्य-ध्वनि से युक्त है। ध्वनि-प्रधान होने के कारण ही इस काव्य को उत्तम काव्य की श्रेणी में रखा गया है। तभी तो कालिदास ने अपने काव्य के भावों को अधूरा ही छोड़, उसके कल्पित शेष भावों को सहृदय पाठकों की संवेदनशीलता पर छोड़ दिया है। यक्ष कर्तव्य-च्युत कैसे हुआ? उसका कनकवलय कैसे भ्रष्ट हुआ? और दुःसह ग्रीष्मावसानानन्तर मेघ का आलोक होने पर साधारण मनुष्य के हृदय में—विशेषकर प्रणयी एवं प्रणयिनी के हृदय में—कैसी-कैसी भाव-धाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं? ये सब सहृदय के हृदय से ही संवेद्य हो सकता है। अतः कालिदास का काव्य ध्वनि से आकण्ठ पूरित मिलता है। इसी विषय में महर्षि अरविन्द की कालिदास के बारे में यह टिप्पणी विशेष उल्लेख्य है—

"कालिदास मूर्धन्य कलाकार हैं, भावना में गम्भीर तथा रचना में मधुर, नाद एवं भाषा के स्वामी, जिसने गीर्वाणगिरा की असीम सम्भावनाओं में से अपने लिए वैसी पद्य-पद्धति तथा पद-योजना का निर्माण कर लिया है, जो निश्चितरूपेण अत्यधिक महान्, अत्यधिक शक्तिशाली एवं अत्यधिक नाद-विकसित है। कालिदास ने संस्कृत को श्रेष्ठ नाद के भव्य-प्रासाद में निर्मित कर दिया है और उनकी कृतियों से निर्गत होने वाली ध्वनि, वही ध्वनि है—जो प्राक्तन् साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में मिलती है[1]।"

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि ध्वनि के प्रयोग में कालिदास जिस सीमा तक पहुँच गये हैं, ध्वनि की उस सीमा तक पहुँचने का आचार्य मेरुतुङ्ग ने भी पर्याप्त प्रयास किया है, परन्तु न सही उस सर्वोच्चता को, परञ्च किञ्चित् अर्थों में तो उनके इन ध्वनि-प्रयोगों ने भी सफलता प्राप्त कर ली है।

---

१. कालिदास : श्री अरविन्द, (सेकेण्ड सीरीज), पृ० १६-१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में अलङ्कार-विमर्श

अलङ्कार : सामान्य परिचय :

कवि प्रकृति से शिक्षा लेने वाला एक अतिभावुक व्यक्ति होता है। वह अपनी रचनाओं को अलङ्कारों से सजाने का भी प्रेमी होता है। वह जो कुछ भी लिखता है, उसे सजाता अवश्यमेव है। वह अपनी रचना को सुन्दर बनाने के लिए नयी-नयी सामग्री एकत्रित करता है और उस सामग्री का ऐसा सरस-विन्यास करता है कि उस पर दृष्टि पड़ते ही नेत्रों को एक विशेष प्रकार का आनन्द आ जाता है और उसको सुनते ही लोगों का मन स्वतः उधर आकृष्ट हो जाता है। कवि हो या लेखक या कोई वक्ता, सभी अपने विचारों को व्यक्त करने से पूर्व अपने उन विचारों को मनोरम बनाने के हेतु उन्हें सजाते हैं। जिन साधनों द्वारा काव्य या लेख सुन्दर बनाया जाता है तथा हृदयहारी अद्‌भुत शक्ति से वह सम्पन्न किया जाता है, उनमें से अन्यतम साधन है—अलङ्कार। वाणी के ये अलङ्कार मानव की सहज प्रवृत्ति और रुचि से आविर्भूत हैं। लोक-जीवन में अनेक प्रकार के अलङ्करणों से, साज-सज्जा से दूसरों की धारणा को प्रभावित करने की प्रवृत्ति जन-सामान्य में पायी जाती है। काव्यजगत् में भी काव्य की उक्तियों को अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्हें अलङ्कृत किया जाता है। काव्योक्तियों में लोकोत्तर-चमत्कार अपेक्षित रहता है। लोकातिगामी चमत्कार की सृष्टि में ही कवि-प्रतिभा की सार्थकता है। लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अनलङ्कृत शब्द और अर्थ अलङ्कृत होकर अर्थात् चमत्कारपूर्ण भङ्गी विशेष से कथित होने पर काव्य-पदवी प्राप्त कर लेते हैं—

यानेव शब्दान्वयमालपामो यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति[1]॥

कवि-प्रतिभा से समुद्‌भूत उक्तियों के अलोकसिद्ध सौन्दर्य को कुछ आचार्यों ने व्यापक अर्थ में अलङ्कार कहा है—**सौन्दर्यमलङ्कार**[2] : अर्थात् उनके अनुसार अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है।

---

१. शिवलीलार्णव, १/१३।

२. काव्यालङ्कारसूत्र, १/१/२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलङ्कार का सामान्य रूप है—**वैचित्र्यमलङ्कारः** अर्थात् वैचित्र्य, विचित्रता। अलङ्कार कभी विचित्रता से हीन नहीं हो सकता या यह कहें कि विचित्रता या चमत्कार ही अलङ्कार की कसौटी है। अलङ्कार का अलङ्कारत्व भी तभी है, जब वह किसी चमत्कार से मण्डित हो। बिना विचित्रता के कोई भी साधन अलङ्कार के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता है। यदि वैचित्र्य नहीं तो अलङ्कार भी नहीं। मान लें कोई कवि बैल का वर्णन करता हुआ कहता है--

गोरपत्यं बलीवर्दः, तृणान्यत्ति मुखेन सः।

अर्थात् यह गाय का बेटा बैल है, जो मुख से तृणों को चरता है। अब यह वर्णन जातिगत होने से सच्चा अवश्य ही है पर यह चमत्कारहीन होने के कारण अलङ्कार की कोटि में कभी भी नहीं आ सकता है। इस प्रकार अलङ्कार का सामान्य लक्षण है—वैचित्र्य; जिसे प्रत्येक अलङ्कार में होना नितान्त आवश्यक होता है।

इस अलङ्कार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। दोनों ही अर्थ अलङ्कार शब्द की अलग-अलग व्युत्पत्तियों से उपलब्ध हैं। भाव-व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ (अलङ्कृति अर्थात् अलम् + कृ + क्तिन् = अलङ्कृति तथा अलम् + कृ + घञ् = अलङ्कार) भूषण या शोभा का भाव है—**अलङ्कृतिरलङ्कारः**[1]। इस अर्थ में अलङ्कार सौन्दर्य से अभिन्न है। इसी अर्थ में वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय कहकर अलङ्कारयुक्त काव्य को ग्राह्य तथा अलङ्कारहीन या असुन्दर काव्य को अग्राह्य कहा था—**काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्**[2]। इस अर्थ में कवि की सभी उक्तियों का सौन्दर्य अलङ्कार है। काव्य के वे सभी तत्त्व, जो काव्य में शोभा का आधान बनते हैं, व्यापक अर्थ में अलङ्कार के अङ्ग हैं।

अलङ्कार का दूसरा विशिष्ट अर्थ (जिस अर्थ में शब्द और अर्थ के अनुप्रास उपमादि अलङ्कार कहलाते हैं) उस शब्द की करण-व्युत्पत्ति से उपलब्ध है। करण-व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ होता है—वह तत्त्व, जो काव्य को अलङ्कृत अर्थात् सुन्दर बनाने का साधन हो (अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः)—**करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते**[3]। आज अलङ्कार शब्द का यही अर्थ अधिक प्रचलित है।

१. काव्यालङ्कारसूत्र, १/१/२।
२. वही, १/१/१।
३. वही, १।१/२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हारादि अलङ्कार युवती के नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि में उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमादि अलङ्कार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्षक हैं। इस सिद्धान्त का पोषण आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति रसवादी आचार्यों ने भी किया है। ये रसवादी आचार्य अलङ्कार की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते हैं, बल्कि ये उचित और सन्तुलित रूप में अलङ्कार-योजना को महत्त्व देते हैं। निस्सन्देह अलङ्कार वाणी के विभूषण ही हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। अतएव काव्य में रमणीयता और चमत्कार का आधान करने के लिए अलङ्कारों की स्थिति अनिवार्य है।

यूनानी काव्यशास्त्र के अनुसार अलङ्कार उन विधाओं का नाम है, जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओं के मन में वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल भावना जगाकर, उनको अपना समर्थक बना सकते हैं।[1] भारतीय चिन्तक भी वैदिक युग से ही अलङ्कार का महत्त्व स्वीकार करते चले आ रहे हैं। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी में अनायास ही अलङ्कार आ जाते हैं। विकास की दृष्टि से अलङ्कार के क्षेत्र की तीन स्थितियाँ मानी जा सकतो हैं—(१) आदिम-स्थिति, (२) विकसित-स्थिति और (३) प्रतिष्ठित-स्थिति। पहली आदिम-स्थिति में अध्येताओं को काव्य के प्रभावक धर्म का एक ही रूप ज्ञात था, जिसको वे अलङ्कार कहते थे। उसके बाद दूसरी विकसित-स्थिति में अलङ्कार शब्द में अर्थ-विस्तार हुआ और सौन्दर्य मात्र को ही अलङ्कार कहा जाने लगा। तत्पश्चात् इस तीसरी प्रतिष्ठित-स्थिति में प्रभावक धर्म की दूसरी विधाओं को स्वतन्त्रता मिली और वे सभी अलङ्कार के साथ शास्त्रीय अध्ययन का विषय बन गयीं। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत काव्य के सभी उपकरण और रचना-प्रक्रिया अन्तर्भूत हो गयी।

ऋग्वेद में उपमा, रूपक, यमक आदि का प्रयोग पाया जाता है। यास्क ने "अलङ्करिष्णुम्" का प्रयोग अलङ्कार के अर्थ में किया है—**तितिनिषं धर्मसन्तानादपेतमङ्करिष्णुमयज्वानम्**[2]। इन्होंने निघण्टु में उल्लिखित उपमा-वाचक द्वादश शब्दों में से दश का प्रयोग तृतीय अध्याय में कर अलङ्कारशास्त्र की उपादेयता प्रदर्शित की है। वैयाकरणों द्वारा

१. हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ७।

२. निरुक्त, ६/१७।,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यास्क और भरत के बीच अलङ्कार के कुछ शास्त्रीय शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। पाणिनि के समय तक सादृश्यमूलक अलङ्कार स्वीकृत हो चुके थे। कृत, तद्धित, समास आदि पर सादृश्य का प्रभाव स्पष्ट है। अतएव यह सिद्ध होता है कि वैयाकरणों ने उपमा आदि अलङ्कारों से प्रभाव ग्रहण कर तुलना-सूचक शब्दों के नियमन का विधान किया है। इस नियमन के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अलङ्कारशास्त्र का बीजारोपण भरत मुनि के पूर्व हो चुका था। यही कारण है कि वैयाकरणों ने अलङ्कार के प्रभाव को ग्रहण किया है।

काव्य में अलङ्कार के स्थान तथा अन्य काव्य-तत्त्वों के साथ उसके सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत प्रकट किये गये हैं। इस दृष्टिभेद के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद स्वाभाविक था। अतः काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत स्थापित करने वाले छः प्रस्थान भारतीय काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं—अलङ्कार-प्रस्थान, रीति-प्रस्थान, वक्रोक्ति-प्रस्थान, रस-प्रस्थान, ध्वनि-प्रस्थान और औचित्य-प्रस्थान।

भामह, उद्भट आदि आलङ्कारिकों ने काव्य-सौन्दर्य के लिए काव्य का अनिवार्य धर्म अलङ्कार को माना है, परन्तु उससे विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त उपमा आदि माधुर्य स्पष्ट नहीं हो पाता है। भामह ने काव्य के अलङ्कार को नारी के आभूषण के समान बताकर कहा कि जैसे रमणी का सुन्दर मुख भी भूषण के अभाव में सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलङ्कारहीन काव्य सुशोभित नहीं होता है—**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्म्**।[1] भामह ने वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलङ्कार का प्राण माना है। वक्रोक्ति से अनुप्राणित होने के कारण अलङ्कार काव्यार्थ को भास्वित करते हैं। अलङ्कृत या प्रकृत उक्ति वार्ता मात्र होती है, काव्य नहीं—

गतोऽस्तमर्को भातोन्दुर्याान्ति वासाय पक्षिगः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥[2]

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, १/१३।
२. वही, २/८७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का आवश्यक उपादान मानने के कारण भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने गये हैं। रुय्यक के शब्दों में अलङ्कार तन्त्र प्रजापति है। दण्डी ने अलङ्कार के व्यापक अर्थ में उसे काव्य-सौन्दर्य का हेतु कहा है—**काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारात् प्रचक्षते**।[1] दण्डी ने विशिष्ट अर्थ में उपमा आदि अलङ्कार को श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों से जहाँ दोनों का सापेक्ष महत्त्व निर्धारित करना चाहा है, वहाँ अलङ्कार की अपेक्षा गुण पर ही उनका विशेष आग्रह जान पड़ता है। दण्डी अलङ्कार को काव्य का आभ्यन्तर धर्म ही स्वीकार करते हैं।

वामन ने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानकर काव्य को अलङ्कार के सद्भाव से ही ग्राह्य कहा था। अलङ्कार काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं—**तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः**।[2] स्पष्ट है कि गुण के अभाव में अलङ्कार से काव्यत्व नहीं आ सकता है। अलङ्कार सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते हैं। भामह तथा दण्डी की भाँति वामन ने भी रस, ध्वनि को अलङ्कार में अन्तर्भूत माना है। काव्य में अलङ्कार के सापेक्ष महत्त्व की दृष्टि से वामन और दण्डी का मत प्रायः मिलता-जुलता है। आचार्य उद्भट अलङ्कार को गुण के समान ही महत्त्व देते हैं। उनका मत है कि अलङ्कार भी काव्य-सौन्दर्य के हेतु हैं। जयदेव ने काव्य-लक्षण में अलङ्कार की अनिवार्य सत्ता मानी है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्[3] ॥

उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि अलङ्कारहीन शब्दार्थ को काव्य मानना उष्णतारहित अग्नि की कल्पना करने के समान है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती[4] ॥

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व कहा है। यह वक्रोक्ति या उक्ति की लोकोत्तर

---

१. काव्यादर्श, २/१।
२. काव्यालङ्कार, ३/१/२।
३. चन्द्रालोक, १/७।
४. वही, १/८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चमत्कारपूर्ण भङ्गी शब्दार्थ का उपस्कार करती है, अतः वक्रोक्ति अलङ्कार है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते[1] ॥

औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट किया है कि औचित्य का अर्थ है—काव्याङ्गों के अनुरूप घटना का होना। औचित्य काव्य का कोई स्वतन्त्र तत्त्व न होकर सभी काव्य-तत्त्वों का प्राण है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य के अलङ्कार अपने आप में काव्य-सौन्दर्य के हेतु नहीं हैं। उचित विन्यास होने पर ही अलङ्कार सच्चे अर्थ में अलङ्कार होते हैं और काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं—

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः[2] ॥

इस प्रकार रसवादी आचार्यों के अनुसार इसका प्रधान लक्ष्य है—शब्दार्थ का शोभावर्द्धन करते हुए रस का उपकार करना।

जैनमेघदूतम् में अलङ्कार :

सामान्य रूप से यह स्वीकार्य है कि रस अथवा प्रेषणीय भाव के उपकारक धर्म ही अलङ्कार हैं। जहाँ अलङ्कार एवं अलङ्कार्य में पूर्ण सामरस्य स्थापित हो जाये, वहाँ काव्य की प्रकृत रमणीयता उपलच्छित होने लगती है। आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में अलङ्कार-प्रस्तुति इसी कोटि की है। जैनमेघदूतम् में नियोजित अनेकविध अलङ्कार, उनकी प्रस्तुति-कला के प्रस्तोता हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग की यह विशेष प्रतिभा का ही परिणाम है कि जैनमेघदूतम् में निगूढित ये अलङ्कार-प्रयोग सहृदय रसिक को आस्वादित किये बिना नहीं रहते। इनका प्रत्येक अलङ्कार अपने में एक विशेष चमत्कृति रखता है। इन्होंने समस्त अलङ्कारों की प्रस्तुति में अपनी प्रतिभा को प्रकाशित किया है। प्रायः जैनमेघदूतम् का प्रत्येक श्लोक चार-पाँच अलङ्कारों के गुच्छ से अलङ्कृत है। कहीं-कहीं तो मेरुतुङ्ग ने एक ही श्लोक में अनेक अलङ्कारों को एक साथ प्रयुक्त कर अपनी अलङ्कार-प्रतिभा को चमत्कृत करने का प्रयास किया है। यथा—

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १/१० ।
२. औचित्यविचारचर्चा, ६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्ति त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार ॥[1]

अर्थात् तीनों लोकों के गुरु तथा अत्यन्त बुद्धिमान किसी अर्थात् श्रीनेमिनाथ ने चिदानन्द सुखों को पाने की इच्छा से सभी पाप-व्यापारों की मूलकारण कान्ता (राजीमती) का त्याग कर दिया । तदनन्तर सुरतरु के सदृश अर्थात् सभी की इच्छाओं को पूर्ण करने वाला दान देकर तथा अत्युच्च पद पर आरोहण करने की इच्छा से पर्वतश्रेष्ठ एवं पवित्र रैवतक को स्वीकार किया ।

१. यहाँ पर कवि ने श्रीनेमि के सम्बन्ध में प्रतिपादन करते हुए **कश्चित्कान्तां तत्याज रैवतं स्वीचकार** कहा है, अतः उसके उपलक्षण के कारण यहाँ अवसर अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है ।

२.कान्तात्याग में विषयसुखेच्छा आदि हेतु थे, इसलिए हेतु अलङ्कार भी स्पष्ट होता है ।

३. कान्ता का त्यागकर श्रीनेमि ने पर्वतश्रेष्ठ रैवतक को स्वीकार किया, अतः यहाँ दो क्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलङ्कार भी स्पष्ट होता है ।

४. **पुण्यं पृथ्वीधरवरं** इस कथन से जाति अलङ्कार भी स्पष्ट होता है ।

५. एक ही वाक्य से, उसी पद से अन्य अर्थ के उद्भव के कारण श्लेष अलङ्कार भी स्पष्ट है ।

६. **सुरतरुरिव** इस कथन से उपमा अलङ्कार का बोध होता है ।

अतः इस प्रथम श्लोक में ही हमें अवसर, हेतु, दीपक, जाति, श्लेष तथा उपमा अलङ्कार आदि छः अलङ्कार उपलब्ध होते हैं ।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् में सर्वत्र इसी प्रतिभा-प्रकाशन के निमित्त एक श्लोक में ही अनेक अलङ्कारों को समाहित करने का सफल प्रयास किया है । उन्होंने शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों, दोनों का अपने काव्य में यथाविधि प्रयोग किया है । इस क्रम में हम यहाँ सर्वप्रथम जैनमेघदूतम् में प्रयुक्त शब्दालङ्कारों पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, तत्पश्चात् अर्थालङ्कारों पर विचार करेंगे—

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रास :—वर्णों की समानता अथवा आवृत्ति ही अनुप्रास है। जो उद्देश्य राइम (Rhyme अर्थात् अन्त्यनुप्रास, तुकबन्दीपूर्ण कविता या काफिया) का है, वही उद्देश्य अनुप्रास का है। एक ध्वनि की आवृत्ति में एक ही ध्वनि-सङ्गीत रहता है। राइम में प्रत्येक पङ्क्ति के शेष अक्षर में वह ध्वनि घूमकर आ जाती है, उसमें एक विशेष प्रकार का श्रुतिमाधुर्य होता है। इसके विपरीत अभिन्न-अक्षर-छन्द में वह माधुर्य नहीं होता है। इस माधुर्य की पूर्ति वहाँ पर अनुप्रास ही करता है। किन्तु जिस ध्वनि की पुनरावृत्ति करनी हो, वह भी मधुर होनी चाहिए। जो विकट ध्वनि है, उसके बार-बार के आघात से वाक्यविन्यास श्रुतिमधुर होने के स्थान पर और कर्णकटु ही हो जाता है। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग अपरिहार्य ही हो तो एक ही पङ्क्ति में एक ही बार उसका प्रयोग करना उचित होता है। क्योंकि वीणा के तार में बार-बार भी झनकार देने पर वह श्रुतिमधुर ही लगती है पर ढेकी की ढक-ढक एक भी बार कर्णपट को मधुर ध्वनि नहीं दे पाती है। अनुप्रास का लक्षण स्पष्ट करते हुए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने लिखा है—

वर्णसाम्यमनुप्रास :[1]

अर्थात् वर्णों की समानता अथवा आवृत्ति ही अनुप्रास है।

आचार्य मेरुतुङ्ग के अनुप्रास-प्रयोग में वीणा की मधुर ध्वनि मिलती हैं, पर इतना अवश्य प्रतीत होता है कि इस मधुर झनकार को उत्पन्न करने के लिए उनको अथक प्रयास अवश्य करना पड़ा है, तभी जाकर वे इसमें सफलीभूत हुए हैं। उनके **नीलीनीले**[2], **कनककदलीसद्मगाः**[3], **दुदुवुरिव**[4], **नवनवनवान्**[5] आदि अनुप्रास स्थलों में पर्याप्त श्रुतिमधुरता उपलब्ध होती है। फिर भी जैनमेघदूतम् के अनुप्रास-प्रयोगों में कहीं-कहीं गूढता भी आ गयी है, जो स्वाभाविक है। इसी कारण काव्य के कुछ

---

१. काव्यप्रकाश, ९/१०४।
२. जैनमेघदूतम्, १/६।
३. वही, १/१६।
४. वही, १/१९।
५. वही, १/२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रासप्रयोग कर्णकटु भी बन गये हैं। यथा—**काचिच्चञ्चत्परिमलमिल-त्लोलरोलम्बमालां**[1], **तोयस्थानान्यतिघनरसानाददानः**[2], **पौरैर्गौरानन-रुचिभरैर्हूतिकर्मान्तरेण**[3]।

प्रायः इसी प्रकार जैनमेघदूतम् के प्रत्येक श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार प्राप्त होता है, भले ही कहीं पर शब्दानुप्रास के रूप में, कहीं वृत्यानुप्रास के रूप में और कहीं लाटानुप्रास के रूप में।

श्लेष : आचार्य मम्मट ने श्लेष अलङ्कार का निरूपण करते हुए कहा है कि अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण जब मिलकर एक हो जाते हैं, तो वह श्लेष अलङ्कार होता है—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा[4]॥

श्लेष अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपनी कला को पूर्णतया निखारा है। जैनमेघदूतम् में सर्वाधिक अलङ्कार के रूप में श्लेष ही प्रयुक्त है। श्लेषयुक्त किञ्चित् स्थलों का दिग्दर्शन किया जा सकता है। यथा—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[5]॥

यहाँ पर **कश्चित्** शब्द में श्लेष स्पष्ट होता है, क्योंकि इस पद से श्रीनेमिनाथ का बोध हो रहा है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् के अन्य अनेक स्थानों पर श्लेष अलङ्कार के प्रयोग[6] प्रस्तुत किये हैं। जैनमेघदूतम् में पदे-पदे लगे

१. जैनमेघदूतम्, २/१९।
२. वही, २/३३।
३. वही, ३/३५।
४. काव्यप्रकाश, ९/८४।
५. जैनमेघदूतम्, १/१।
६. वही, १/२, ७, ११, १४, २०, २१, ३२, ३७, ३९, ४२, ४३, ४८; २/१, २, ४, १०, १८, २८, २९, ३०, ३२, ३३, ३५, ३७, ४०, ४३; ३/४, ६, १२, ३८, ३९, ५२; ४/१, ८, ११, १२, २५, २६, २७, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लेष के ये दुर्भेद्य-कपाट बिरले कृतविद्य ही भेदने में सफल हो पाते हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग के ये श्लेष-प्रयोग वास्तव में इतने जटिल बन गये हैं कि काव्य में श्लेषों के इस बीहड़ वन को पार करते-करते सहृदय रसिक से चूक हो ही जाती है। फिर भी श्लेष के ये प्रयोग कवि की प्रतिभा के परिचायक तो हैं ही।

वक्रोक्ति : कविराज विश्वनाथ ने वक्रोक्ति अलङ्कार का लक्षण साहित्यदर्पण में प्रकार दियाइस है कि जहाँ श्लेष के कारण अथवा ध्वनिविकार अर्थात् काकु के कारण किसी के अन्यार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाता है, तब वह—श्लेष के कारण "श्लेष-वक्रोक्ति" अथवा काकु के कारण "काकु-वक्रोक्ति" इन दो भेदों से—वक्रोक्ति अलङ्कार होता है—

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा[1]॥

जैनमेघदूतम् में कवि ने वक्रोक्ति अलङ्कार का मात्र एक प्रयोग किया है। कवि द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति अलङ्कार का यह प्रयोग बहुत सुन्दर बन गया है, जो इस प्रकार प्रस्तुत है—

नार्या आर्यापर परमिति त्वं द्विषन् कोऽसि निष्णो
जिष्णोर्मान्या प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो या।
संपश्यस्व क्षणमपि महाव्रत्यपीशो न मुञ्चेद्
गौरीं गौरी गिरमिति जगौ प्रेमकोपादगौरी[2]॥

यहाँ पर **गौरी** पद में "कृष्ण की पत्नी गौरी", "अगौरी (आरक्त)" और "भगवान् शङ्कर की पत्नी गौरी" ये तीन अर्थ हैं। अतः यहाँ श्लेष वक्रोक्ति है।

उपमा : उपमा उत्तम वर्णन का एक अङ्ग है। उपमा विषय को अलङ्कृत करती है, वर्णन को अति उज्ज्वल बनाती है, सौन्दर्य को एक स्थान पर एकत्रित करती है, मनोराज्य एवं बहिर्जगत् का सामञ्जस्य प्रस्तुत कर सहृदय रसिक को विस्मित करती है एवं वक्तव्य को पूर्णतया स्पष्ट करती है। आचार्य मम्मट ने उपमा अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार

---

१. साहित्यदर्पण, १०/९।
२. जैनमेघदूतम्, ३/१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया है कि उपमान और उपमेय के भेद होने पर भी उन दोनों का एक समान धर्म से सम्बन्ध उपमा कहलाता है--

साधर्म्यमुपमा भेदे ।[1]

आचार्य मेरुतुङ्ग ने उपमा अलङ्कार का अपने काव्य में यथाविधि निरूपण किया है। उपमा-निरूपण में आचार्यश्री सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने सृष्टिपदार्थीय और व्यावहारिक उपमाओं के साथ ही जैनमेघदूतम् में आध्यात्मिक, शास्त्रीय एवं दार्शनिक उपमाएँ भी प्रस्तुत की हैं। यथा—

दानं दत्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः ।
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[2] ॥

यहाँ **सुरतरुरिव** अर्थात् कल्पवृक्ष के समान श्रीनेमि को बतलाया गया है, अतः सुरतरु एवं श्रीनेमि में साधर्म्यता स्थापित होने के कारण इस श्लोकार्द्ध में उपमा अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनोमप्यमुञ्च-
न्मांनिर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने[3] ॥

यहाँ पर **निर्मोकत्वचमिव** अर्थात् सर्प की केंचुल से राजीमती की साधर्म्यता स्थापित किये जाने के कारण उपमा अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने काव्य में अनेक दार्शनिक उपमाएँ भी प्रस्तुत की हैं, उनमें से एक दार्शनिकतापूर्ण उपमा प्रस्तुत श्लोक में देखी जा सकती है—

अन्या लोकोत्तर ! तनुमता रागपाशेन बद्धो
मोक्षं गासे कथमिति ? मितं सस्मितं भाषमाणा ।
व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध[4] ॥

यहाँ पर कवि ने कितनी सुन्दर दार्शनिक उपमा प्रस्तुत की है कि जिस प्रकार प्रकृति आत्मा को बाँध लेती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की पत्नी ने उस माला को श्रीनेमि के कटिप्रदेश में बाँध दिया।

---

१. काव्यप्रकाश, १०/८७।
२. जैनमेघदूतम्, १/१ (उत्तरार्ध)।
३. वही, १/७ (पूर्वार्ध)।
४. वही, २/२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग ने इन दार्शनिक उपमाओं में भी अन्य उपमाओं की भाँति विचित्र प्रकार से सजीवता सन्निविष्ट कर दी है। जैनमेघदूतम् में उपमा अलङ्कार के अन्य अनेक प्रयोग[1] मिलते हैं। इन प्रयोगों के आधार पर कहा जा सकता है कि उपमा-निरूपण में आचार्य मेरुतुङ्ग अत्यन्त निपुण हैं।

उत्प्रेक्षा : उपमा अलङ्कार की भाँति उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी काव्य को अत्यन्त रमणीयता प्रदान करता है। आचार्य मम्मट ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है--

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।[2]

आचार्य मेरुतुङ्ग ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रभूत प्रयोग किया है। जैनमेघदूतम् के प्रत्येक सर्ग में उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो अत्यन्त उच्चकोटिक भी हैं। यथा—

श्रीमान वंशो हरिरिति परां ख्यातिमापत्क्षितौ य-
स्तस्मिन् मूर्त्ता इव दश दिशां नायका ये दशार्हाः ॥[3]

यहाँ पर **दिशां नायकाः इव** अर्थात् दिशाओं के स्वामियों के समान जो दशार्हा हैं वैसे श्रीसमुद्र में उत्प्रेक्षा अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

विश्वाधीशं प्रति रतिपतेरग्यमित्रीणतस्तं
प्रादुर्भूतः सुरभिरभितः किं नु नासीरवीरः[4] **॥**

यहाँ **रतिपतेरग्यमित्रीण इव** अर्थात् काम के सेनानी के समान समस्त विश्व में व्याप्त वसन्त ऋतु में उत्प्रेक्षा अलङ्कार परिलक्षित हो रहा है। इसी प्रकार निम्न श्लोक में भी कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गई है–

हा ! त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः स्पर्धनादेनसां नौ
वृत्ते पात्रं प्ररुदित इतीवानुतप्ते सशब्दम् ॥[5]

---

१. जैनमेघदूतम्, १/८,९,२०,२१,२४,२९,३०,३१,३२,३७,४३,४८; २/४,२५, २६,२७,३७,३८,३९,४०,४२,४३,४९; ३/१६,३६,३७,४२,४३,४५,४८, ४९,५५; ४/१,५,६,११,१२,१५,२०,२९,४१।

२. काव्यप्रकाश, १०/९२।

३. जैनमेघदूतम्, १/ १४ (पूर्वार्ध)।

४. वही, २/१ (उत्तरार्ध)।

५. वही, ३/१ (उत्तरार्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुतप्ते प्ररुदित इव अर्थात् अनुतप्त होकर रोते हुए से वे कमल सुशोभित हुए, में उत्प्रेक्षा अलङ्कार स्पष्ट है। इसी प्रकार जैनमेघदूतम् के चारों सर्गों में आचार्य मेरुतुङ्ग ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार के अन्य भी अनेक प्रयोग[1] प्रस्तुत किये हैं, जो दर्शनीय हैं।

रूपक : रूपक अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि उपमान और उपमेय का जो अभेद वर्णन है, वही रूपक है अर्थात् अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेद वाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक अलङ्कार होता है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः[2]।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में रूपकों के अत्यन्त सजीव प्रयोग किये हैं। रूपक अलङ्कार के निरूपण में मेरुतुङ्ग की अलङ्कार-निपुणता-कला पूर्णतया प्रस्फुटित मिलती है। इनके इन रूपक-प्रयोगों में उपमान और उपमेय में ऐसा सीधा सम्बन्ध बैठ जाता है कि उपमेय पर उपमान का आरोप स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। यथा—

मन्दं मन्दं स्वयमपि यथा सान्त्वयत्येष कान्तं
मत्सन्देशैर्दवमिव दवप्लुष्टमुत्सृष्टतोयैः[3] ॥

अर्थात् जिस प्रकार यह मेघ अपने मुक्त जल से दावानल से दग्ध वन को धीरे-धीरे शान्त करता है, उसी प्रकार यह मेरे स्वामी (श्रीनेमि) के हृदय को भी मन्द-मन्द गति से स्वयं ही मेरे सन्देश के द्वारा सान्त्वना देगा (शान्त करेगा)। यहाँ उपमेय कान्त पर दावानल से दग्ध वन अर्थात् उपमान का आरोप होने के कारण कितना सुन्दर रूपक परिलक्षित होता है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में रूपक अलङ्कार के अन्य बहुत से प्रयोग[4] प्रस्तुत किये हैं, जिनके भाव अत्यन्त स्पष्ट एवं अर्थबोधक हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२,१६,१९,२५,४१,४८; २/२,३,४,५,६,७,८,१३,१४, २२,२८,२९,३४,३९,४४; ३/२,३,३१,३२,३४,३५,३६,३८; ४/३,४, ५,१२।

२. काव्यप्रकाश, ११/९३।

३. जैनमेघदूतम्, १/८ (उत्तरार्ध)।

४. वही, १/१४,१५,२५,२९,३१,३४,३७; २/२,३,६,८,१०,१४,१५,२१,३४, ३९,४३,४४,४७,४९; ३/११,१४,१८,२१,२७,३९,४६,४७,४८,५१,५२; ४/६,१०,११,२२,३९,४०,४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समासोक्ति : समासोक्ति अलङ्कार का अर्थ है—'समासेन अर्थात् संक्षेपेण उक्तिः'। श्लेषयुक्त भेदकों अर्थात् विशेषणों द्वारा पर अर्थात् अप्रस्तुत का कथन समासोक्ति है। इसी को इस प्रकार कह सकते हैं कि इसमें प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है और यह बोध श्लेषयुक्त विशेषणों की सहायता से होता है, क्योंकि ये विशेषण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों से समान रूप से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। काव्य-प्रकाशकार ने समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है कि जहाँ सम अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाता है, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।[1]

समासोक्ति अलङ्कार के प्रयोग में मेरुतुङ्ग सिद्धहस्त हैं। मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में समासोक्ति अलङ्कार के अनेक प्रयोग किये हैं, जो अपनी विचित्रता के कारण दर्शनीय हैं। यथा—

आगृह्णानावुपयतिकृते कृत्स्नवात्सल्यखानी
पौनःपुन्यात्प्रकृतिसरलौ क्षीरकण्ठाविवैतौ।
लप्स्ये लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं तद्विवक्ष्येऽ-
तीक्ष्णोक्त्येत्यागमयत कियत्कालमेषोऽप्यलक्ष्यः[2] **॥**

यहाँ पर **लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं** लोकप्रीतिकारी शम मार्दव सन्तोष आदि गुणों की खान के समान किसी कन्या में लोकप्रीतिकारी गुणों वाली दीक्षा का समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार जैनमेघ-दूतम् में समासोक्ति अलङ्कार के किञ्चित् अन्य प्रयोग[3] भी प्रस्तुत किये गये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही अति रोचक हैं।

निदर्शना—आचार्य मम्मट ने निदर्शना अलङ्कार का लक्षण देते हुए कहा है कि जहाँ वस्तु का असम्भव या अनुपद्यमान सम्बन्ध अर्थात् प्रकृत का अप्रकृत के साथ सम्बन्ध उपमा का परिकल्पक होता है, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है—

---

१. काव्यप्रकाश, १०/९७।

२. जैनमेघदूतम्, १/३१।

३. वही, १/३४,४४; २/१४,१५,२१,२८,३०,३३,३७; ३/३,२२,२३,४६; ४/२१,२३,४०,४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निदर्शना, अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमा परिकल्पकः[1]।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने निदर्शना अलङ्कार के प्रयोग में भी पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। जैनमेघदूतम् में नियोजित निदर्शना अलङ्कार के ये प्रयोग अति सुन्दर भाव व्यक्त करते हैं। निदर्शना अलङ्कार का निम्न प्रयोग दर्शनीय है। यथा—

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यश्रु वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्यत्यौष्ण्यमियत्।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम्[2] ॥

यहाँ पर विरहिणी स्त्रियों का अश्रु बरसाने, विलाप करने, निःश्वास छोड़ने आदि से मेघ के गर्जने, बरसने और चमकने का सम्बन्ध स्थापित होने से परस्पर में बिम्बप्रतिबिम्बभाव व्यक्त होने के कारण निदर्शना अलङ्कार है। इसी प्रकार जैनमेघदूतम् के अन्य अनेक स्थलों पर निदर्शना अलङ्कार के अनेक प्रयोग[3] प्रदर्शित किये गये हैं।

अतिशयोक्ति—वस्तुतः यह अलङ्कार चार विभिन्न अलङ्कारों का समुदाय है, परन्तु इन चारों अलङ्कारों के मूल में लोकातीत उक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति विद्यमान है। अतः इसका साधारण योगरूढ़ नाम अतिशयोक्ति है। इसमें उपमेय अधिक गौण हो जाता है और उपमान इतना प्रधान हो जाता है कि उपमेय को पूर्णतः निगल जाता है। किसी नायिका के मुख को देखकर एकदम यह कह दिया जाता है—'चन्द्रः उदेति' (चाँद निकल आया है), यहाँ मुख का चाँद ने निगरण कर लिया है। इसी दशा को अतिशयोक्ति कहते हैं। ध्यातव्य यह है कि इसमें अभेदज्ञान आहार्य अर्थात् कल्पित होता है। उपमान द्वारा उपमेय के निगरण के पश्चात् जब उनके अभेद का ज्ञान होता है, तब दोनों की भिन्नता का भी पता रहता है। जब किसी नायिका का मुख देखकर कह उठते हैं कि—'चन्द्रः उदेति' तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसको वास्तव में चन्द्रमा समझ लेते हैं। यदि ऐसा मान लें तब तो वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार हो जायेगा, परन्तु वास्तव में वहाँ उनकी अभिन्नता की कल्पना करते हैं, यही अतिशयोक्ति है।

---

१. काव्यप्रकाश, १०/९७।
२. जैनमेघदूतम्, १/६।
३. वही, २/५,९,१०,१४,२०,२३,२४,४५,४८,४९; ३/९; ४/१९,३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपमेय का निगरण करते हुए उपमान के साथ उपमेय का जहाँ अभेदज्ञान होता है, उसको अध्यवसाय कहते हैं और यह अध्यवसाय जहाँ पर सिद्ध हो जाये, वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है—

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यथोऽक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सः[1] ॥

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के निरूपण में अत्यन्त रुचि ली है । उन्होंने जैनमेघदूतम् में अतिशयोक्ति अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं । अतिशयोक्ति के ये प्रयोग पूर्णतया स्पष्ट भाव वाले एवं मधुर हैं । यथा—

भाण्डागारं गतभयमसुं वीक्ष्य हृष्टः समस्तान्
धैर्यौदार्यादिकगुणमणीनत्र वेधा न्यधत्त ।
तान् किं वक्तुं गणयितुमथ प्रेक्षितुं भूर्भुवः स्वः-
प्रष्ठा देवा मुखकरदृशां साक्षिणोऽधुः सहस्त्रं[2] ॥

यहाँ पर श्रीनेमि और भाण्डागार (सुरक्षित कोश) का अभेद कथन, भेद रहने पर भी किया गया है, अतः भेद में अभेद अध्यवसाय के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है । इसी प्रकार जैनमेघदूतम् में अतिशयोक्ति अलङ्कार के अन्य अनेक प्रयोग[3] भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

दृष्टान्त—आचार्य मम्मट ने दृष्टान्त अलङ्कार का निरूपण करते हुए कहा है कि साधारण धर्म सहित वस्तु अर्थात् उपमान उपमेय आदि का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त अलङ्कार कहलाता है—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्[4] ।

दृष्टान्त अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो । एक ही अर्थ का दो शब्दों से अभिधान

---

१. काव्यप्रकाश, १०/१०० ।
२. जैनमेघदूतम्, १/२५ ।
३. वही, १/३८; २/१४,१८,४३,४४; ३/३,७,१४,१६,२०,२१,२५,२८,३०, ३१,३४,३९,४५; ४/२,६,९,१०,२८,३४,४०,४२ ।
४. काव्यप्रकाश, १०/१०२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और दो भिन्न अर्थों का दो बार कथन बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इस प्रकार दृष्टान्त अलङ्कार में एक ही साधारण धर्म, भिन्न-भिन्न शब्दों से अभिहित नहीं किया जाता है, जैसे प्रतिवस्तूपमा में। इस अलङ्कार में वर्णनीय बात का दृष्टान्त द्वारा निश्चय किया जाता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने दृष्टान्त अलङ्कार के प्रयोग में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने जैनमेघदूतम् में दृष्टान्त अलङ्कार के अनेकशः प्रयोग नियोजित किये हैं। दृष्टान्त के ये प्रयोग अत्यन्त प्रभावी भी सिद्ध हुए हैं। यथा—

प्रेमाधिक्यात्प्रतितरु हरिः पुष्पपूरप्रचार्यं
कृत्वा नेमिं स्वयमुपचरन् सत्यभामादिभार्याः।
भ्रूविक्षेपं समदमनुदत्तत्र कृत्ये तदानीं
श्रेयोदृष्टिं हिमरुचिरिवानेहसं प्रेयसीः स्वाः[1] ॥

इस श्लोक में श्रीकृष्ण के लिए चन्द्रमा का, श्रीनेमि के लिए कल्याणसूचक काल का और सत्यभामादि भार्या के लिए रोहिणी आदि का दृष्टान्त देने से दृष्टान्त अलङ्कार सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में विविध दृष्टान्त-प्रयोगों[2] को नियोजित कर अपनी अलङ्कार-प्रस्तुति के प्रति निपुणता का परिचय दिया है।

तुल्ययोगिता : इसमें या तो प्राकरणिक अर्थात् प्रकृत पदार्थों का या फिर अप्राकरणिक अर्थात् अप्रकृत पदार्थों का एक साधारण धर्म के साथ सम्बन्ध होता है अर्थात् वर्णनीय होने के कारण प्राकरणिक पदार्थों या अप्राकरणिक पदार्थों के धर्म का जहाँ एक बार कथन किया जाये, वहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। इसी आधार पर आचार्य मम्मट ने तुल्ययोगिता अलङ्कार का निरूपण करते हुए लिखा है कि प्रकृत या अप्रकृत पदार्थों के धर्म का एक बार कथन होने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है—

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता।[3]

आचार्य मेरुतुङ्ग ने तुल्ययोगिता अलङ्कार के अत्यल्प प्रयोग जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत किये हैं। फिर भी ये किञ्चित् प्रयोग ही अत्यन्त प्रभावो-

---

१. जैनमेघदूतम्, २/१७।
२. वही, २/१९; ३/८,९,१३,२५,२७,५५; ४/१४,३०।
३. काव्यप्रकाश, १०/१०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्पादक सिद्ध होते हैं। इनमें कितने सुन्दर भाव व्यक्त किये गये हैं, यह दर्शाने हेतु निम्न एक प्रयोग प्रस्तुत है—

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्वणेन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुघृणिं कल्पवल्ली सुमेरुम्।
दुग्धाम्भोधिं त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं झगिति च स मद्बोजिनं मां ययाचे[1] ॥

यहाँ पर दुग्ध से मिले, पार्वणचन्द्र से मिले, मणि से मिले, सुमेरु से मिले और दुग्ध समुद्र से मिले आदि बहुत से कार्यों का कथन एक ही पदार्थ अर्थात् सामवाक्यों से होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार स्पष्ट है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में तुल्ययोगिता अलङ्कार के मात्र दो अन्य प्रयोग[2] प्रस्तुत किये हैं।

व्यतिरेक—इसमें उपमान का वर्णन तो गौण रूप से परन्तु उपमेय का वर्णन मुख्य रूप से किया जाता है अर्थात् उपमान से उपमेय का आधिक्य प्रदर्शित किया जाता है। इसी आधार पर व्यतिरेक का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि उपमान से अन्य अर्थात् उपमेय का जो आधिक्य है, वही व्यतिरेक अलङ्कार होता है—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।[3]

आचार्य मेरुतुङ्ग ने व्यतिरेक अलङ्कार के किञ्चित् प्रयोग जैनमेघदूतम् में नियोजित किये हैं। व्यतिरेक अलङ्कार के इन प्रयोगों में भावस्पष्टता एवं हृदयग्राहकता भी विद्यमान है। यथा—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
सङ्कोचेन क्षपयसि तमःस्तोममुन्निद्रनुवानः।
स त्वं मुञ्चन्नतिशयनतस्त्वाप्तसे धूमयोने!
तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्ता॥[4]

यहाँ पर त्रयीरूप उपमान से उपमेय का आधिक्य प्रतिपादित होने के कारण व्यतिरेक अलङ्कार है। इसी प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार के किञ्चित् अन्य प्रयोग[5] भी जैनमेघदूतम् में नियोजित किये गये हैं, जो उपर्युक्त प्रदर्शित प्रयोग की भाँति ही अतीव रमणीय हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/२३।
२. वही, ३/१०, ११।
३. काव्यप्रकाश, १०/१०५।
४. जैनमेघदूतम्, १/११।
५. वही, २/४६; ४/१, ८, २०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषोक्ति—सभी प्रसिद्ध कारणों के पूर्ण रूप में विद्यमान होने पर भी जहाँ कार्य का न होना वर्णित किया जाए, वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। इसी बात को काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अपने शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का न कहना विशेषोक्ति अलङ्कार है—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।[1]

विशेषोक्ति अलङ्कार के चार प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में किये हैं। इन चारों प्रयोगों में भावस्पष्टता एवं मधुरता लाने का यथाशक्य प्रयास भी इन्होंने किया है। इनमें से एक विशेषोक्ति प्रयोग निम्नवत् है—

पूर्वं पार्ष्णी तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठा-
दुच्चैर्नीत्वा भुजबलचयीः पीडयन् सर्वदेहम्।
अत्यायस्यन्नपि हरिरुभाणि नानीनमत्तां
बाहामब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्रामिवेभः[2] ॥

यहाँ पर पाद को पृथ्वी से तीव्रता से उठाकर, बल की इच्छा करते हुए, बाहु को उठाये हुये आदि कारण उपस्थित होने पर भी श्रीकृष्ण नेमि की भुजा को झुका नहीं पाते हैं,अतः यहाँ पर विशेषोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में विशेषोक्ति अलङ्कार के तीन अन्य प्रयोग[3] भी प्रस्तुत किये हैं।

यथासंख्य—काव्यप्रकाशकार ने यथासंख्य अलङ्कार का लक्षण निर्दशित करते हुए कहा है कि क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय होने पर यथासंख्य अलङ्कार होता है—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः[4]।

यथासंख्य अलङ्कार का प्रयोग जैनमेघदूतम् में मात्र चार स्थलों पर ही किया गया है। यथासंख्य अलङ्कार के ये प्रयोग पूर्णतः भाव को स्पष्ट भी करते हैं। यथासंख्य अलङ्कार के प्रयोग की प्रवीणता, उनके एक श्लोक में देखी जा सकती है—

---

१. काव्यप्रकाश, १०/१०८।
२. जैनमेघदूतम्, १/४७।
३. वही, १/५०; २/[illegible]८; ४/१५।
४. काव्यप्रकाश, १०/१०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्व ग्रावाणः क्व कनकनगः क्वाक्षकाः क्वामरद्रुः
काचांशाः क्व क्व दिविजमणिः क्वोडवः क्व द्युरत्नम् ।
क्वान्ये भूपाः क्व भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि[1] ॥

यहाँ पर कहाँ पत्थर और कहाँ स्वर्णगिरि सुमेरु, कहाँ बहेड़ा और कहाँ कल्पवृक्ष, कहाँ काँच के टुकड़े और कहाँ चिन्तामणि, कहाँ तारे और कहाँ भगवान् भास्कर तथा कहाँ अन्य नृप और कहाँ वे भुवनगुरु आदि के क्रम से यथासंख्य अलङ्कार हो रहा है। उपर्युक्त प्रयोग के अतिरिक्त आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में यथासंख्य अलङ्कार के तीन अन्य प्रयोग[2] भी प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही अतीव मनोहर हैं।

अर्थान्तरन्यास—अर्थान्तरन्यास का निरूपण करते हुए काव्यप्रकाश-कार आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण दिया है कि साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न जो समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास होता है--

सामान्यं वा विशेषो तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा[3] ॥

इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जहाँ विशेष से सामान्य का, सामान्य से विशेष का अथवा कारण से कार्य का, कार्य से कारण का साधर्म्य के द्वारा या वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तर-न्यास होता है। परन्तु इसमें कारण से कार्य और कार्य से कारण के समर्थन में अधिकतर आलङ्कारिकों यथा मम्मट आदि ने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार नहीं माना है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के अनेक प्रयोग नियोजित किये हैं। उनके इन अर्थान्तरन्यास के प्रयोगों में लौकिक अनुभवों की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। अर्थान्तरन्यास का उनका एक प्रयोग प्रेक्षणीय है--

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/५४।
२. वही, १/२५; ४/१४, ३५।
३. काव्यप्रकाश, १०/१०९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्सां निर्मोकत्वचसिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तणस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः ॥[१]

यहाँ पर "अपने में आसक्त, तुच्छ मुझको" आदि वाक्य को "**दैवे दधति विमुखी**" आदि वाक्य से समर्थित किये जाने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार स्पष्ट है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के प्रयोगों में आचार्य मेरुतुङ्ग ने अनेक सूक्तियों को भी समाविष्ट कर दिया है, जो देखते ही बनती हैं; यथा--

धत्तेऽभिख्यां निकषकषणं सन्मणीनामिवादः ॥[२]

सान पर खरादने से चन्द्रकान्तमणि की शोभा में कुछ वृद्धि नहीं होती है।

यद्वाऽऽसक्तः प्रकृतिकुटिलास्वाचरेन्निम्नगासु
प्रायोऽश्रेयो मृदुरपि न कः स्वल्पमप्यूष्मयोगे ॥[३]

स्वभावकुटिला स्त्री में आसक्त कौन सा भद्र पुरुष भी थोड़ी सी ऊष्मा का योग होने पर अनुचित कार्य नहीं करता ?

स्वान्तं संविद्बलिममबलेत्यात्मदोषोऽद्य नोद्यः ॥[४]

ज्ञान चित्त को अवरुद्ध कर अपने दोषों का अपनोदन कर लेता है।

तीर्थेष्वन्येष्वमितविमतिर्दृश्यते दर्शनानां
सर्वेषां तु स्फुरति पितरौ तीर्थमत्यन्तमान्यम् ॥[५]

सभी दर्शनों का अन्य तीर्थों में यद्यपि अपार वैमत्य है फिर भी माता-पिता रूपी तीर्थ सभी के अतिमान्य हैं।

सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥[६]

स्वभाव श्रेष्ठ लोगों के चरित्र को कौन जान सकता है।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/७।
२. वही, १/४०।
३. वही, २/३२।
४. वही, ३/१३।
५. वही, ३/१९।
६. वही, ४/१९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि सूक्तियों को अपने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में समाहित कर आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपनी अर्थान्तरन्यास प्रयोग-कला का निदर्शन करवाया है। उपर्युक्त प्रयोगों के अनुसार ही आचार्य मेरुतुङ्ग ने अर्थान्तरन्यास के अन्य अनेक प्रयोग[1] जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत किये हैं।

स्वभावोक्ति—इस अलङ्कार का निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण दिया है कि बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयव संस्थान का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥[2]

केवल अपने में यथा बालक आदि में रहने वाली क्रिया या रूप का वर्णन, रंग और संस्थान अर्थात् अवयवों की बनावट दोनों का ग्रहण करना है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने स्वभावोक्ति अलङ्कार के मात्र छः प्रयोग ही जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत किये हैं, जो अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ हैं। इन प्रयोगों में स्वाभाविक दशा का अतीव स्पष्ट एवं सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इनमें स्वाभाविक रूप-रंग आदि की समस्त स्थितियाँ विद्यमान हैं। यथा—

हेतो कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं क्षोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तर्णस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः[3] **॥**

अब यहाँ पर साँप का केंचुल-त्याग और बछड़े के बाँधने में गाय की जङ्घा-बन्धन आदि स्वाभाविक विषयों का कथन होने के कारण स्पष्ट रूप से स्वभावोक्ति अलङ्कार हो रहा है। इसी प्रकार—

कच्चिद्धाराधर! तव शिवं वार्त्तशाली च देहः
सेवेते त्वां स्तनिततडितौ राजहंसौ सरोवत्।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा वृष्टिसर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दैव्ये गतिरिव रवेः स्वागतं वर्तते ते[4] **॥**

---

१. जैनमेघदूतम्, १/४०, ४४, ४६; २/३१, ३२; ३/७, १३, १८, १९, ५४; ४/१६, १९, ३३, ३६, ३८।

२. काव्यप्रकाश, १०/१११।

३. जैनमेघदूतम्, १/७।

४. वही, १/१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें भी हंसों का सरोवर की सेवा करना, गर्जन और विद्युत् द्वारा मेघ की सेवा करना तथा सूर्य की निर्बाध-गति आदि स्वाभाविक क्रियाओं के वर्णन से स्वभावोक्ति अलङ्कार स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् में स्वभावोक्ति अलङ्कार के चार अन्य प्रयोग[1] भी प्रस्तुत किये हैं।

सहोक्ति—सहोक्ति अलङ्कार का निरूपण करते हुए काव्यप्रकाशकार मम्मट लक्षण देते हैं कि जहाँ सह शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से एक पद दो का वाचक हो, वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है—

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्[2]।

अर्थात् एकार्थवाचक होने पर भी जो सहार्थ से दोनों का बोधक होता है, वह सहोक्ति अलङ्कार होता है। जहाँ जिन वस्तुओं का सहभाव वर्णित होता है, उनमें से एक प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है एवं "**सहयुक्तेऽप्रधाने**" इस पाणिनिसूत्र के अनुसार अप्रधान में तृतीया तथा प्रधान में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। इस प्रकार "सह" शब्द के प्रयोग से जहाँ काव्योचित विशेष चमत्कार हो जाता है, वहाँ सहोक्ति अलङ्कार हो जाता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में सहोक्ति अलङ्कार के अत्यल्प प्रयोग नियोजित किये हैं। मात्र तीन प्रयोगों में से सहोक्ति अलङ्कार का एक प्रयोग यहाँ प्रस्तुत है—

वृद्धिं भेजे दिवसमनिशं स्वप्रतापेन सत्रा
शीतत्वेनापि च तलिनतां वासतेयी विवेश[3] ॥

अर्थात् दिन निरन्तर अपने प्रताप के साथ बढ़ता रहा पर रात्रि शीतलता के साथ छोटी होती गई। यहाँ इस श्लोकार्द्ध में **'स्वप्रतापेन सत्रा'** के कथन से सहोक्ति अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है। सत्रा का अर्थ साकं (साथ) है।

इसी प्रकार जैनमेघदूतम् में सहोक्ति अलङ्कार के अन्य दो प्रयोग[4] भी अत्यन्त प्रशंसनीय हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१२, १६, १८; २/१२।
२. काव्यप्रकाश, १०/११२।
३. जैनमेघदूतम्, २/३१।
४. वही, १/१९; २/३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाविक—आचार्य मम्मट ने भाविक अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि अतीत और अनागत पदार्थ, जो प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, उसको भाविक अलङ्कार कहते हैं—

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाविकम्[1]।

भूत और भावी यह द्वन्द्व समास है। भाव अर्थात् कवि का अतीत एवं अनागत को भी प्रत्यक्षवत् दिखलाने का अभिप्राय यहाँ रहता है। इसी-लिए इसको भाविक अलङ्कार कहते हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने भाविक अलङ्कार के चार प्रयोग जैनमेघदूतम् में किये हैं। ये चारों प्रयोग अपने भावों को स्पष्ट करने में पूर्णतया सक्षम हैं। यथा—

सारस्वप्नैर्मनुपरिमितैः सूचितस्तस्य सूनुः
श्रीमान्नेमिर्गुणगणखनिस्तेजसां राशिरस्ति।
यं द्वात्रिंशं जिनपतिमिह क्षोणिखण्डे प्रबुद्धा
दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिशन्ति[2]॥

इस श्लोक में 'दिव्य ज्ञान' इस कथन द्वारा भाविक अलङ्कार स्पष्ट होता है, क्योंकि यहाँ पर दिव्य ज्ञान द्वारा विश्व की समस्त अशेष वस्तुओं का आकलन के समान वर्णन और उदाहरण किया गया है। इसी प्रकार जैनमेघदूतम् में भाविक अलङ्कार के तीन अन्य प्रयोग[3] भी नियोजित हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही भावप्रवणता में पूर्ण सक्षम हैं।

काव्यलिङ्ग—काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्यलिङ्ग अल-ङ्कार का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है कि हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ अर्थात् एक पदार्थ या अनेक पदार्थ रूप में कथन करने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।[4]

जैनमेघदूतम् में आचार्य मेरुतुङ्ग ने काव्यलिङ्ग अलङ्कार के अनेक प्रयोग निरूपित किये हैं। ये समस्त काव्यलिङ्ग अलङ्कार के प्रयोग अत्यन्त भावप्रवण हैं, यथा—

---

१. काव्यप्रकाश, १०/११४।
२. जैनमेघदूतम्, १/१५।
३. वही, २/२४; ४/३४, ३५।
४. काव्यप्रकाश, १/११४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्णो देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यासाते तदवगमयाम्येनसैवार्जितेन ।
तत्रैकोऽस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधा-
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽग्निसर्गात्[1] ॥

इस श्लोक में **कालिमानं** कृष्णत्व के हेतु **अस्मत्पतिविरचिताभ्रेष** आदि और **अस्माकं गहनगहने** आदि दो वाक्य हैं। अतः यहाँ पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अन्य अनेक स्थलों पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार के अनेक प्रयोग[2] प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग के समान ही अत्यन्त रमणीय हैं।

उदात्त—आचार्य मम्मट ने उदात्त अलङ्कार का निरूपण करते हुए लिखा है कि वस्तु की समृद्धि का वर्णन उदात्त अलङ्कार है—[3]

उदात्तं वस्तुनः सम्पत्।

उदात्त अलङ्कार के निरूपण में आचार्य मेरुतुङ्ग ने पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। जैनमेघदूतम् में उदात्त अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं, जो भव्यता, स्पष्टता एवं भावबोधकता में अत्यन्त गम्भीर हैं। यथा—

त्वं जीमूत ! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशौ स्वे दृशौ नो विधत्ते ।
दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै[4] ॥

यहाँ पर मेघ को कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि से भी श्रेष्ठतम बतलाये जाने के कारण उदात्त अलङ्कार है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में उदात्त अलङ्कार के अन्य भी अनेक प्रयोग[5] प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग के सदृश ही भावपूर्ण हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/५ ।
२. वही, १/२६, २९, ३०, ३९; २/१३, १६, २१, २७, २९, ३३, ३६; ३/३, ८, ९, १५।
३. काव्यप्रकाश, १०/११५ ।
४. जैनमेघदूतम्, १/१२ ।
५. वही, १/११, १८, २०, २६, ३५, ३८, ४२, ४३, ४४, ४९; २/६, १७, ३२, ४१, ४२, ४४, ४५; ३/८, १५, १६, २०, २४, २९, ४३, ५०; ४/१, ११, ३९, ४० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुच्चय—आचार्य मम्मट ने समुच्चय अलङ्कार का निरूपण करते हुए इसका लक्षण इस प्रकार दिया है कि उस कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य अर्थात् हेतु भी उसका साधक हो जाये, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् । समुच्चयोऽसौ ॥[1]

अर्थात् उस प्रस्तुत कार्य के एक साधक हेतु के होने पर भी जहाँ अन्य साधक भी हो जाते हैं, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है अथवा दो गुणों या दो क्रियाओं अथवा एक गुण और क्रिया का एक साथ वर्णन भी समुच्चय अलङ्कार कहलाता है।

समुच्चय अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग ने अत्यन्त निपुणता प्रदर्शित की है। उन्होंने जैनमेघदूतम् में समुच्चय अलङ्कार के अनेकशः प्रयोग किये हैं। उनके ये समुच्चय अलङ्कार के प्रयोग बहुत ही सुन्दर हैं। यथा—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाव्यराङ्क्षी-
त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम्[2] **॥**

यहाँ पर चार असत् पदार्थों के समुदाय होने के कारण समुच्चय अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में समुच्चय अलङ्कार के कुछ अन्य भी अनेक प्रयोग[3] प्रस्तुत किये हैं।

पर्याय—पर्याय अलङ्कार का निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि एक क्रम से अनेक में पर्याय अलङ्कार होता है—

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः[4] **।**

अर्थात् जहाँ एक वस्तु क्रम से अनेक में हो या की जाये तो वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है। पर्याय अलङ्कार के प्रति आचार्य मेरुतुङ्ग की उतनी रुचि नहीं स्पष्ट होती है, क्योंकि उन्होंने जैनमेघदूतम् में पर्याय अलङ्कार

---

१. काव्यप्रकाश, १/११६।

२. जैनमेघदूतम्, १/४।

३. वही, १/३, ५, ६, १९, २८, ३०, ३६, ३७, ३८, ४२, ४४, ४८; ३/२३, २७, ४७; ४/२, ९, २१, २३, २९, ३६।

४. काव्यप्रकाश, १०/११७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मात्र तीन ही प्रयोग निरूपित किये हैं। परन्तु पर्याय अलङ्कार के ये तीन प्रयोग ही भाव एवं अर्थबोधकता में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। यथा—

जन्मे यस्य त्रिजगति तदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
प्रोद्योतश्चाभवदतितरां भास्वतीवाभ्युदीते।
अन्तर्दुःखोत्करमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
पारावारे विरससलिले स्वातिवारीव शुक्लाः[1] ॥

इस श्लोक में भगवान् के जन्मग्रहण करने पर प्रकाश प्रसरित हुआ और नरक-वासियों ने सुख पाया आदि क्रियाएँ एक क्रम से होने से यहाँ पर पर्याय अलङ्कार स्पष्ट है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में पर्याय अलङ्कार के मात्र अन्य दो प्रयोग[2] ही समायोजित किये हैं, जिनमें भावों की स्पष्टता एवं मनोहरता विद्यमान है।

अनुमान—आचार्य मम्मट ने अनुमान अलङ्कार का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है कि साध्य-साधन का कथन अनुमान अलङ्कार होता है—

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः[3]।

यहाँ पर साध्य-साधन शब्दों के ग्रहण के द्वारा अनुमानोपयोगी समस्त शब्दों का ग्रहण समझना चाहिए।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अनुमान अलङ्कार के निरूपण में अत्यन्त रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने जैनमेघदूतम् में अनुमान अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जो अपने पूर्ण लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए उक्त भावों की रमणीयता में वृद्धि करते हैं। यथा—

ध्यात्वैवं सा नवघनघृता भूरिवोष्मायमाणा
युक्तायुक्तं समदमदनावेशतोऽविन्दमाना।
अस्रासारं पुरु विसृजती वारि कादम्बिनीव-
द्दीना दुःखादथ दकमुचं मुग्धवाचेत्युवाच[4] ॥

यहाँ पर '**ध्यात्वैवं**' से साध्य अर्थात् युक्तायुक्त विचारण और साधन अर्थात् मेघ के प्रति बोलने का कथन होने से अनुमान अलङ्कार सिद्ध होता है। अनुमान अलङ्कार के इस प्रयोग के अतिरिक्त आचार्य मेरुतुङ्ग ने

१. जैनमेघदूतम्, १/१७।
२. वही, १/१३, २५।
३. काव्यप्रकाश, १०/११७।
४. जैनमेघदूतम्, १/९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में किञ्चित् अन्य भी अनेक अनुमान अलङ्कार के प्रयोग[1] प्रस्तुत किये हैं।

परिकर : विशेष्य का साभिप्राय विशेषणों के द्वारा कथन किया जाना परिकर अलङ्कार है। इसी तथ्य को काव्यप्रकाशकार ने व्यक्त करते हुए कहा है कि अभिप्राययुक्त अर्थात् साकूत विशेषणों के द्वारा जो कथन किया जाता है, वह परिकर अलङ्कार होता है—

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः[2]।

परिकर अलङ्कार के निरूपण के प्रति आचार्य मेरुतुङ्ग अत्यधिक सजग प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने जैनमेघदूतम् में परिकर अलङ्कार के अनेक प्रयोग नियोजित किये हैं। उनके ये परिकर-प्रयोग पर्याप्त भावस्पष्टता एवं अर्थबोधकता से भी ओत-प्रोत हैं। यथा—

कृष्णो देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यासाते तदवगमयाम्येनसैवार्जितेन।
तत्रैकोऽस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधा-
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽग्निसर्गात्[3] ॥

यहाँ देशप्रभु और नवअम्बुद ये साभिप्राययुक्त श्रीनेमि के विशेषण हैं। अतः इन विशेषणों द्वारा श्रीनेमि का कथन होने के कारण यहाँ परिकर अलङ्कार है। परिकर अलङ्कार के इस प्रयोग के अतिरिक्त आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अन्य भी अनेक परिकर अलङ्कार के प्रयोग[4] किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही अत्यन्त रमणीय हैं।

सम : काव्यप्रकाशकार ने सम अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि कहीं दो विशेष वस्तुओं का योग्य रूप से सम्बन्ध वर्णित हो, तो वहाँ सम अलङ्कार होता है—

समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्[5]।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने सम अलङ्कार के निरूपण में अत्यधिक रुचि नहीं ली है। उन्होंने अपने काव्य में इस अलङ्कार के मात्र छः प्रयोग ही प्रस्तुत किये हैं। उनमें से एक प्रयोग निम्न रूप में है—

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२७,४६; ३/१, ८; ४/३९।
२. काव्यप्रकाश, १०/११८।
३. जैनमेघदूतम्, १/५।
४. वही, १/३,६,२५,३१,४७,५०; २/७,१७,१३,१५,१९,२३,३४,३५,३८, ४०,४६; ३/२७,४४; ४/४,१३,१४।
५. काव्यप्रकाश, १०/१२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्सौभाग्यं तदतुलतरस्तज्जनानन्दि रूपं
तल्लावण्यं तदपरिमितं ज्ञानमन्यानवाप्यम् ।
सा मैत्री सा धृतिरविचला ताः कृपाक्षान्तिकान्ति-
प्रज्ञावाचः परमपि शुभं लभ्यमत्रैव लभ्यम्[1] ॥

यहाँ पर "परमपि" अर्थात् अन्य भी और सौभाग्य, बल आदि का एक समान कथन होने से सम अलङ्कार स्पष्ट होता है। उपर्युक्त प्रयोग के अतिरिक्त जैनमेघदूतम् में सम अलङ्कार के पाँच अन्य प्रयोग[2] भी इसी भाँति अत्यन्त मनोहर हैं।

स्मरण : आचार्य मम्मट ने स्मरण अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि उस पहले देखी हुई वस्तु के समान दूसरी वस्तु को देखकर अथवा सुनकर अर्थात् पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश वस्तु का किसी प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर पूर्व अनुभव के अनुसार वस्तु की स्मृति होना, स्मरण अलङ्कार कहलाता है—

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः । स्मरणम् ।[3]

अर्थात् जो पदार्थ किसी आकार विशेष से निश्चित है अर्थात् कभी उस रूप से अनुभव किया गया हो, दूसरे समय में संस्कारोद्बोधक समान वस्तु के देखने पर उसका जो उसी रूप में स्मरण होता है, वह स्मरण अलङ्कार है।

स्मरण अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग ने विशेष रुचि नहीं ली है। उन्होंने जैनमेघदूतम् में स्मरण अलङ्कार का मात्र एक प्रयोग ही निर्दर्शित किया है, जो इस प्रकार है—

सौवर्णेऽथ न्यविशत विभुर्विष्टरे रिष्टरेखा-
लेखालोक्ये सितनिवसनः संप्रयुक्ते तयैव ।
नन्द्यावर्तावलिवलयिनि स्वर्णशैले निषण्णं
त्वामेव स्म स्मरयति तथा सद्बलाकाकलापम् ॥[4]

यहाँ पर बलाकायुक्त तुम्हारे (मेघ के) सदृश श्वेतवस्त्रधारी भगवान् के अनुभव से स्वर्ण शैलस्थित श्वेतवस्त्रधारी तुम्हारी (मेघ की) स्मृति

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२८।
२. वही, २/३०; ३/५०,५३; ४/२४,३०।
३. काव्यप्रकाश, १०/१३२।
४. जैनमेघदूतम्, ३/५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने के कारण स्मरण अलङ्कार है। स्मरण अलङ्कार का उपर्युक्त यह एक मात्र प्रयोग जैनमेघदूतम् में निरूपित किया गया है।

विषम : आचार्य मम्मट ने विषम अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि कहीं अत्यन्त वैधर्म्य के कारण सम्बन्ध बनता न प्रतीत हो, जहाँ कर्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न हो तथा जहाँ कार्य के गुण और क्रिया से जो कारण के गुण तथा क्रिया का क्रमशः वैपरीत्य प्रकट हो, तो वहाँ विषम अलङ्कार होता है—

क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत्॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः[1]॥

विषम अलङ्कार के प्रयोग के प्रति आचार्य मेरुतुङ्ग ने पर्याप्त उत्सुकता प्रदर्शित की है। उन्होंने जैनमेघदूतम् में विषम अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, उनमें से एक प्रयोग यथावत् है—

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषच्च॥[2]

इस श्लोक में चन्द्रमण्डल और राग दो विरूप पदार्थों का संघटन होने के कारण यहाँ पर विषम अलङ्कार है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् के अन्य अनेक स्थलों पर विषम अलङ्कार के अनेक प्रयोग[3] प्रस्तुत किये हैं।

अपह्नुति : आचार्य मम्मट ने अपह्नुति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध करके जहाँ अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है—

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा तु अपह्नुतिः[4]।

---

१. काव्यप्रकाश, १०/१२६, १२७।
२. जैनमेघदूतम्, २/११।
३. वही, २/३०; ३/१२, १९, ४०, ४१, ५३, ५४; ४/२५, ३२, ३३, ३७, ३८।
४. काव्यप्रकाश, १०/९६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपह्नुति अलङ्कार के कई प्रयोग अपने काव्य में प्रस्तुत किये हैं। अपह्नुति अलङ्कार के ये प्रयोग बहुत ही भावस्पष्टता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। यथा—

व्योमव्याजादहनि कमन पट्टिकां सम्प्रमृज्य
स्पूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ।
रुग्लेखन्या गणयति गुणान् यस्य नक्षत्रलक्षा-
दङ्कांस्तन्वन्न खलु भवतेऽद्यापि तेषामियत्ताम्[1] ॥

इस श्लोक में आकाशरूपी पट्टिका से तारों के बहाने गुणों को अंकों द्वारा गिनने के कारण यहाँ पर अपह्नुति अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अपह्नुति अलङ्कार के अन्य अनेक सुन्दरतम प्रयोग[2] प्रस्तुत किये हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा : आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि अप्रस्तुत पदार्थ का ऐसा अभिधान या प्रशंसा, जिससे प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जाये, अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहलाता है—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया[3]।

इस अलङ्कार में अप्रस्तुत वाच्य होता है और इससे जिस प्रस्तुत की प्रतीति होती है, वह व्यङ्ग्य होती है।

अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में दो स्थानों पर किया है। यथा—

बाहौ धृत्वा प्रियमधुमुखा अप्यभाषन्त बन्धो !
सन्तः प्रायः परहितकृते नाद्रियन्ते स्वमर्थम्।
प्रष्ठस्तेषामपि बत ! कुतोऽतद्विलोपेऽपि दत्से—
ऽनन्वग्भूय स्वजनमनसामेवमाभीलकोलाः[4] ॥

यहाँ पर पाणिग्रहण रूप अप्रस्तुत की तृतीय और चतुर्थ चरण से ऐसी प्रशंसा की गई है, जिससे कि प्रस्तुत अर्थ पाणिग्रहण की प्रतीति हो जा रही है। अतः यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२६।
२. वही, १/३७; २/२१; ३/७, ३२, ३३, ४९।
३. काव्यप्रकाश, १०/९८।
४. जैनमेघदूतम्, ३/१८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने तृतीय सर्ग के एक अन्य श्लोक[1] में भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का एक सुन्दर प्रयोग प्रस्तुत किया है।

दीपक : आचार्य मम्मट ने दीपक अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि प्रकृत तथा अप्रकृत के धर्मों का एक ही बार जहाँ ग्रहण किया जाय, वहाँ क्रिया-दीपक और जहाँ अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध हो, तो वहाँ कारक-दीपक अलङ्कार होता है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्[2] ॥

दीपक अलङ्कार के किञ्चित् प्रयोग ही जैनमेघदूतम् में मिलते हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग ने दीपक अलङ्कार के जो प्रयोग जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत किये हैं, उनमें से एक इस प्रकार है—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमान्
एनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[3] ॥

यहाँ पर कान्ता का त्यागकर रैवत को स्वीकार करने अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत इन दो क्रियाओं के इस सम्बन्ध के कारण दीपक अलङ्कार है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अन्य अनेक स्थलों पर भी दीपक अलङ्कार के किञ्चित् प्रयोग[4] किये हैं। दीपक अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं।

आक्षेप : आचार्य मम्मट ने आक्षेप अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो बात कहना चाहते हैं, उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए जो उसका निषेध किया जाय, तो वह वक्ष्यमाण-विषयक और उक्त-विषयक दो प्रकार का आक्षेप अलङ्कार होता है—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मत[5] ॥

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/२५।
२. काव्यप्रकाश, १०/१०३।
३. जैनमेघदूतम्, १/१।
४. वही, १/११, २४, ३४, ३६, ३७, ३८; ३/३०; ४/१८, २९, ३५, ३६।
५. काव्यप्रकाश, १०/१०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आक्षेप अलङ्कार का प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् में मात्र तीन स्थलों पर किया है। आक्षेप अलङ्कार के किञ्चित् प्रयोग ही उपस्थित कर कवि ने इस अलङ्कार के प्रति अपनी पूर्ण सिद्धहस्तता का परिचय दिया है। इसका अनुमान आक्षेप अलङ्कार के इनके एक प्रयोग से कर सकते हैं। यथा—

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत्[1] ॥

यहाँ पर काम के प्रताप की पुष्टि प्राप्त करने वाली बात कह देने के के बाद 'कोई विचित्र बात नहीं" यह कहकर उसका निषेध किये जाने के कारण उक्त-विषयक-आक्षेप अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार जैनमेघदूतम् के मात्र दो अन्य स्थलों पर आचार्य मेरुतुङ्ग ने आक्षेप अलङ्कार के प्रयोग[2] प्रस्तुत किये हैं।

विभावना : आचार्य मम्मट ने विभावना अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि कारण का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति होने पर विभावना अलङ्कार होता है—

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना[3]।

अर्थात् कारण के न होने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में कारण के बिना भी कार्य का होना प्रतिपादित होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में विभावना अलङ्कार के मात्र दो प्रयोग ही प्रस्तुत किये हैं, जो उनकी अलङ्कार-निपुणता को प्रकाशित करते हैं। जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत विभावना अलङ्कार के ये मात्र दोनों प्रयोग अपनी भावस्पष्टता के साथ ही साथ अति सुन्दर भी हो गये हैं। यथा—

कामं मध्येभुवनमनलङ्कारकान्ता अनुत्व-
न्मन्त्रस्येव स्मरति च तवागोपगोपं जनोऽयम्।
न्यासीचक्रे भवति निखिला भूतसृष्टिर्विधात्रा
तत्त्वां भाषे किमपि करुणाकेलिपात्रावधेहि[4] ॥

---

१. जैनमेघदूतम्, २/११।
२. वही, ३/२४; ४/३९।
३. काव्यप्रकाश, १०/१०७।
४. जैनमेघदूतम्, १/१३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ अलङ्कार रूप कारण के अभाव में भी स्वभाव-सुन्दरता रूप कार्य की उत्पत्ति होने के कारण विभावना अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार विभावना अलङ्कार का एक अन्य[1] प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् के प्रथम सर्ग में प्रस्तुत किया है।

विरोध : आचार्य मम्मट ने विरोध अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वास्तव में विरोध न होने पर भी विरुद्ध रूप से वर्णन करना विरोध अलङ्कार होता है—

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः[2]।

अर्थात् जहाँ वास्तविक विरोध न होने पर भी किन्हीं दो वस्तुओं का ऐसा कथन किया जाय, जिससे विरोध सा प्रतीत होने लगे, तो वहाँ विरोध अलङ्कार होता है। इसे विरोधाभास अलङ्कार भी कहते हैं। इसके अन्त में विरोध का परिहार हो जाता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् में विरोध अलङ्कार के जो प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, वे अत्यन्त स्पष्ट भाव से युक्त हैं। विरोध अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग पटु प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने जैनमेघदूतम् में विरोध अलङ्कार के कोई एक-दो प्रयोग नहीं, लगभग चौदह प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। उनमें से एक प्रयोग प्रस्तुत है—

जन्मे यस्य त्रिजगति तदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
प्रोद्योतश्चाभवदतितरां भास्वतीवाभ्युदीते।
अन्तर्दुःखोत्करमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
पारावारे विरससलिले स्वातिवारीव शुक्लाः[3] ॥

इस श्लोक में "दुःख-समूहों के बीच घिरे हुए नरकवासियों ने जन्म-ग्रहण भर से ही सुख प्राप्त किया" इस कथन में विरोध सा प्रतीत होने के कारण यहाँ पर विरोध अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने विरोध अलङ्कार के जो अन्य प्रयोग[4] जैनमेघदूतम् में प्रस्तुत किये हैं, वे भी उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२१।
२. काव्यप्रकाश, १०/२१०।
३. जैनमेघदूतम्, १/१७।
४. वही, १/७,३९; २/३५,४१; ३/४,१२,१८,४०,४६,४७; ४/१७,१९,२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याजस्तुति : आचार्य मम्मट ने व्याजस्तुति अलङ्कार का लक्षण देते हुए लिखा है कि प्रारम्भ में निन्दा अथवा स्तुति मालूम होती हो, परन्तु उससे भिन्न अर्थात् आपाततः दिखने वाली निन्दा का स्तुति में अथवा स्तुति का निन्दा में पर्यवसान होने पर व्याजस्तुति अलङ्कार होता है—

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा[1]।

व्याजस्तुति अलङ्कार के कुछ प्रयोग ही जैनमेघदूतम् में उपलब्ध होते हैं, जो कवि की अलङ्कार-निरूपण-कला के परिचायक हैं। यह इनके निम्न प्रयोग को देखकर कहा जा सकता है। यथा—

कारुण्यौकश्चरिषु विघृणो बन्धुतायां सुतृष्णक्
मुक्तौ मूर्त्तिद्विषि कुलकनीस्वीकृतौ वीततृष्णः।
कौलीनाप्तेर्दरविरहितः संसृतेः कान्दिशीकः
प्रारब्धार्थांस्त्यजसि भजसेऽप्रस्तुतांस्तन्नमस्ते[2] ॥

इस श्लोक में श्रीनेमि की स्तुति की गयी है, परन्तु आपाततः इस स्तुति का पर्यवसान निन्दा में हो रहा है, अतः यहाँ पर व्याजस्तुति अलङ्कार है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में व्याजस्तुति अलङ्कार के किञ्चित् अन्य प्रयोग[3] भी प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग के ही सदृश अत्यन्त भावपूर्ण हैं।

पर्यायोक्त : आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्त अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वाच्य-वाचक भाव के बिना जो वाच्यार्थ का कथन किया जाता है, वह पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है—

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः[4]।

अर्थात् वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंजना रूप बोधन-व्यापार के द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन करना—वह पर्याय से अर्थात् प्रकारान्तर से कथन करने के कारण—पर्यायोक्त अलङ्कार होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में पर्यायोक्त अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। पर्यायोक्त अलङ्कार के ये प्रयोग अत्यन्त भावस्पष्ट

---

१. काव्यप्रकाश, १०/११२।
२. जैनमेघदूतम्, ३/४७।
३. वही, ४/२५,२६,३५।
४. काव्यप्रकाश, १०/११५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं हृदयावर्जक हैं, इसका अनुमान इनके निम्न श्लोक से ही कर सकते हैं। यथा—

कच्चिद्धाराधर ! तव शिवं वार्त्तशाली च देहः
सेवेते त्वां स्तनिततडितौ राजहंसौ सरोवत् ।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा वृष्टिसर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दैव्ये गतिरिव रवेः स्वागतं वर्तते ते[1] ॥

इस श्लोक में "अव्याबाधा" आदि से अर्थात् वृष्टि-विधान में अन्तराल न होने से पर्याय कथन होने के कारण यहाँ पर पर्यायोक्त अलङ्कार स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में पर्यायोक्त अलङ्कार के कुछ अन्य प्रयोग[2] भी प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त अलङ्कार-प्रयोग के समान ही अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।

समाधि : आचार्य मम्मट ने समाधि अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि जहाँ अन्य कारण के आ जाने से कार्य सुकर हो जाता है, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है—

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।[3]

अर्थात् अन्य कारण की सहायता प्राप्त हो जाने से जहाँ कर्ता प्रारम्भ किये हुए कार्य को सरलता से सम्पादित कर लेता है, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने समाधि अलङ्कार का मात्र दो स्थलों पर प्रयोग किया है। उनमें से एक प्रयोग निम्नवत् है—

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न ।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत्[4] ॥

इस श्लोक में "स्वयं निर्मलता धारण" की सहायता से कर्ता "चन्द्र-

---

१. जैनमेघदूतम्, १/१० ।
२. वही, १/११,२४,२६,३३,३६,४४; २/४,१६,१८,२५,३६,३७; ३/२,१०, ३१,४७; ४/३१,३२,३५,३६ ।
३. काव्यप्रकाश, १०/१२५ ।
४. जैनमेघदूतम्, २/११ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मण्डल" युवकों के हृदय में राग की पुष्टि करता है, अतः यहाँ पर समाधि अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में समाधि अलङ्कार का एक अन्य प्रयोग[1] भी किया है।

प्रत्यनीक : आचार्य मम्मट ने प्रत्यनीक अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि अपने प्रतिपक्षी का अपकार कर सकने में असमर्थ के द्वारा उस प्रतिपक्षी की किसी सम्बन्धित वस्तु का जो उसकी स्तुति में पर्यवसित होने वाला तिरस्कार करना है, वह प्रत्यनीक अलङ्कार है—

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते[2] ॥

अर्थात् अपना तिरस्कार करने वाले प्रतिपक्षी का साक्षात् अपकार करने में असमर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा उसी प्रतिपक्षी के उत्कर्ष-सम्पादनार्थ जो उसके आश्रित का तिरस्कार करना है, वह अनीक अर्थात् सेना के प्रतिनिधि के तुल्य होने से—प्रत्यनीक अलङ्कार से अभिहित किया जाता है। जैसे सेना पर आक्रमण करने के अवसर पर किसी की मूर्खता के कारण उसके प्रतिनिधिभूत किसी दूसरे पर आक्रमण कर दिया जाता है, वैसे ही यहाँ पर प्रतिपक्षी को विजय करने के स्थान पर उसके सम्बन्धी दूसरे पर विजय किया जाता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने प्रत्यनीक अलङ्कार का प्रयोग केवल एक ही स्थल पर किया है। जो निम्न प्रकार है—

स्पर्धध्वे रे ! नयननलिने निर्मले देवरस्य
स्मित्वेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती।
कन्दोत्खातान् धवलकमलान् कामपाशप्रकाशान्
नाशाशास्यानुरसि सरसाऽहारयत् स्वामिनोऽन्या[3] ॥

इस श्लोक में श्रीकृष्ण की एक रानी अपने प्रतिपक्षी श्रीनेमि का अपकार करने में असमर्थ होकर श्रीनेमि के सम्बन्धी श्वेत-कमलों का ही तिरस्कार कर रही है, अतः यहाँ पर प्रत्यनीक अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/४२।
२ काव्यप्रकाश, १०/२१९।
३. जैनमेघदूतम्, २/४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग ने प्रत्यनीक अलङ्कार का यही एक मात्र प्रयोग देकर अपनी अलङ्कार-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे दिया है।

सामान्य : आचार्य मम्मट ने सामान्य अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि प्रस्तुत अर्थात् वर्णनीय वस्तु के साथ अन्य अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध होने के कारण उन दोनों के गुणों में समानता प्रतिपादित करने की इच्छा से जो अभेद का वर्णन किया जाता है, वह सामान्य अलङ्कार कहलाता है—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्[1] ॥

आचार्य मेरुतुङ्ग ने सामान्य अलङ्कार का केवल एक ही स्थल पर प्रयोग किया है, जो इस प्रकार से प्रस्तुत है—

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्वणेन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुधृणिं कल्पवल्ली सुमेरुम्।
दुग्धाम्भोधिं त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं झगिति च स मद्दोजिनं मां ययाचे[2] ॥

इस श्लोक में सामवाक्य अर्थात् प्रस्तुत को अप्रस्तुत अर्थात् शर्करा-स्निग्ध दुग्ध, रोहिणीपार्वणचन्द्र आदि के साथ अभिन्न रूप से वर्णित किये जाने के कारण, यहाँ पर सामान्य अलङ्कार है।

इस प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में सामान्य अलङ्कार का मात्र एक स्थल पर ही प्रयोग किया है।

विशेष : आचार्य मम्मट ने विशेष अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति होने से (प्रथम प्रकार का), एक पदार्थ को एक ही रूप से अनेक जगह पर एक साथ उपस्थिति होने से (द्वितीय प्रकार का) और अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से किसी अशक्य अन्य वस्तु का उत्पादन होने से (तृतीय प्रकार का), विशेष अलङ्कार होता है—

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः[3] ॥

---

१. काव्यप्रकाश, १०/१३४।

२. जैनमेघदूतम्, ३/२३।

३. काव्यप्रकाश, १०/१३५, १३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में विशेष अलङ्कार के मात्र दो प्रयोग किये हैं। उनमें से विशेष अलङ्कार का एक प्रयोग निम्न रूप में है--

ताश्चानङ्गं पशुपतिदुतं गूढमार्गे शयानं
सख्यू राज्ये जहति पुरुहे चास्त्रजातेऽपि जाते।
तत्राजय्ये त्रिभुवनपतावप्रभूष्णुं दृशौवो-
पाजेकृत्वा लघु ववलिरे जिष्णुपत्न्योऽभि नेमिम्[1] ॥

इस श्लोक में श्रीनेमि को चारों ओर से घेर कर श्रीकृष्ण की उन स्त्रियों ने जीतने में असमर्थ काम को नेत्रों से परास्त भी कर दिया, अतः यहाँ पर विशेष अलङ्कार है।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में विशेष अलङ्कार का एक अन्य प्रयोग[2] भी प्रस्तुत किया है।

हेतु : हेतु अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए साहित्यदर्पणकार ने कहा है कि जहाँ हेतुमान के साथ हेतु का अभेदरूप से वर्णन किया गया हो, वहाँ हेतु अलङ्कार होता है—

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह[3]।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में हेतु अलङ्कार का बहुत प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त हेतु अलङ्कार के ये प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट भाव से युक्त हैं। यथा—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[4] ॥

इस श्लोक में कान्तात्याग में विषय सुखेच्छा आदि हेतु था, अतः यहाँ पर हेतु अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में हेतु अलङ्कार के कुछ अन्य प्रयोग[5] भी प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं।

---

१. जैनमेघदूतम्, २/१८।
२. वही, ३/२३।
३. साहित्यदर्पण, १०/६३।
४. जैनमेघदूतम्, १/१।
५. वही, १/२; २/४६; ३/२५, ३७, ४८; ४/८, २८, ३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति : जाति अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए रुद्रट ने काव्यालङ्कार में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है कि जिस पदार्थ का संस्थान, अवस्थान और क्रिया आदि जिस स्वरूप का होता है, लोक में रूढ़ उसका उसी स्वरूप में कथन जाति अलङ्कार होता है—

संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः[1] ॥

अर्थात् जिस पदार्थ का जो स्वरूप होता है, उसका उसी रूप में कथन जाति अलङ्कार कहलाता है ।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने जैनमेघदूतम् काव्य में जाति अलङ्कार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जो अत्यन्त भावपूर्ण हैं । यथा—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[2] ॥

इस श्लोक में ही जाति अलङ्कार का कितना सुन्दर प्रयोग प्रस्तुत किया गया है, यहाँ पर 'पुण्यं पृथ्वीधरवरं' अर्थात् पवित्र एवं पर्वतश्रेष्ठ 'रैवत' यह कहने से जाति अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है ।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् के किञ्चित् अन्य स्थलों पर भी जाति अलङ्कार के कुछ प्रयोग[3] प्रस्तुत किये हैं, जो उपर्युक्त प्रयोग की भाँति ही स्पष्ट है ।

भाव : भाव अलंङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए रुद्रट ने काव्यालङ्कार में कहा है कि जिसका विकार जिस अनियत कारण से उत्पन्न होता हुआ उसके कार्य-कारण-सम्बन्ध रूप अभिप्राय का तथा उस कार्य-कारण-सम्बन्ध रूप प्रतिबन्ध का बोध कराये, वह भाव अलङ्कार होता है—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ[4] ॥

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, ७/३० ।
२. जैनमेघदूतम्, १/१ ।
३. वही, २/२५,२६,२९,३०,३१,३८,३९,४५,४७,४८; ३/२१,२९,४४,४९, ५२; ४/२३,३७ ।
४. काव्यालङ्कारसूत्र, ७/३८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में भाव अलङ्कार का नाममात्र के लिए एक प्रयोग कर दिया है। जो निम्न प्रकार है—

सध्रीचीभि स्खलितवचनन्यासमाशूपनीतैः
स्फीतैस्तैस्तैर्मलयजजलार्द्रादिशीतोपचारैः।
प्रत्यावृत्ते कथमपि ततश्चेतने दत्तकान्ता–
कुण्ठोत्कण्ठं नवजलमुचं सा निदध्यौ च दध्यौ[1] ॥

इस श्लोक में दत्तकान्ता आदि नवमेघ के विशेषण राजीमती द्वारा स्वामी श्रीनेमि के अनुरागभाव को सूचित करते हैं। अतः यहाँ पर भाव अलङ्कार स्पष्ट रूप से है। यद्यपि आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में भाव अलङ्कार का एक ही प्रयोग किया है, फिर भी यह प्रयोग भाव एवं अर्थ दोनों के प्रकटन में पूर्ण सक्षम है।

अवसर : अवसर अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए काव्यालङ्कार में रुद्रट ने कहा है कि कथन के प्रसंग में अर्थ को अन्य अर्थ से उत्कृष्ट अथवा सरस बनाने के लिए जो उपलक्षण किया जाता है, उसे अवसर अलङ्कार कहते हैं—

अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसंगतो यत्र सोऽवसरः[2] ॥

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अवसर अलङ्कार का एक प्रयोग किया है, वह इस प्रकार है—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्ति त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[3] ॥

इस श्लोक के इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्रीनेमि के द्वारा रैवतक को स्वीकार करने में किसी ने कान्ता का त्याग कर रैवत को स्वीकार किया' यह उपलक्षण किया गया है। उनका कान्ता-त्याग उपलक्षण रूप होने के कारण यहाँ पर अवसर अलङ्कार हुआ है।

इस एक मात्र प्रयोग के द्वारा आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपनी अलङ्कार-

---

१. जैनमेघदूतम्, १/३।
२. काव्यालङ्कारसूत्र, ७/१०३।
३. जैनमेघदूतम्, १/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पटुता का सुन्दर परिचय दे दिया है। इसलिए अवसर अलङ्कार के प्रयोग में भी आचार्य मेरुतुङ्ग श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

अतिशय : रुद्रट ने काव्यालङ्कार में अतिशय अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार से किया है कि जिस अलङ्कार में अर्थ और धर्म के नियम, प्रसिद्धि के बाध के कारण कभी कहीं लोक के प्रतिकूल होते हैं, उसे उस नियम का अतिशय अलङ्कार कहते हैं—

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य[1] ॥

अर्थात् जिस अलङ्कार में अर्थ और धर्म का नियम अपने नियत स्वरूप के विपरीत हो जाता है, वह अतिशय अलङ्कार होता है।

अतिशय अलङ्कार का प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने मात्र एक ही स्थान पर किया है, जो निम्न है—

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः।
अध्यारोहन्मदकलमिभं विश्वभर्तोपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम्[2] ॥

यहाँ पर 'गजराज पहले ही उनकी गति से अधःकृत हो चुका था, सम्प्रति श्रीनेमि के आरोहण पर पुनः अधःकृत हो गया' इस कथन में अतिशय अलङ्कार है, क्योंकि इसमें गज के नियत धर्म का बाध हो रहा है।

इसप्रकार जैनमेघदूतम् में अतिशय अलङ्कार का भी प्रयोग करके आचार्य मेरुतुङ्ग ने अलङ्कार-प्रयोग में अपनी निपुणता का परिचय दिया है।

निषेध : काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने निषेध अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है कि जो बात कहना चाहते हैं, उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए जो उसका निषेध किया जाय, तो वह निषेध अलङ्कार होता है—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया[3]।

अर्थात् प्रकृत होने से जिसको गौण या उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता है, ऐसे अर्थ के अवर्णनीयत्व अथवा अतिप्रसिद्धत्वरूप विशेषता को बतलाने के

१. काव्यालङ्कारसूत्र, ९/१।
२. जैनमेघदूतम्, ३/३१।
३. काव्यप्रकाश, १०/१०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए जो निषेध—अर्थात् निषेध सा, न कि वास्तविक निषेध—किया जाता है, वह निषेध अलङ्कार होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में निषेध अलङ्कार के दो प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जो अपने भावों से परिपूर्ण भी हैं। उनमें से एक इस प्रकार है—

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तर्णस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः[1] ॥

इस श्लोक में राजीमती के इस कथन में "श्रीनेमि ने अपने में आसक्त मुझको किस कारण छोड़ दिया है" विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए "तन्न जाने" यह निषेध किया गया है। अतः यहाँ पर निषेध अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी तरह से जैनमेघदूतम् के एक अन्य श्लोक[2] में भी आचार्य मेरुतुङ्ग ने निषेध अलङ्कार का एक दूसरा प्रयोग प्रस्तुत किया है। अतः निषेध के प्रयोग में भी आचार्य मेरुतुङ्ग कुशल प्रतीत होते हैं।

संसृष्टि : कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में संसृष्टि अलङ्कार का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संसृष्टि वह अलङ्कार है, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की 'तिलतण्डुलवत्' एकत्र अवस्थिति कहा करते हैं—

मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते[3]।

अर्थात् जैसे स्वर्ण और मणि के अलङ्कार अपना अलग-अलग सौन्दर्य रखा करते हैं और परस्पर संश्लिष्ट होने पर एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं, वैसे ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी अलग-अलग सौन्दर्य तो रखा ही करते हैं, किन्तु परस्पर संश्लेष में एक और ही विचित्र सौन्दर्य की झलक दिखलाया करते हैं। अलङ्कारों का परस्पर संश्लेष दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम वह, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष कहा जा सकता है और द्वितीय वह, जिसे परस्पर सापेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष

---

१. जैनमेघदूतम्, १/७।
२. वही, १/२।
३. साहित्यदर्पण, १०/९८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कह सकते हैं। परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का सम्मिश्रण "तिल और तण्डुल" के सम्मिश्रण के समान होने के कारण, संसृष्टि अलङ्कार की पृथक् रूपरेखा का नियामक है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने संसृष्टि अलङ्कार के प्रयोग में सर्वाधिक रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने अपने काव्य में छः-छः, सात-सात या इससे भी अधिक अलङ्कारों का संश्लेष कर संसृष्टि अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। जैनमेघदूतम् के अधिक प्रयोग संसृष्टि अलङ्कार के अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि इनके अधिकांश श्लोकों में प्रयुक्त समस्त अलङ्कार निरपेक्ष रूप से ही अवस्थित मिलते हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग की यह विशेषता है कि इतने अधिक अलङ्कारों का एक साथ एक श्लोक में ही संश्लेष होने पर भी भाषा और भाव पूर्णतया स्पष्ट एवं अर्थयुक्त ही हैं। उनमें किञ्चिदपि अन्तर नहीं आया है। इन्हीं विशेषताओं को निम्न संसृष्टि के प्रयोग में देख सकते हैं—

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तर्णस्य स्यात्किमुनियमने मातृजङ्घा न कीलः[1] **॥**

इस श्लोक में उपमा, श्लेष, विरोध, निषेध, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति आदि अलङ्कारों का परस्पर निरपेक्ष रूप से तिलतण्डुलवत् संश्लेष होने के कारण यहाँ पर संसृष्टि अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

इसी प्रकार अन्य अनेक श्लोकों में जहाँ-जहाँ आचार्य मेरुतुङ्ग ने कई अलङ्कारों का निरपेक्ष-संश्लेष पूर्वोक्तवत् प्रस्तुत किया है, वहीं संसृष्टि अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग स्वयमेव बन गया है। आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने प्रयोगों में छः-सात अलङ्कारों की संसृष्टि उपस्थित कर अपनी अलङ्कार-निपुणता को प्रदर्शित किया है, जो सराहनीय है।

संकर : संकर अलङ्कार का लक्षण विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार दिया है कि संकर वह अलङ्कार है, जिसे दो या दो से अधिक अलङ्कारों का ऐसा सम्मिश्रण कहा करते हैं, जिसमें वे या तो अंगांगिभाव-सम्बन्ध

---

१. जैनमेघदूतम्, १/७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सम्बद्ध रहा करते हैं, या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं, या सन्देह के विषय बन जाया करते हैं—

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः[1] ॥

अर्थात् अलङ्कारों का जल और दुग्ध सा मिश्रण संकर अलङ्कार का जनक है। यह मिश्रण तीन प्रकार का होता है।

संकर अलङ्कार के निरूपण के प्रति भी आचार्य मेरुतुङ्ग ने वही दृष्टि अपनायी है, जो संसृष्टि अलङ्कार के प्रयोग में रखी है। मेरुतुङ्ग ने निस्संकोच भाव से पाँच-पाँच, छः-छः अलङ्कारों के समूह को एक-एक श्लोक में प्रयुक्त कर तथा उनमें परस्पर अंगांगिभाव प्रदर्शित करते हुए संकर अलङ्कार के प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। संकर अलङ्कार की प्रस्तुति के लिए अन्य अनेक अलङ्कारों में जिस प्रकार परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध दिखाया गया है, उसमें विचित्रता बस इसी बात को देखकर लगती है कि एक ही स्थल पर इस प्रकार अनेक अलङ्कारों का परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध प्रदर्शित करने पर भी श्लोकों की भाषा एवं भावों में किञ्चिदपि अन्तर नहीं पड़ा है। यथा—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमान्
ऐनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[2] ॥

काव्य के इस प्रथम श्लोक में ही देखिये कि हेतु, दीपक, अवसर, उपमा, जाति और श्लेष इन छः अलङ्कारों में अंगांगिभाव रूप से सम्बन्ध होने के कारण संकर अलङ्कार स्पष्ट हो रहा है।

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम्।
वल्ल्यो लोलैः किशलयकरैर्लास्यलीलां च तेनु-
स्तद्भक्त्येति व्यरचयदिव प्रेक्षणं वन्यलक्ष्मीः[3] ॥

---

१. साहित्यदर्पण, १०/९८।
२. जैनमेघदूतम्, १/१।
३. वही, २/१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में भी निदर्शना, अतिशयोक्ति, रूपक, दीपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अनुप्रास इन सात अलङ्कारों में अंगांगिभाव रूप से सम्बन्ध होने के कारण संकर अलङ्कार पूर्ण रूप से स्पष्ट हो रहा है।

उपर्युक्त प्रयोगों की भाँति ही आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् के अधिकांश स्थलों पर संकर अलङ्कार के प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। संकर अलङ्कार के प्रयोग में मेरुतुङ्ग की निपुणता अवश्यमेव प्रशंसनीय है, क्योंकि एक ही श्लोक में इतने सारे अलङ्कारों का जमघट कर, उनमें से किसी में किञ्चिदपि खण्डता न आने देना आसान कार्य नहीं है। आचार्य मेरुतुङ्ग ने इसमें सफलता प्राप्त की है, अतः आचार्य मेरुतुङ्ग को संकर अलङ्कार के प्रयोग में निस्संदेह सिद्धहस्त कहा जा सकता है।

इस प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग द्वारा जैनमेघदूतम् में विवेचित उपर्युक्त विभिन्न शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों के विवेचन से यह पूर्णतया परिलक्षित होता है कि आचार्य मेरुतुङ्ग अलङ्कार-निरूपण-कला में अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। हमने देखा है कि आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में विशेष रूप से श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, काव्यलिङ्ग, उदात्त आदि अलङ्कारों का निरूपण किया है। शब्दालङ्कारों में मात्र अनुप्रास अलङ्कार एवं श्लेष अलङ्कार का बहुलता के साथ प्रयोग किया है और वक्रोक्ति अलङ्कार का भी एक स्थल पर प्रयोग किया है।

आचार्य मेरुतुङ्ग की इस अलङ्कार-प्रस्तुति में कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं आ सका है, जो भाव को बाधित कर सके। उनके श्लेष अलङ्कार के प्रयोग वास्तव में सराहनीय हैं। श्लेष के इन प्रयोगों के दर्शनोपरान्त अनायास ही आचार्य मेरुतुङ्ग के प्रति प्रशंसा के दो शब्द प्रस्फुटित हो पड़ते हैं—

श्लेषः मेरुतुङ्गस्य।

अलङ्कार-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

अलङ्कार-निरूपण में आचार्य मेरुतुङ्ग एवं महाकवि कालिदास दोनों ही अति निपुण हैं, ऐसा इन दोनों कवियों के दूतकाव्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है। दोनों कवियों ने अपने काव्यों में विभिन्न अलङ्कारों को नियोजित किया है, जो प्रायः एक समान ही हैं।

शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत अनुप्रास अलङ्कार का दोनों दूतकाव्यों में सर्वाधिक प्रयोग उपलब्ध होता है। अतः अनुप्रास के प्रयोग में दोनों कवियों ने पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है, इसकी सिद्धि इसी से होती है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों काव्यों में अनुप्रास के अनेक सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होते हैं। महाकवि कालिदास ने यमक अलङ्कार का भी एक प्रयोग अपने मेघदूत में किया है। श्लेष अलङ्कार के भी अनेक प्रयोग किये हैं, तथा पुनरुक्तवदाभास के भी दो प्रयोग मेघदूत में प्रस्तुत किये हैं, जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में यमक अलङ्कार का एक भी प्रयोग नहीं किया है। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का भी जैनमेघदूतम् में एक भी प्रयोग नहीं किया गया है। हाँ, श्लेष अलङ्कार के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग की प्रतिभा अवश्यमेव अत्यन्त चमत्कृत हुई है। आचार्य मेरुतुङ्ग के श्लेष-प्रयोग अति उच्चकोटिक हैं। इसके साथ ही आचार्य मेरुतुङ्ग ने वक्रोक्ति अलङ्कार का भी एक प्रयोग जैनमेघदूतम् में किया है।

यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि कालिदासीय मेघदूत में यमक और पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार के जो प्रयोग हुए हैं, वे जैनमेघदूतम् में नहीं उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार जैनमेघदूतम् में प्रयुक्त वक्रोक्ति अलङ्कार का का प्रयोग कालिदासीय मेघदूत में नहीं उपलब्ध होता है। इस प्रकार सामान्य रूप से दोनों दूतकाव्यों में शब्दालङ्कार के विषय में किञ्चित् अंशों में ही समानता दृष्टिगत होती है, क्योंकि अनुप्रास और श्लेष ही दो ऐसे अलङ्कार हैं, जिनका प्रयोग इन दोनों काव्यों में मिलता है। उसमें भी श्लेष अलङ्कार के प्रयोग में कालिदास की अपेक्षा आचार्य मेरुतुङ्ग ही अधिक प्रभावी सिद्ध हुए हैं। शेष यमक, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति आदि शब्दालङ्कार इन दोनों काव्यों में स्वतन्त्र एवं समान रूप से प्रतिपादित मिलते हैं। अतः शब्दालङ्कारों के प्रयोग के प्रति इन दोनों काव्यों में अंशतः विषमता दृष्टिगत होती है, क्योंकि ऐसे प्रयोग इन काव्यों में नहीं मिलते हैं।

अर्थालङ्कारों के प्रयोग में भी कालिदासीय मेघदूत एवं आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में किञ्चित् साम्यता के साथ ही साथ किञ्चित् विषमता भी दृष्टिगत होती है। प्रायः दोनों कवियों ने अनेक अर्थालङ्कारों का प्रयोग अपने-अपने इन काव्यों में किया है। जहाँ महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्याय, उदात्त, समुच्चय, अनुमान, परिकर, सम, स्मरण, विषम, परिसंख्या, प्रतीप, परिणाम, अर्थापत्ति, विकल्प, संसृष्टि एवं संकर अलङ्कारों का प्रयोग किया है, वहीं आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निदर्शना, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, सम, स्मरण, विषम, अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, दीपक, आक्षेप, विभावना, विरोध, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, समाधि, प्रत्यनीक, सामान्य, विशेष, हेतु, जाति, भाव, अवसर, अतिशय निषेध, संसृष्टि और सङ्कर अलङ्कारों का प्रयोग किया है। उपर्युक्त अलङ्कारों के निरूपण में दोनों कवियों ने विशेष बल इसी बात पर दिया है कि काव्य में इन अलङ्कारों के उपस्थापन से काव्य की भाषा एवं स्वरूप में कहीं पर भी भाव-भंगता या क्रम-भंगता न आने पाये। यह विशेषता इन दोनों काव्यों में उपलब्ध होती है।

उपमा अलङ्कार के निरूपण में भी दोनों कवियों ने पर्याप्त सिद्ध-हस्तता प्राप्त की है। महाकवि कालिदास के उपमा-प्रयोग के विषय में तो यह उक्ति ही कही गयी है—**उपमा कालिदासस्य**। महाकवि कालिदास का सर्वाधिक प्रिय अर्थालङ्कार उपमा ही है, ऐसा इनके प्रयोगों से ही स्पष्ट होता है। आचार्य मेरुतुङ्ग ने भी अपने जैनमेघदूतम् में उपमा अलङ्कार का अत्यन्त रोचक व बहुविध प्रयोग किया है। जैसा कि हमने पूर्व में देखा कि उन्होंने जैनमेघदूतम् में उपमा अलङ्कार के तेंतालिस प्रयोग किये हैं, जबकि महाकवि कालिदास ने मेघदूत में उपमा अलङ्कार के इतने अधिक प्रयोग नहीं किये हैं। यह हम दोनों कवियों की उपमा अलङ्कार की प्रयोग-संख्याओं के आधार पर कह सकते हैं। उपमा अलङ्कार के प्रयोग के विषय में दोनों कवियों को विशेष निपुणता प्राप्त थी, इस बात के स्पष्ट परिचायक दोनों कवियों द्वारा प्रस्तुत उनके उपमा-प्रयोग ही हैं।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रयोग में भी महाकवि कालिदास और आचार्य मेरुतुङ्ग दोनों ने ही पर्याप्त कुशलता प्रदर्शित की है। इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के भी पर्याप्त प्रयोग इन दोनों काव्यों में प्रस्तुत किये गये हैं। महाकवि कालिदास और आचार्य मेरुतुङ्ग दोनों के अर्थालङ्कारों के प्रयोग अत्यन्त रोचक हैं।

इन दोनों काव्यों के अलङ्कार-प्रयोगों की सम्यक् समीक्षा के सन्दर्भ में हम यह भी देख सकते हैं कि दोनों ही काव्यों में कुछ अलङ्कार-प्रयोग ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग दोनों काव्यों में नहीं मिलता है। यथा—महाकवि कालिदास के मेघदूत में प्रयुक्त परिसंख्या, प्रतीप, परिणाम, अर्थापत्ति, विकल्प आदि ऐसे अलङ्कार हैं, जिनके प्रयोग जैनमेघदूतम् में नहीं किये गये हैं। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग द्वारा जैनमेघदूतम् में प्रयुक्त अप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ह्नुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, दीपक, आक्षेप, विभावना, विरोध, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, हेतु, जाति, भाव, अवसर, अतिशय, और निषेध आदि ऐसे अलङ्कार हैं, जो कालिदासीय मेघदूत में नहीं उपलब्ध होते हैं। इस विषय में हमारा कथन यही हो सकता है कि अपने-अपने काव्यों में प्रयुक्त अलङ्कारों के निरूपण में दोनों ही कवियों ने पर्याप्त सूझ-बूझ का प्रदर्शन किया है; क्योंकि अपने-अपने इन काव्यों में प्रयुक्त उपर्युक्त स्वतन्त्र अलङ्कार-प्रयोग इसके स्पष्ट प्रमाण जो हैं। इस प्रकार दोनों काव्यों में प्रयुक्त उपर्युक्त समस्त अर्थालङ्कार अपनी भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थता प्राप्त किये हुए हैं।

यहाँ पर विशेष रूप से दृष्टिगत होता है कि अलङ्कारों के प्रयोग में आचार्य मेरुतुङ्ग ने अधिक उत्साह प्रदर्शित किया है। क्योंकि उन्होंने जैनमेघदूतम् में शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत लगभग अड़तालीस अलङ्कार प्रयुक्त किये हैं, जबकि महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में लगभग पैंतीस अलङ्कारों का ही सुनियोजन किया है। दोनों कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों की उपर्युक्त संख्या, दोनों कवियों की अलङ्कार-नियोजन-कला के प्रति सिद्धहस्तता को निदर्शित करती है। परन्तु यहाँ पर दोनों काव्यों के अलङ्कार-निरूपण के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास यहाँ कुछ न्यून प्रतीत होते हैं, परन्तु इसका एक विशेष और महत्त्वपूर्ण कारण है कि महाकवि कालिदास को अलङ्कारों के निरूपण में अधिक समय व स्थान ही नहीं मिला। क्योंकि उनका यह मेघदूत काव्य मात्र ११५ श्लोकों में ही समाप्त हो गया है। मात्र एक सौ पन्द्रह श्लोकों में निबद्ध इस लघुकाय काव्य में इतने ही अलङ्कारों का सुनियोजन होना—स्वयं में आश्चर्य है। इस लघुकाय मेघदूत में इससे अधिक और कितने अलङ्कार निरूपित किये जा सकते थे। जबकि इसके विपरीत आचार्य मेरुतुङ्ग को किञ्चित् विस्तृत क्षेत्र मिला है—अलङ्कार-निरूपण के लिए। क्योंकि उनका जैनमेघदूतम् काव्य १९६ श्लोकों में निबद्ध कालिदासीय मेघदूत की अपेक्षा किञ्चित् बृहद्काय ही है। अतः उन्हें अलङ्कारों के निरूपण के लिए अधिक स्थान व समय भी प्राप्त हुआ है। यहाँ पर यह कहना कि आचार्य मेरुतुङ्ग महाकवि कालिदास की अपेक्षा अलङ्कारों के प्रयोग में अधिक निपुण हैं, सङ्गत नहीं प्रतीत होता है। हाँ! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में कालिदासीय मेघदूत की अपेक्षा किञ्चित् अधिक अलङ्कारों को प्रयोग में लिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः काव्यद्वयों में प्रयुक्त ये अलङ्कार अपने-अपने भावाभिव्यञ्जन में पूर्णतः समर्थ हैं। महाकवि कालिदास के अलङ्कार-प्रयोग अपने साथ एक विचित्र चमत्कृति लेकर प्रस्तुत होते हैं। उनमें स्पष्टता और सरलता मिलती है। किसी भी रसिक को मेघदूत के अलङ्कार-प्रयोगों में उलझना नहीं पड़ता है। क्योंकि श्लोकों के भाव अलङ्कारों में उलझे नहीं हैं। यही कारण है कि श्लोकों में सन्निहित अलङ्कार स्वयमेव स्पष्ट होते मिलते हैं। इन अलङ्कारों में चाहे उपमा हो, उत्प्रेक्षा हो या फिर श्लेष, सभी अपनी स्थिति की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ होकर ही मेघदूत में कालिदास द्वारा प्रयुक्त किये गए हैं। अतः कालिदास के ये अलङ्कार-प्रयोग सामान्यजन द्वारा सद्यःग्राह्य हैं। इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग के भी अलङ्कार-प्रयोग किसी भी रूप में महाकवि कालिदास के अलङ्कार-प्रयोगों से कम नहीं हैं। जैनमेघदूतम् में प्रयुक्त प्रत्येक अलङ्कार अपनी अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ हैं तथा जिस भी श्लोक में व्यवहृत हुए हैं, उस श्लोक के रूप-सौन्दर्य के सर्वथा अभिवृद्धिकारक ही सिद्ध हुए हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग की इस अलङ्कार-प्रस्तुति के विषय में विशेष ध्यातव्य यह है कि इन्होंने अपने एक-एक श्लोक में सात-सात, आठ-आठ अलङ्कारों का भी सुनियोजन कुछ इस ढंग से कर दिया है कि एक ही श्लोक में इतने अलङ्कारों के समूह के सन्निहित होने पर भी उस श्लोक का मूल भाव और बाह्य-शिल्प किञ्चिदपि नष्ट नहीं होने पाया है। ऐसा ही एक श्लोक देखा जा सकता है, जिसमें एक साथ आठ अलङ्कारों को आचार्य मेरुतुङ्ग ने समाहित कर रखा है—

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम्।
वल्ल्यो लोलेः किशलयकरैर्लास्यलीलां च तेनु-
स्तद्भक्त्येति व्यरचयदिव प्रेक्षणं वन्यलक्ष्मीः[1]॥

यहाँ पर "वनलक्ष्मी" आदि अप्रकृत से प्रकृत "वायु ही" जिसमें वादक है, भृंग जिसमें मधुर गीत गा रहे हैं, आदि की उपमा दी जाने के कारण निदर्शना अलङ्कार; लताओं का नर्तकी के समान नृत्य करने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार; किशलय और कर में अभेद होने के कारण रूपक अलङ्कार; "**तेनुस्तद्भक्त्येति**" इस क्रिया का एकत्व कोने के कारण दीपक अलङ्कार; श्लोक के पूरे भाव में उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार;

१. जैनमेघदूतम्, २/१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वनलक्ष्मी" इस श्लेषयुक्त विशेषण द्वारा अप्रकृत का कथन होने से समासोक्ति; "**वल्ल्यो लोलैः किशलयकरैर्लास्यलीलां**" में अनुप्रास अलङ्कार तथा इन उपर्युक्त अलङ्कारों के संयोग से संकर अलङ्कार भी स्पष्ट हो रहा है।

इस प्रकार आठ अलङ्कारों का समावेश होने पर भी इस श्लोक का स्वरूप व भाव कितना सुन्दर बना है। यही कारण है कि आचार्य मेरुतुङ्ग का यह प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय बन गया है, जो उनकी अलङ्कार-निरूपण-प्रतिभा का प्रकाशक भी है। आचार्य मेरुतुङ्ग के श्लेष-प्रयोग भी प्रशंसनीय हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग ने श्लेष का इतना गहन चक्कर कहीं-कहीं चला दिया है कि सामान्यजन चक्कर में पड़ जाता है। वह श्लेष के उस दुर्भेद्य किले की ऊँची-ऊँची प्राचीरों के समीप भी नहीं पहुँच पाता, उसे भेदकर अन्दर प्रवेश करना तो बहुत दूर की बात है। फिर भी ऐसा एकाध स्थल पर ही हुआ है। सामान्यतः आचार्य मेरुतुङ्ग के श्लेष-प्रयोग भी महाकवि कालिदास के श्लेष-प्रयोगों की भाँति स्पष्ट एवं बोधगम्य ही हैं।

निष्कर्षतः आचार्य मेरुतुङ्ग के अलङ्कार-विवेचन के विषय में यही कहा जा सकता है कि जिन-जिन अलङ्कारों का प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में किया है, वे सभी अलङ्कार साहित्यशास्त्र के प्रमुख अलङ्कार हैं।

अतः ऐसे अलङ्कारों का प्रयोग करने वाला कवि और उनका काव्य भला उच्चकोटिक एवं सर्वप्रमुख कैसे न होता अर्थात् जैनमेघदूतम् में प्रतिपादित इन अलङ्कारों के निरूपण के आधार पर कवि ने काव्य में पर्याप्त सुन्दरता सान्निहित कर दी है। यही कारण है कि अपने अलङ्कृत काव्यशिल्प द्वारा जैनमेघदूतम् ने साहित्य-जगत् में महती प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा अर्जित की है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में दोष-विमर्श

दोष : सामान्य परिचय :

दोष की किञ्चित् कालिमा ही मनुष्य को अप्रतिष्ठित कर देती है। दोष, दोष ही है, चाहे वह कितना हो क्यों न छोटा या बड़ा हो, चाहे एक हो या अनेक अथवा गुप्त हो या प्रकट। इसके लिए एक सामाजिक दृष्टान्त देख सकते हैं कि किसी कमनीय-कलेवरा-कामिनी का शरीर बहुत ही सुन्दर है, उसके अंगों की चारुता रसिकों के चित्त को अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर रही है, परन्तु एकाएक उसके शुभ्र मस्तक पर कुष्ठ का एक अल्पकाय श्वेत चिह्न दिखाई पड़ जाता है। कुष्ठ के उस अल्पकाय एक चिह्न ने ही अप्सरासदृश मनोरम कान्तिवाली उस कामिनी के सुन्दर स्वरूप को हमेशा-हमेशा के लिए नष्ट कर डाला और सौन्दर्य की दृष्टि से उस कामिनी के रूप का मूल्य कोयले से भी कम कर डाला।

दोष का ऐसा ही प्रभाव कविता-कामिनी के शरीर पर भी होता है। कितना ही सरस, सरल एवं सुन्दर काव्य क्यों न हो, यदि उसमें एक छोटी सी भी त्रुटि कहीं झलकती मिल गई तो सारा का सारा काव्य महत्त्वहीन हो जाता है। काव्य की समग्र सरलता उस एक त्रुटि के अन्तर्गत निहित होकर नीरसता में परिणत हो जाती है। त्रुटि रूपी वह कर्ण-कटु शब्द सुई की तरह चुभने लगता है और चित्त में विरसता उत्पन्न कर देता है। इस बात का अभिप्राय यही है कि कवि का यह परम धर्म होता है कि वह अपने काव्य को इन काव्य-दोषों से बचाने का हर सम्भव प्रयत्न करे। इसी कारण यह अत्यन्त आवश्यक भी होता है कि कवि अपने काव्य को रस और गुण से सम्पन्न बनाने के पूर्व दोषों से बचाये।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भकाल से ही दोषों का वर्णन मिलता है। यहाँ तक कि प्रायः समस्त काव्यशास्त्रमर्मज्ञ आचार्यों ने काव्य दोषों का विवेचन पूर्व में किया है, काव्य-गुण आदि का विवेचन तत्पश्चात्। यह मानव-स्वभाव की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही परिणाम है, तभी तो वैदिक ऋषि ने भी अपनी प्रार्थना में दुरित के परिहार की वाञ्छा पूर्व में की है और पश्चात् में भद्र आदि की कामना—

विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्न आसुव॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष-परिहार को काव्य का प्रथम अंग माना गया है। इसलिए भारतीय काव्य-शास्त्र में दोष-वर्णन बहुत आग्रह के साथ किया गया है।

निर्दोषता को अपने आप में स्वयं ही एक महान् गुण मान लिया गया है—

महान् निर्दोषता गुणः।

इस निर्दोषता को प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, अपितु उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यों ने भी काव्यलक्षण का अनिवार्य अंग माना है।

रस का जो अपकर्षण करे अथवा हानि करे, वह दोष है। इसमें रस की हानि तीन प्रकार से सम्भव है--(१) रस की प्रतीति का अभाव, (२) रस की विलम्ब से प्रतीति और (३) रस-प्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता। चूँकि रस परमानन्द की अवस्था है, अतः उसका अभाव, उसकी विलम्ब से प्रतीति और न्यूनता तो निश्चित ही उद्वेग उत्पन्न करेगी। इसी से अग्निपुराणकार ने दोष का लक्षण किया है—

उद्वेगजनको दोषः[1]।

काव्यास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्वेग उत्पन्न करे, वह दोष है।

आचार्य मम्मट ने कहा है कि दोष वह है, जो मुख्य अर्थ का विघात अथवा अपकर्ष करता है अर्थात् जो काव्य के मुख्य अर्थ का विघातक या अपकर्षक हुआ करता है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः[2]॥

उनका अभिप्राय है कि दोष अभीष्ट अर्थ की प्रतीति के बाधक हुआ करते हैं, विनाशक नहीं। काव्य में रस मुख्य होता है, परन्तु कहीं-कहीं नीरस काव्यों में भी दोष माना जाता है। सरस काव्य में यदि दोष होगा तो या तो रस की प्रतीति नहीं होगी या ऐसी प्रतीति होगी, जो अपकृष्ट होगी। नीरस काव्य में यदि दोष रहे तो या तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी या फिर प्रतीति विलम्ब से होगी या प्रतीति होने पर भी वह काव्य चमत्कार से शून्य होगा।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य-दोषों का निरूपण बड़े ही विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ किया है। इस दृष्टि से काव्यप्रकाशकार

---

१. अग्निपुराण, ११।१।

२. काव्यप्रकाश, ७/४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मम्मट अत्यन्त सतर्क आचार्य सिद्ध हुए हैं। उन्होंने काव्य-दोषों का नियमन एवं उसे एक व्यवस्था प्रदान की है। फिर भी शाखा-विस्तार की प्रवृत्ति का वे भी संवरण नहीं कर पाये हैं।

कवि का कर्त्तव्य है कि वह सब प्रकार से अपने काव्य को दोष से उन्मुक्त रखे। यदि सर्वथा प्रयत्न करने पर भी वह मानव-सुलभ त्रुटियों का पात्र बनकर एकाध दोष कर ही बैठता है, तो भी कोई हानि नहीं होती।

क्या सुधाकर की किरणों में उनका दोष रूप एक कलंक छिप नहीं जाता ? क्या गुण-गरिमा से सम्पन्न काव्य में उसी प्रकार एक दोष नहीं छिप सकता ? इसी बात को एक कवि ने अपने काव्य में इस प्रकार से व्यक्त किया है—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते।
निम्मज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः[1] ॥

यदा-कदा काव्य में दोष की सत्ता होने पर भी काव्य कुछ विशेष रूप से झलक उठता है और ऐसी स्थिति में वह दोष काव्य का अपकर्षक होने के बजाय काव्य का रसावर्जक होने के कारण नितान्त श्लाघनीय हो जाता है।

क्या चन्द्रमा के काले धब्बे उसकी सुन्दरता बढ़ाने में सहायक नहीं होते हैं ?—

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

कालिदास के अनुभूत सत्य की यह उक्ति काव्य-उपासकों के लिए क्या उपास्य नहीं है ?

जैनमेघदूतम् में दोष :

अनेक गुणों एवं विशेषताओं से सम्पन्न आचार्य मेरुतुङ्ग का जैन-मेघदूतम् किञ्चित् काव्य-दोषों के जाल में फँस गया है। यह काव्य भी पूर्णतया निर्दोष नहीं है और फिर होता भी तो कैसे ? इसकी रचना तो कालिदासीय मेघदूत के आधार पर ही हुई है। फिर जब वस्तु के आधार में ही किञ्चित् सदोष स्थल उपलब्ध हो सकते हैं तो आधेय तो स्पष्ट रूप से सदोष होगा ही। यही कारण है कि आचार्य मेरुतुङ्ग के जैन-

---

१. कुमारसम्भव, १/३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदूतम् में भी बहुत सी त्रुटियाँ-अशुद्धियाँ मिलती हैं। ये त्रुटियाँ-अशुद्धियाँ और कुछ नहीं, काव्य-दोष ही हैं। परन्तु उतनी अधिक लोक-प्रसिद्धि न मिल पाने के कारण यह जैनमेघदूतम् काव्य अपने तमाम सारे गुणों एवं विशेषताओं के साथ अपने किञ्चित् दोषों को भी हृद्गत किये एक कोने में ही पड़ा रहा। इस कारण इसके काव्य-गुण एवं विशेषताओं के साथ इसके काव्य-दोषों पर भी आवरण ही पड़ा रहा। यहाँ पर इस दूतकाव्य में समाहित उन्हीं किञ्चित् काव्य-दोषों का विवेचन अभिप्रेत है।

अयुक्तिमद् दोष : सर्वप्रथम काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भामह के ही एक वक्तव्य को लेकर देख सकते हैं, जिन्होंने मेघ, वायु आदि को दूत बनाकर सन्देश भेजने वाले काव्य के रचनाकार की काफी आलोचना की है। वे इसको 'अयुक्तिमत् दोष' कहते हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग के काव्य में दूत रूप में मेघ को ही प्रस्तुत किया गया है। अतः आचार्य मेरुतुङ्ग भामह की आलोचना के विषय हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "मेघ, वायु, चन्द्र, भ्रमर, शुक, चक्रवाक आदि को दूत बनाकर भेजना, यह सभी बुद्धि के बिलकुल ही विपरीत जान पड़ता है। भला मेघ, वायु जैसे वाणी एवं प्राण-विहीन पदार्थ दूर देश तक विचरण कर दूतकर्म कैसे कर सकते हैं"—

अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्-मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमर हारीत चक्रवाक शुकादयः॥
आवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते[1]॥

परन्तु फिर भामह ने यह भी कहा है कि ऐसी युक्तियों को बड़े बुद्धिमान् कविगणों ने उन लोगों के लिये प्रयुक्त किया है, जो उन्मत्त हो गये हों, जिन्हें अपना कुछ भी ध्यान न रह गया हो—

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभि प्रयुज्यते[2]॥

भामह की यह आलोचना काफी महत्त्वपूर्ण भी है और साधारणतः इस बात की शिक्षा भी देती है कि काव्यों में प्रेमियों की वायु, मेघ, चन्द्र, आदि जैसे प्राण-विहीनों द्वारा अथवा भ्रमर, शुक, चक्रवाक आदि न

---

१. काव्यालङ्कार, १/४२-४३।

२. वही, १/४४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोल सकने वाले प्राणियों द्वारा सन्देश भेजने की रीति ऐसे अवसरों पर निन्दनीय है, जब तक कि सन्देश को भेजने वाला अपनी साधारण अवस्था में हो।

भामह के उपर्युक्त कथनानुसार आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य की सन्देश-प्रेषिका नायिका (राजीमती) को सामान्य-स्थिति से परे कर एक विशेष विक्षिप्ततापूर्ण मानसिक-स्थिति में प्रस्तुत किया है।

काव्यकार ने काव्य के प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया है कि प्रिय के विरह से उद्दीप्त काम से पीड़ित की जाती हुई भोजकन्या (काव्य नायिका राजीमती) मूर्च्छित हो गई[1]। चन्दन-जलार्द्र-वस्त्रादि-प्रभूत शीतोपचार द्वारा कथमेव चेतना वापस होने पर राजीमती उसी विक्षिप्तावस्था में ही, हृदय में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले मेघ को देखती है[2]। वह करुण एवं विरहपूर्ण प्रलाप करती हुई[3], सामने दृश्यमान मेघ को अपने प्रेयस् के समीप अपना सन्देशप्रेषण के लिए नियुक्त करने को सोचती है—

तप्ताश्मेव स्फुटति हि हिरुक् प्रेयसो हृन्ममैत-
त्तत्कारुण्यार्णवमुपतदं प्रेषयाम्यब्दमेतम्[4] ॥

कवि ने सन्देशहारक मेघ की अचेतनता को भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि कहाँ वह अचेतन मेघ ? और कहाँ कुशल-वचनों वाले वक्ताओं से कहा जाने वाला तुम्हारा सन्देश ? तुम किसके आगे क्या कह रही हो ? अथवा प्राज्ञशिरोमणि यह तुम्हारा दोष नहीं है, स्वभाव-परिवर्तन के मूल मोह का ही यह दोष है—

क्वासौ नेमिर्विषयविमुखस्तत्सुखेच्छुः क्व वा त्वं
क्वासंज्ञोऽब्दः क्व पटुवचनैर्वाचिकं वाचनीयम्।
किं कस्याग्रे कथयसि सखि ! प्राज्ञचूडामणेर्वा
नो दोषस्ते प्रकृतिविकृतेर्मोह एवात्र मूलम्[5] ॥

इस प्रकार भामह की उक्त आलोचना को आचार्य मेरुतुङ्ग ने भी वारित कर डाला है और अपने काव्य में सन्देशहारक एवं सन्देश-प्रेषिका

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२।
२. वही, १/३।
३. वही, १/४, ५, ६, ७।
४. वही, १/८ (पूर्वार्ध)।
५. वही, ४/३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों की स्थिति विशेष प्रदर्शित कर डाली है। अतः भामह का यह अयुक्तिमद् दोष जैनमेघदूतम् में नहीं स्थिर हो पाता है।

च्युतसंस्कृति दोष : जब किसी काव्य में कोई पद शब्दशास्त्र के नियमों के विपरीत होता है अथवा काव्य में कहीं पर कोई अशुद्ध व्याकरण का प्रयोग कर दिया जाता है, तो उस काव्य के उस स्थान पर 'च्युत-संस्कृति दोष' माना जाता है। इसी कारण शुद्ध भाषा के महत्त्व को ध्यान में रख कर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत कवियों के विवादास्पद प्रयोगों की समीक्षा करने के लिए अपने ग्रन्थों में दोष का एक स्वतन्त्र प्रकरण ही प्रकाशित कर डाला है। कालिदास के पूर्वकालीन अश्वघोष तथा भास जैसे कवियों के काल तक व्याकरण की शुद्धता की तरफ विशेष ध्यान किसी का भी नहीं हुआ, इसी कारण उनके ग्रन्थों में अशुद्ध व्याकरणात्मक प्रयोगों की बहुलता मिलती है। काव्य के यही दोष महर्षि व्यास, आदिकवि वाल्मीकि आदि महाकवियों के काव्यों में भी हैं, परन्तु उनकी दिव्य-साधना, तपस्या के कारण उन्हें तथा उनके काव्य-ग्रन्थों को इतना सम्मान प्राप्त हुआ कि उनके व्याकरण-दुष्ट-प्रयोगों को दोष कहने की बजाय 'आर्ष' कहने की परम्परा निकल पड़ी, फिर भी अश्वघोष आदि के काव्यों के अशुद्ध प्रयोगों को सभी समालोचक दोष ही मानते हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में च्युतसंस्कृति के अनेक दुष्प्रयोग परिलक्षित होते हैं। उन्होंने व्याकरणनिष्ठ काव्य रचने की ललक में अनेक ऐसे प्रयोग कर डाले हैं, जिन पर समालोचनात्मक दृष्टि पड़ने पर वे काव्य-दोष के रूप में स्पष्ट होने लगते हैं। ऐसे दुष्प्रयोगों से किञ्चिदपि अर्थ नहीं निकलता है तथा श्लोक में भावक्रम टूटता सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में पूरा का पूरा श्लोक नीरस आभासित होने लगता है। इस काव्य में प्रस्तुत किञ्चित् व्याकरणात्मक प्रयोग इतने भ्रामक हैं, जो किसी भी रसिक के मस्तिष्क को एक बार चकरा देते हैं। ऐसे ही व्याकरण-सम्बन्धी कुछ प्रमुख दुष्प्रयोग यहाँ प्रस्तुत हैं—

काव्य के प्रथम सर्ग के किञ्चित् श्लोकों में ऐसी कुछ व्याकरणात्मक अशुद्धियाँ मिलती हैं। यथा—

लोकातीतोल्लसितसुखमं यस्य बाल्येऽपि रूपं
तस्य स्थाम्नि श्वयति पुरुहे यौवने केन वर्ण्यम्[1]।

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२२ (पूर्वार्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में "सुखमं" शब्द का "ख" कार चिन्त्य है। टीकाकार शीलरत्नसूरि ने भी सुखमा पाठ ही प्रस्तुत किया है। इसका प्रामाणिक तथा शुद्ध पाठ "सुषमा" होना चाहिए था।

नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्वीचयस्तं
देवा एवानिशमरमयत्केलिवापीषु भक्त्या[1] ॥

इस श्लोक में "देवाः" कर्ता की क्रिया "अरमयत्" दी गयी है, जबकि टीकाकार आचार्य शीलरत्नसूरि ने "अरमयन्" क्रिया ही लिखी है। अतः श्लोक के मूल में भी "अरमयन्" ही होना चाहिए था।

ताश्चानङ्गं पशुपतिदुतं गूढमार्गे शयानं
सख्यू राज्ये जहति पुरुहे चात्रजातेऽपि जाते[2] ॥

इसी प्रकार द्वितीय सर्ग के एक श्लोक में कवि ने "जहति" क्रिया लिखी है, जबकी यह सदोष ही है। क्योंकि टीकाकार ने "जयति" रूप ही प्रस्तुत किया है और यही श्लोक के भाव के आधार पर होना भी चाहिए था,।

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः।
अध्यारोहन्मदकलमिभं विश्वभर्तौपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम्[3] ॥

तृतीय सर्ग के इस श्लोक में कवि ने "अभितः" और "रोदस्" दो शब्दों का प्रयोग किया है; जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों शब्दों का अर्थ प्रायः एक ही है। "अभितः" शब्द से तात्पर्य सब ओर से है, अतः जब "सब ओर" यह अर्थ "अभितः" से ही स्पष्ट हो रहा है तो "रोदस्" अर्थात् आकाश और पृथ्वी के मध्य का अन्तराल शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता थी। इसी श्लोक के चतुर्थ चरण में "अधः कृति" शब्द के स्थान पर "अधः कृत" शब्द होना चाहिए था।

श्रेय सारागममुपयमाद्यङ्गमग्र्यासनस्थं
नासान्यस्तस्तिमितनयनं पुण्यनेपथ्ययोगम्।
शुक्लध्यानोपगतमिव सच्चन्दनस्याङ्गरागै-
स्तत्राद्राक्षं जगदिनमहं भोगिनं योगिनं वा[4] ॥

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२० (उत्तरार्ध)।
२. वही, २/१८ (पूर्वार्ध)।
३. वही, ३/३१।
४. वही, ३/३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार इस श्लोक में कवि ने "भोगी" शब्द के लिए "श्रेयः सारागम" तथा "नासान्य ..... " जैसे विशेषण तथा "योगी" शब्द के लिए "चन्दनस्याङ्गरागैः" आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जो संगत एवं समीचीन नहीं प्रतीत होते हैं। ऐसा शायद प्रमादवश ही हुआ है।

देवव्यूहैः समनुचरितः सर्वतो मागधद्भिः
ज्ञातेयेषु प्रसृतमतिभिः साश्रुभिर्दृश्यमूर्तिः।
दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो
गच्छन् दृष्टो रविरिव वनान्नीरजिन्या गवाक्षात्[1] ॥

चतुर्थ सर्ग के इस श्लोक में कवि ने "दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो, गच्छन् दृष्टो रविरिव वनान्नीरजिन्या गवाक्षात्" ऐसा लिखा है। परन्तु इसमें कवि ने "वनात् काननं गच्छन् दृष्टः" ऐसा कहा है, जबकि यहाँ पर "काननं" कर्म की अपेक्षा अनावश्यक है और "वनात् गच्छन् दृष्टः" यही इतना पर्याप्त है।

इस प्रकार जैनमेघदूतम् में च्युतसंस्कृति दोष के अनेक स्थल दृष्टिगत होते हैं। परन्तु इन काव्य-दोषों के बावजूद भी काव्य के विविध स्वरूप (बाह्यशिल्प-विधान, स्वरूप एवं भाषा तथा आन्तरिक भावार्थ) पर रञ्चमात्र भी प्रभाव नहीं आया है। यही कारण है कि इन उपर्युक्त अशुद्ध व्याकरणात्मक प्रयोगों के होने पर भी जैनमेघदूतम् काव्य सहृदय रसिक-संवेद्य एवं चित्ताकर्षक है।

हीनोपमा दोष : आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में उपमाओं का भी अत्यधिक प्रयोग किया है। परन्तु इनकी ये उपमाएँ उतनी सशक्त नहीं हो पायी हैं। यही कारण है कि जैनमेघदूतम् में प्रयुक्त इन उपमाओं के सम्बन्ध में भी किञ्चित् दोष स्पष्ट होता मिलता है। वह दोष है—हीनोपमा दोष। जब कहीं-कहीं काव्य में उपमेय की अपेक्षा उपमान अधिक हीन प्रतीत होने लगे, तो वहाँ पर हीनोपमा नामक दोष होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में उपमाओं के प्रयोग में सावधानी नहीं रखी है, उन्होंने उपमान व उपमेय की नाप-तौल नहीं की है। इसी कारण उनके काव्य में उपमेय की अपेक्षा, उपमान कहीं-कहीं अधिक हीन प्रतीत होने लगा है, जो हीनोपमा दोष का परिचायक है। ऐसी एक शंका काव्य के प्रथम सर्ग के एक श्लोक में उठती है—

---

१. जैनमेघदूतम्, ४/४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वं जीमूत ! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशो स्वे दृशौ नो विधत्ते ।
दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै[1] ॥

अर्थात् हे जीमूत ! अन्य से असाध्य उपकारों के कारण आप विख्यात महिमावाले हैं, आपको देखकर अपनी आँखों को कौन विशाल नहीं बना लेता है। आपने अपने दान से प्रसिद्ध कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को नीचे कर दिया है, जगत् के जीवन की लक्ष्मी (जल, विद्युत् आदि) को धारण करने वाले आपकी इच्छा कौन नहीं करता है।

यहाँ पर कवि ने उपमान सुरमणि और कल्पवृक्ष को उपमेय मेघ से हीन के रूप में चित्रित किया है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। सुरमणि और कल्पवृक्ष दोनों ही उपमान, उपमेय मेघ से स्वभावतः विशिष्ट हैं। अतः आचार्य मेरुतुङ्ग द्वारा दोनों उपमानों को उपमेय से हीन व्यक्त करना यहाँ हीनोपमा दोष की उपस्थिति का कारण है।

अधिकोपमा दोष : हीनोपमा दोष की भाँति ही आचार्य मेरुतुङ्ग के काव्य में अधिकोपमा दोष के भी एकाध प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। अधिकोपमा दोष वहाँ पर उपस्थित होता है, जहाँ पर उपमान को उपमेय से अधिक गुणसम्पन्न अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। जैन-मेघदूतम् में अधिकोपमा दोष का मात्र एक प्रयोग मिलता है। परन्तु यह एक दुष्प्रयोग ही कुछ कम महत्त्व का नहीं है—

पद्मं पद्भ्यां सरलकदलीकाण्ड ऊर्वोर्युगेन
स्ववाहिन्याः पुलिनममलं नेमिनः श्रोणिनैव ।
शोणो नाभ्याञ्चति सदृशतां गोपुरं वक्षसा च
द्युद्रोः शाखानवकिशलये बाहुपाणिद्वयेन ॥
पूर्णेन्दुः श्रीसदनवदनेनाब्जपत्रं च दृग्भ्यां
पुष्पामोदो मुखपरिमलै रिष्टरत्नं च तन्वा ।
वर्णेऽर्थौघे क्वचिदुपमितिं दद्युरेवं बुधाश्चे-
देतस्याङ्गैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥[2]

काव्य के प्रथम सर्ग के इस श्लोक में कवि ने अधिकोपमा दोष उपस्थित कर दिया है। इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—'कमल उनके

१. जैनमेघदूतम्, १/१२ ।
२. वही, १/२३, २४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(श्रीनेमि के) चरणों के, कदलीस्तम्भ उनकी ऊरुओं के, गंगा का तट उनकी कटि के, शोण (महाह्रद) उनकी नाभि के, तोरण उनके वक्ष के, कल्पवृक्ष की शाखा उनकी भुजा के और किसलय उनके करों के, पूर्णचन्द्र उनके श्री मुख के, कमलपत्र उनके नेत्रों के, पुष्प-सुगन्ध उनके मुखामोद के एवं उत्तम रत्न उनके शरीर के तुल्य हैं।' हालांकि इस सन्दर्भ में कवि मेरुतुङ्ग ने इसी श्लोक में स्वयं स्पष्ट कह भी दिया है—

वर्ण्येऽर्थौघे क्वचिदुपमिति दद्युरेवं बुधाश्चे-
देतस्याङ्गैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥

अर्थात् यदि विद्वान् कहीं भी वर्णनीया पदार्थ—समूह में उनके अंगों द्वारा उपमिति देता है, तो भी उपमाधिक्य दोष होता है। यहाँ पर कवि के उपमाधिक्य दोष का तात्पर्य अधिकोपमा दोष से ही है। यहाँ इस युग्मक श्लोक में कमल, कदलीस्तम्भ, गंगा-तट, शोण, तोरण, कल्पवृक्ष की शाखा, किसलय, पूर्णचन्द्र, कमलपत्र, पुष्प-सुगन्ध एवं उत्तम-रत्न रूपी उपमेय से चरण, ऊरु, कटि, नाभि, वक्ष, भुजा, कर, श्रीमुख, नेत्र, मुखामोद एवं शरीर रूपी उपमान अत्यधिक गुणवान् प्रतीत होते हैं। अतः प्रकृत स्थल में अधिकोपमा दोष स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। वैसे इस दोष के ही आधार पर आचार्य मेरुतुङ्ग की सारी उपमाएँ आधारित मिलती हैं, जिनके प्रयोग से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है, फिर भी दोष हैं तो दोष ही, चाहे साधारण हों या विशिष्ट। अतः जैनमेघदूतम् में उपस्थित काव्य-दोषों में उपर्युक्त अधिकोपमा दोष एक विशिष्ट दोष के रूप में गिना जाता है, क्योंकि जैनमेघदूतम् में अधिकोपमा दोष का यह प्रयोग आचार्य दण्डी के निम्नोक्त कथनानुसार उतना अधिक उल्लेख्य नहीं है—

यत्रोद्वेगो न धीमताम्[1]।

अर्थात् कोई भी दोष तबतक दोष नहीं है, जबतक उससे विद्वानों को उद्वेग न हो, वह उन्हें खटके नहीं।

नवीन एवं गूढ़ शब्द-प्रयोग दोष : आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में ऐसे अनेक शब्द देखने को मिलते हैं, जिनका भाव स्पष्ट कर पाना सामान्य रसिक के लिए तो क्या सुविज्ञरसिक के लिए भी क्लिष्टकर ही है। उनके काव्य में किञ्चित् ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनका प्रयोग साहित्य में सामान्य रूप से देखने को नहीं मिलता है। ऐसे शब्दों के

१. काव्यादर्श, २/५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने भाषा-अधिकार को प्रदर्शित करने के विचार से ही शायद किया है। तभी तो उन्होंने ऐसे नवीन-नवीन शब्दों को अपनी भाषा में प्रयुक्त कर दिया है, जिनके अर्थ किसी प्रमुख कोश में भी विरल रूप से ही उपलब्ध होते हैं।

प्रस्तुत काव्य के द्वितीय सर्ग में प्रयुक्त ऐसे किञ्चित् नवीन अर्थ वाले शब्द देखे जा सकते हैं। यथा—अमा[1], बर्कर[2], हल्लोसक[3], तन्त्र[4], खरु[5], वशा[6], राढः[7] आदि। इसी प्रकार तृतीय सर्ग में पेञ्जूष[8], मत्तालम्ब[9] शब्द तथा चतुर्थ सर्ग में प्रयुक्त शब्द उषा[10] भी एक नवीन शब्द ही प्रतीत होता है। इन उपर्युक्त नवीन शब्दों के अतिरिक्त कवि ने किञ्चित् ऐसे गूढ़ शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनका अर्थ सरलतापूर्वक निकाल पाना अति दुश्शक है। यथा—शुङ्किका[11], ववलिरे[12], प्राभृत[13], उलूलध्वनिः[14], नवरसा[15], क्षैरेयी[16] आदि शब्द। इन उपर्युक्त गूढ़ शब्दों का टीकाकार शीलरत्नसूरि ने भी कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है और न ही इन शब्दों का विशिष्ट अर्थ प्रायः कोशों से ही ज्ञात हो पाता है। वैसे "क्षैरेयी" शब्द का सामान्य रूप में अर्थ "खीर" (दुग्ध, चावल, शर्करा के मिश्रण से

---

१. जैनमेघदूतम्, २/१२।
२. वही, २/१२।
३. वही, २/१६।
४. वही, २/२५।
५. वही, २/२५।
६. वही, २/४०।
७. वही, २/४९।
८. वही, ३/३७।
९. वही, ३/३७।
१०. वही, ४/३४।
११. वही, २/१५।
१२. वही, २/१८।
१३. वही, २/३७।
१४. वही, ३/२८।
१५. वही, ४/१५।
१६. वही, ४/१५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित एक विशिष्ट भोज्य-पदार्थ) होता है, परन्तु इस अर्थ से यहाँ श्लोक का भाव पूर्ण स्पष्ट नहीं हो पा रहा है।

इस प्रकार मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में अनेक नवीन एवं गूढ़ शब्दों के प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जो विचारणीय हैं।

अप्रसिद्ध-प्रयोग दोष : कवि ने जैनमेघदूतम् में किञ्चित् ऐसे भी प्रयोग कर दिये हैं, जिनका वर्तमान समय में कोई अर्थ ही नहीं स्पष्ट होता मिलता है। ऐसा हो सकता है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग एवं इन शब्दों की क्रियाओं का प्रयोग पूर्व में किसी समय या फिर स्वयं कवि के समय में किया जाता रहा हो, परन्तु वर्तमान सामाजिक साहित्य में प्रायः ये प्रयोग नहीं मिलते हैं। यथा—

वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रा-
ऽलङ्कारैस्तं प्रभुमपि च मामन्यतोऽलञ्चकार[1] ॥

इस श्लोकार्ध में 'वर्णोद्वर्ण' शब्द इसी प्रकार का एक अप्रचलित प्रयोग है। टीकाकार शीलरत्नसूरि ने भी इसके सम्बन्ध में मात्र इतना ही लिखा है—'वाना-ऊवना इति लोके रूढौ'।

शायद यह कोई संस्कार विशेष है। परन्तु वर्तमान सामाजिक-संस्कारों में इसका कोई स्थान नहीं होने के कारण आज इस शब्द का प्रयोग और उसकी क्रिया का किसी को बोध नहीं है। अतः एक प्रकार से ये एक अप्रसिद्ध प्रयोग ही है।

नर्तेऽर्तीनां नियतमवरावावरीमां तपस्यां
यस्योदर्कः सततसुखकृत्कृत्यमध्यं सतां तत्[2] ॥

इसी प्रकार इस श्लोकार्ध में भी कवि ने 'अवावरी' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? यह नहीं स्पष्ट हो पाता है। यह शब्द किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु वर्तमान सामाजिक साहित्य में प्रयुक्त न होने के कारण इसका अर्थ भी निगूढ़ित हो रह गया है। इसीलिए यह भी एक अप्रसिद्ध प्रयोग ही है।

नवीन व्याकरणात्मक प्रयोग भी जैनमेघदूतम् में एकाध स्थल पर दृष्टिगत होते हैं, जो कवि की विशेषता ही कही जा सकती है। परन्तु सामान्यजन द्वारा सद्यःग्राह्य न होने के कारण ऐसे नवीन व्याकरणात्मक

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/३० (उतरार्ध)।
२. वही, ३/४८ (पूर्वार्ध)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग भी दोष की ही कोटि में रखे जाते हैं। क्योंकि ऐसे नवीन व्याकरणनिष्ठ प्रयोग शोकाकुल एवं करुण रसासिक्त सहृदय पाठक के लिए सद्यःसंवेद्य नहीं हो सकते हैं। उस समय तो उसे ऐसे शब्दों की आवश्यकता होती है, जिसे वह सद्यः हृद्गत कर सके। अतः ऐसे स्थल पर नवीन व्याकरणात्मक शब्दों की अपेक्षा सरल एवं सामान्यजन-ग्राह्य शब्दों के प्रयोग ही सफल हो सकते हैं।

सर्वानन्यानपि ननु सुखाकुर्वतः प्रीतितन्तु-
स्यूतस्वान्ताः प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः।
दुःखाकर्तुं तव समुचिता न प्रजावत्य एता
राजोविन्ध्यो दिनकृत इवावोत्त्रदित्यच्युतोऽपि[1] ॥

इस श्लोक के 'दुःखाकर्तुम्, सुखाकुर्वतः' ऐसे दो नवीन व्याकरणात्मक प्रयोग हैं, जिनका प्रयोग आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में किया है। इन नवीन व्याकरणात्मक प्रयोगों को ऐसे विरह एवं करुण प्रधान काव्य के इन सुकोमल एवं नाजुक स्थलों पर प्रयुक्त करना दोषयुक्त ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार जैनमेघदूतम् उपर्युक्त विभिन्न दोषों से ग्रथित मिलता है। परन्तु काव्य के ये अतिसूक्ष्म दोष काव्य के अनेक गुणों एवं विशेषताओं के सम्मुख धूमिल से ही प्रतीत होते हैं, अतः काव्य में इनको विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता है।

दोष-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

कालिदासीय मेघदूत में सन्निविष्ट काव्य-दोषों के परिप्रेक्ष्य में जब हम जैनमेघदूतम् के काव्य-दोषों की समीक्षा करते हैं तो निष्कर्ष रूप में यही कह सकते हैं कि आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में सन्निविष्ट पूर्व-विवेचित काव्य-दोषों के समान ही कालिदास के मेघदूत में भी नाम मात्र के कुछ दोष उपलब्ध होते हैं। आचार्य मेरुतुङ्ग के काव्य में कुछ मुख्य-मुख्य उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त ऐसे कुछ अतिसूक्ष्म दोष भी कहे जा सकते हैं, जो वास्तव में दोष न होकर भी एक रूप से दोष के समान ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि काव्य में जब ऐसे शब्द प्रयुक्त हो जाते हैं, जो अपनी अप्रसिद्धता, नवीनता एवं गूढार्थता के कारण अपना अर्थ

---

१. जैनमेघदूतम्, ३/१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहजतया प्रकट नहीं कर पाते हैं, तो उन्हें एक प्रकार के दोष की कोटि में ही रखा जाता है। फिर भी ये दोष कोई इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जो कि इनकी उपस्थिति से सम्पूर्ण काव्य-रचना ही सौन्दर्यविहीन बन सके। मेघदूत एवं जैनमेघदूत दोनों ही काव्य अपनी-अपनी रचना-शैली में अद्वितीय हैं।

ये महत्त्वहीन अल्पसंख्यक दोष समग्र काव्य पर अपना किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं डाल पाये हैं। अतः दोनों काव्य सामान्यतया अदोष ही प्रतीत होते हैं। ये जो कुछ दोष हैं भी, वे कुछ इस प्रकार के हैं कि साधारणरूप में सामान्य-जन इन दोषों को पकड़ ही नहीं सकते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म दोष समग्र काव्य का विशद् अध्ययन करने पर ही; तथा काव्य के प्रत्येक पद को समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर ही दृष्टिगत हो पाते हैं।

कालिदासीय मेघदूत में सन्निविष्ट ऐसे किञ्चित् काव्य-दोष निम्न हैं– अयुक्तिमद् दोष, च्युतसंस्कृति दोष, अश्लीलता दोष, पुनरुक्ति दाष, विधेयाऽऽविमर्श दोष, श्लोक-क्रम-भंग दोष आदि। इसी प्रकार हमने देखा कि आचार्य मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूतम् में अयुक्तिमद् दोष, च्युतसंस्कृति दोष हीनोपमा दोष, अधिकोपमा दोष, नवीन एवं गूढ़ शब्द-प्रयोग दोष, अप्रसिद्ध प्रयोग दोष आदि काव्य-दोष उपलब्ध होते हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में ऐसे काव्य-दोषों की उपस्थिति का मुख्य कारण उनकी काव्य-रचना है, जो कालिदासीय मेघदूत के आधार पर ही रची गयी है। कालिदासीय मेघदूत के समान ही जैनमेघदूतम् को भी रचने के प्रयास में ये किञ्चित् अप्रत्याशित दोष उपस्थित हो गये हैं, जिसका कवि को किञ्चित् आभास ही नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ दोष नवीन व्याकरणात्मक एवं अप्रचलित गूढ़ शब्दों के प्रयोग के कारण भी हो गये हैं। इसलिए आचार्य मेरुतुङ्ग के इस प्रथम काव्य-रचना-प्रयास में ऐसे सूक्ष्म दोष होते हुए भी बहुत सी विशेषताएँ हैं और उन्हीं विशेषताओं के आवरण में ये किञ्चित् अतिसूक्ष्म दोष तिरोहित हो गये हैं। अतः इन सूक्ष्म दोषों के आधार पर समग्र काव्य को दोष-युक्त कह देना न्यायोचित एवं तथ्यसंगत प्रतीत नहीं होता है।

कालिदासीय मेघदूत और आचार्य मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूतम् दोनों ही काव्य अणु सदृश सूक्ष्म किञ्चित् काव्य-दोषों के होते हुए भी हीरे के समान सुन्दर कान्तिमय एवं महत्त्वपूर्ण ही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन काव्य-दोषों के सन्दर्भ में एक कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है कि आचार्य मेरुतुङ्ग के काव्य में शृङ्गार रस के उभयपक्ष सहित करुण रस का ही उत्कृष्ट परिपाक मिलता है। परन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से स्पष्ट प्रतीत होता है कि करुण रस की अभिव्यक्ति में वे उतनी अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर पायें हैं, जितनी कालिदास ने प्राप्त कर ली है। स्वाभाविक भी है कि जिस व्यक्ति की रुचि जिस विषय में होती है तथा उस विषय की अभिव्यक्ति वह जितनी स्पष्टता, सरलता, सुगमता के साथ कर लेता है, उतनी सरलता से अन्येतर विषयों की नहीं। यही बात आचार्य मेरुतुङ्ग के साथ भी थी। भला एक जैन धर्माचार्य मुनि शृङ्गारिकतापूर्ण एवं कारुणिक वर्णनों की अभिव्यक्ति के भाव लायेगा कहाँ से? क्योंकि उसने समाज से तो क्या समस्त सुख दुःखों से भी संन्यास ले लिया है। उसके अनुभव से परे की वस्तुएँ हैं, ये सब। अतः उसके काव्य में शृङ्गारिक एवं कारुणिक दृश्य होंगे भी कैसे? और यदि होंगे भी तो वे भी शान्त रस से अभिप्रेरित ही होंगे। और फिर ऐसी स्थिति में काव्य-रचना में किञ्चित् प्रमादता स्वाभाविक भी है। यही कारण था कि करुण आदि रस के प्रयोग में वे उतनी गहराई को नहीं प्राप्त कर सके हैं, जितनी गहराई करुण रस के एक सिद्धहस्त कवि को अपेक्षित होती है। इसी कारण करुण रस प्रधान उनके जैनमेघदूतम् काव्य में कुछ सामान्य दोषों/त्रुटियों का हो जाना कोई विशेष बात नहीं है। ये जो थोड़ी-बहुत त्रुटियाँ हैं भी, तो वे भी काव्य के अनेक गुणों-विशेषताओं के समूहों के आवरण से छिप सी गयी हैं, या यों कह सकते हैं कि स्थूल दृष्टि से देखने पर तो इन दोषों के कारण काव्य सदोष प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्मेक्षिक रूप से विचारने पर काव्य पूर्णतया निर्दोष ही सिद्ध होता है। अतः इन काव्य-दोषों को दोष न कहकर दोषाभास ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। फिर भी यदि एकाध स्थल वस्तुतः सदोष हैं भी, तो वे न होने के बराबर उसी प्रकार ही माने जायेंगे, जैसे कि रत्न में कहीं-कहीं कीटानुवेध अर्थात् कीड़े के छेद आदि दोष हो जाते हैं, फिर भी उसके मूल्य में किञ्चिदपि न्यूनता नहीं आती है—

नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किन्तु उपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्; तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः[1]॥

---

१. साहित्यदर्पण, १/२ (वृत्ति)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में गुण-विमर्श

गुण : सामान्य परिचय :

भौतिक जगत् में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि किसी एक व्यक्ति को अत्यन्त तिरस्कार-भाव से देखा जाता है, उसका नाम आते ही भ्रकुटि खिच जाती है और हृदय में उसके प्रति घृणा की भावना जाग्रत हो जाती है; परन्तु वहीं दूसरी ओर किञ्चित् ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते हैं, जिन्हें अत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, उनके नाम–श्रवण मात्र से ही हृदय उनके प्रति आदर और स्नेह की सद्भावना से परिपूर्ण हो जाता है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर इस प्रकार के तिरस्कार एवं सत्कार की उद्भावना के उदय के प्रति कारण क्या है ? यह हृदय दो समान व्यक्तियों के प्रति आखिर असमान भावना क्यों प्रकट करता है ? इस प्रश्न के समाधानस्वरूप यही कहा जा सकता है कि प्रथम प्रकार के व्यक्ति के प्रति स्वहृदय में उत्पन्न तिरस्कार-भावना का कारण, उस व्यक्ति में विद्यमान दोषों की सत्ता है तथा द्वितीय प्रकार के व्यक्ति के प्रति स्वहृदय में उत्पन्न आदर-सम्मान की भावना का कारण, उस व्यक्ति में विद्यमान गुणों की सत्ता है। जहाँ एक ओर एक व्यक्ति किञ्चित् शारीरिक-विकारों, पागलपन, ईर्ष्या, असत्यकथन आदि मानसिक दोषों के कारण समाज में असत्ख्याति प्राप्त करता है, वहीं दूसरी ओर दूसरा व्यक्ति अपनी योग्यता, विद्वत्ता, वीरता, सत्यवादिता आदि विभिन्न गुणों के कारण समाज में स्नेह-सम्मान व ख्याति प्राप्त करता है।

ठीक यही स्थिति काव्य-जगत् को भी है। जहाँ किञ्चित् काव्य-दोषों के कारण कोई एक काव्य निन्दनीय हो जाता है, वहीं दूसरा काव्य अपने माधुर्यता आदि गुणों के कारण प्रशंसनीय हो जाता है और स्वयमेव हृदय को आकर्षित कर लेता है।

जिस प्रकार शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नहीं प्रत्युत आत्मा के साथ होता है, अति कृशकाय व्यक्ति को भी शूरता के साथ कार्य करते देखा जाता है, क्योंकि उसकी आत्मा में शूरता है। ठीक इसी प्रकार शब्द और अर्थ काव्य के शरीर मात्र ही होते हैं, आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के स्थान पर तो रस ही रहता है अर्थात् जिस प्रकार शरीर में आत्मा प्रधान होती है, उसी प्रकार काव्य में रस प्रधान होता है और जिस प्रकार आत्मा के धर्म शूरत्व आदि हैं, उसी प्रकार काव्य-रस का धर्म गुण है। गुण रस के उत्कर्ष के कारण होते हैं और इनकी स्थिति अचल होती है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः[1] ॥

अचल स्थिति का तात्पर्य यह है कि बिना रस के इसकी स्थिति नहीं हो सकती और जब इनकी स्थिति काव्य में होगी तो ये रस का उपकार भी अवश्य करेंगे। इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरंग धर्म होते हैं।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि[2]।

इस काव्य-लक्षण में 'सगुणौ' कहकर आचार्य मम्मट ने यह स्पष्ट किया है कि गुणों की स्थिति काव्य में सर्वत्र रहती है। ऐसा कोई काव्य ही नहीं, जिसमें कहीं न कहीं गुण विद्यमान न हो, यहाँ तक कि निर्गुण काव्य की कल्पना ही असम्भव है। गुण रस का सदैव पोषक ही रहता है। कभी-कभी तो वर्तमान होकर भी अलङ्कार रस का तनिक भी उपकार नहीं करता, बल्कि वह बिलकुल विरोधी बातों को पुष्ट करने लगता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य में सदैव विद्यमान रहने वाले, अचल स्थिति वाले तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहा है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा[3]।

इस प्रकार गुण के आधार पर ही काव्य का सारा अस्तित्व आधारित रहता है। इन काव्य-गुणों की संख्या-स्थापन के विषय में भी आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है। जहाँ एक ओर इन काव्य-गुणों की सख्या में तीव्र वृद्धि की गयी है, वहीं दूसरी ओर किञ्चित् गम्भीरचेता आचार्यों ने गुणों की संख्या को वैज्ञानिक आधार पर नियमित करने के भी बहुत सत्प्रयत्न किये हैं। काव्यशास्त्र के आरम्भ काल में ही भामह ने तीन गुणों की सत्ता को स्वीकार किया है। इन गुणों को जब रस-धर्म मान लिया गया,

१. काव्यप्रकाश, ८/६६।
२. वही, १/४।
३. साहित्यदर्पण, ८/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो इनका रूप बाह्य तथा मूर्त न रहकर आन्तरिक हो गया और ये चित्तवृत्तिरूप मान लिये गये। काव्य के आस्वादन से सम्बन्धित तीन अवस्थाएँ चित्त की होती हैं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व; तदनुसार काव्य-गुण भी तीन ही हुए—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त तीन गुणों के ही अस्तित्व को सिद्ध किया है। इस विषय में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश[1]।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने वामन आदि के दस गुणों के सामने अपनी माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों की मान्यता स्थापित की है।

माधुर्य गुण शृङ्गार आदि रसास्वाद में सहृदय हृदय की द्रुति से सम्बद्ध है, ओज गुण रौद्रादि रसास्वाद में सामाजिक चित्त की दीप्ति से सम्बद्ध है और प्रसाद गुण सर्व रस साधारण गुण है, क्योंकि मन की प्रसन्नता सभी रसों के आस्वाद में सिद्ध है।

माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों का स्पष्ट स्वरूप लोक-व्यवहार को ध्यान में रखने से भी आ सकता है। जब किसी से प्रेमपूर्ण बातें की जाती हैं तो उस समय कठोर शब्दों के बजाय मधुर शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु यदि किसी से क्रुद्ध होकर बात करते हैं तो उस समय मधुर शब्दों का प्रयोग न कर कठोर शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। इसी तरह व्याख्यान देते समय अथवा कोई लेख आदि लिखते समय, अपने विशेष उद्देश्य की सिद्धि हेतु प्रयत्नपूर्वक प्रभावयुक्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु किसी साधारण बात-चीत के समय ऐसा कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। यह प्रतिदिन का अनुभव है। इसी अनुभव को, काव्य-गुणों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उपयोग में लिया जा सकता है। रसों को ध्यान में रखकर ही गुणों का प्रयोग किया जाता है। शृङ्गार, विप्रलम्भ, शान्त आदि कोमलभाव वाले रसों की मधुरता का प्रदर्शन तभी किया जा सकता है, जब मधुर शब्दों का प्रयोग हो। इसी तरह वीर, रौद्र, बीभत्स आदि उग्रभाव वाले रसों की उग्रता का ठीक-ठीक प्रदर्शन तभी हो सकता है, जब कठोर शब्द प्रयुक्त किये जायें।

कवि का वास्तविक उद्देश्य यही रहता है कि वह अपनी कविता द्वारा अपने हृदय के भावों को दूसरे सामाजिक हृदय के समक्ष प्रकट करे। इसमें सबसे प्रमुख बात यह है कि उसकी कविता में अप्रचलित

---

१. काव्यप्रकाश, ८/६८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और क्लिष्ट शब्दों के स्थान पर समाज में प्रचलित एवं सहजतया हृदयंगम किये जा सकने वाले शब्दों का ही प्रयोग किया जाये, क्योंकि ऐसा करने पर ही वह अपने हृदय के भावों को सहजतया दूसरों तक भली-भाँति शीघ्रातिशीघ्र पहुँचा सकेगा।

कहा भी गया है कि उस कविता से लाभ ही क्या ? जिसे "खुद समझे या खुदा समझे"।

जैनमेघदूतम् में गुण :

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जैनमेघदूतम् में जिस प्रकार अपने भावों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है, उसे देखकर यही आभासित होता है कि उनके काव्य में इन काव्य-गुणों की स्थिति किञ्चित् विचित्र ही है। ऐसा इसलिए, क्योंकि उनके काव्य में तीनों ही गुण (माधुर्य, ओज एवं प्रसाद) समभाव से निदर्शित मिलते हैं। उन्होंने अपनी शाब्दिक-समर्थता को इतनी क्लिष्टता पूर्ण शैली में उपस्थित किया है कि उन्हें समझना व स्वहृद्गत करना सामान्यजन के लिए तो अशक्य ही है। उन्होंने समाज में अप्रचलित शब्दों को भी अधिक प्रयुक्त किया है, जिससे बिरले कृतविद्य ही उन शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। प्रत्येक श्लोक को सात-आठ अलङ्कारों, समासयुक्तता भाषा एव क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से परिपूरित किया है। यही कारण है कि उनके काव्य की भाषा सहजतया समझ पाना अति दुश्शक है, साथ ही उसमें प्रसाद गुण की अवस्थिति भी नहीं मिलती है।

जैनमेघदूतम् में मात्र करुण एवं विप्रलम्भ शृङ्गार को ही आधार मानकर काव्य-रचना नहीं हुई है, अपितु आचार्य मेरुतुङ्ग ने करुण एवं विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ ही समभाव से शृङ्गार के संयोग पक्ष का भी विस्तृत प्रकटन किया है। वीर आदि रसों का भी यथाशक्य प्रयोग कर दिखाया है। कवि के इस प्रयास से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि कवि ने अपने जैनमेघदूतम् को मात्र करुण-रस-प्रधान काव्य ही बनाने का प्रयास नहीं किया है, अपितु समस्त रसों का सामञ्जस्य स्थापित कर अपनी रचना को महाकाव्य की कोटि में रखने का प्रयास किया है।

जैनमेघदूतम् की क्लिष्टता एवं दुरूहतापूर्ण वाक्य-रचना यही स्पष्ट करती है कि कवि को प्रसाद गुण जैसे सरल, सहज एवं सर्वसामान्यगम्य गुण का प्रयोग उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ, तभी उन्होंने इस प्रकार की व्यञ्जनासिक्त भाषा का प्रयोग कर अपने इस काव्य को माधुर्य गुण में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिप्त कर दिया है। इसके साथ ही काव्य में प्रयुक्त किञ्चित् वीर रस के प्रयोगों के कारण ओज गुण की भी स्थिति काव्य में मिलती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्लिष्ट वाक्य-रचना एवं अलङ्कार-बाहुल्य से दुरूह बने इस काव्य को सहजतया हृदयावस्थित कर पाना सामान्यतः अति दुश्शक ही है। इस विषय में आचार्य मेरुतुङ्ग का—स्वाभाविक सामान्यता को त्यागने और व्यञ्जनासिक्त भाषा का प्रयोग करने का—प्रयत्न यही सिद्ध करता है कि ऐसा उन्होंने शायद अपने काव्य को माधुर्यगुण से विभूषित करने के विचार से ही किया है। अपनी इस प्रतिभा-प्रदर्शनी में उन्होंने ओज गुण का भी भली प्रकार प्रदर्शन कर अपनी रचना-प्रतिभा में चार चाँद लगा दिये हैं।

इस प्रकार माधुर्य एवं ओज गुण से विभूषित इस काव्य में प्रसाद गुण का महत्त्व नहीं स्थापित हो पाया है। यत्रन्तत्र मात्र कुछ ही स्थल प्रसाद गुण-स पन्न दृष्टिगोचर होते हैं।

माधुर्य गुण चित्त को आह्लादित करने वाला होता है और शृङ्गार रस की स्थिति में चित्त को पानी-पानी कर देने का कारण होता है—

आह्लादकत्वं माधुर्य्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्[1]।

यहाँ शृङ्गार से तात्पर्य सम्भोग-शृङ्गार से है। सम्भोग-शृङ्गार के आस्वाद में माधुर्य का आह्लाद है, क्योंकि शृङ्गार की अनुभूति सामाजिक हृदय को एक अलौकिक द्रुति अर्थात् कोमलता से भर देती है। ध्वन्यालोकलोचनकार ने स्पष्ट कहा है कि शृङ्गार के आस्वाद में जो सर्वजन साधारण की अधिकाधिक तन्मयता होती है, वही शृङ्गार का माधुर्य है[2]। माधुर्य के प्रकर्ष के सम्बन्ध में ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कथन है कि सम्भोग-शृङ्गार यदि मधुर है तो विप्रलम्भ-शृङ्गार मधुरतर है और करुण मधुरतम है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमाद्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः[3]॥

---

१. काव्यप्रकाश, ८/६८।
२. ध्वन्यालोक, लोचन टीका २/७।
३. वही, २/८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय में आचार्य मम्मट की दृष्टि कुछ भिन्न ही है, उन्होंने सम्भोग शृङ्गार को मधुर, करुण को मधुरतर, विप्रलम्भ शृङ्गार को मधुरतम और शान्त रस को माधुर्य की पराकष्ठा माना है—

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्[1]।

जैनमेघदूतम् का प्रथम श्लोक ही माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति करता है। कवि ने सहृदय पाठक को विचार कर श्लोक का भाव निकालने पर मजबूर कर दिया है। यथा—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार[2] ॥

अर्थात् तीनों लोकों के उपदेशक तथा अत्यन्त बुद्धिमान् किसी ने चिदानन्द सुखों को पाने की इच्छा से सभी पाप-व्यापारों की मूलकारण कान्ता को त्याग दिया। तदनन्तर सुरतरु के सदृश दान करके अत्युच्च पद पर आरोहण का इच्छुक बनकर पर्वतश्रेष्ठ, पवित्र रैवतक को स्वीकार किया। अब यहाँ इस श्लोक का अर्थ एवं इसके पद सभी माधुर्य गुण के अधान हैं। पदरचना आदि में तो स्पष्ट रूप से श्लिष्टता परिलक्षित ही हो रही है। परन्तु सबसे प्रमुख विशेषता है, इसमें प्रयुक्त व्यंग्यार्थ की। श्लोक में कहीं किसी भी ओर नेमीश्वर (काव्य के नायक) का नाम नहीं लिया गया है, बल्कि व्यंग्यार्थ-प्रस्तुतकारक "त्रिभुवनगुरु" शब्द से ही व्यञ्जना-व्यापार द्वारा "नेमीश्वर" अर्थ अभिव्यञ्जित हो रहा है, जो आचार्य मेरुतुङ्ग के माधुर्य गुण-विषयक हस्तलाघव का स्पष्ट दिग्दर्शन कराता है।

माधुर्य जैसे विशिष्ट गुण से विभूषित जैनमेघदूतम् की काव्य-वाणी में स्थित व्यञ्जना, सहृदय रसिक के मस्तिष्क पर किञ्चित् बल डलवाती है और तब फिर अपने मनोरम एवं सशक्त रूप में सहृदय रसिक के सम्मुख प्रकट हो जाती है। आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् काव्य में प्रस्थित माधुर्य गुण की यही मुख्य विशेषता है। उन्होंने काव्य के द्वितीय श्लोक में ही व्यञ्जना का एक उत्कृष्ट प्रयोग कर दिखाया है। यथा—

---

१. काव्यप्रकाश, ८/६९।
२. जैनमेघदूतम्, १/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षां तस्मिन्निव नवगुणां सैषणां चापयष्टिं
प्रद्युम्नाद्यामभि रिपुचमूमात्तवत्येकवीरे।
तद्भक्तेति च्छलितजगता क्लिश्यमाना निकामं
कामेनाशु प्रियविरहिता भोजकन्या मुमूर्च्छ[1] **॥**

अर्थात् उन अद्वितीय वीर श्रीनेमि के द्वारा अपनी उस शत्रुसेना (काम जिसमें प्रमुख है)—जिसके आगे बड़े-बड़े बलिष्ठ वीर हैं—की ओर नवीन प्रत्यञ्चा तथा बाण से युक्त धनुष के ग्रहण करने पर, समस्त संसार को छलने वाले कामरूपी (श्रीनेमि के इस) प्रमुख शत्रु के द्वारा—यह जान कर कि यह हमारे शत्रु श्रीनेमि की भक्त है—अत्यन्त पीडित की जाती हुई प्रियविरहिता भोजकन्या मूर्च्छित हो गयी। इस श्लोक का व्यंग्यार्थ-पूर्ण भाव यह निकल रहा है कि मोह आदि महाशत्रुओं को परास्त करने में अद्वितीय श्रीनेमि ने, काम जिसमें प्रमुख है ऐसी विषय-समूह रूपी शत्रुसेना के प्रति जब शील-क्षमा आदि नवीन गुणों वाली तथा एषणा-समिति से युक्त दीक्षा को ग्रहण किया, तब उनका उपकार न कर सकने वाले तथा छल-युद्ध में कुशल कामदेव द्वारा—ऐसा जानकर कि यह राजी-मती नेमिभक्त भी है तथा असहाय भी है इसलिए—अत्यन्त पीडित की जाती हुई भोजकन्या राजीमती मूर्च्छित हो गई।

इसी प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपनी विशिष्ट पदरचना द्वारा अपने भावों को नवीन उपमाओं में सजाया है। उनकी यह रचना-विशिष्टता, अपने व्यञ्जनायुक्त भावों को सहृदय तक पहुँचाने में पूर्णतया सक्षम है। ऐसा ही एक स्थल प्रस्तुत है, जहाँ पर कवि ने वर्षाकाल में विरहिणी स्त्रियों को होने वाली कामव्यथा का सुन्दर एवं विशिष्ट शब्दों से युक्त पद-रचना में निदर्शन कराया है। वह कहता है कि—वर्षाकाल में स्वभाव से ईर्ष्यालु विरहिणी स्त्रियाँ अपने शोक को उत्पन्न करने वाले मेघ से जो ईर्ष्या करती हैं, वह ठीक ही है। क्योंकि जब वह मेघ नीलतुल्य श्यामवर्ण होता है, तो वे स्त्रियाँ भी मुख को श्याम अर्थात् मलिन बना लेती हैं। जब वह मेघ बरसता है, तो वे स्त्रियाँ भी अश्रु-जल बरसाती हैं; जब वह मेघ गरजता है, तो वे स्त्रियाँ भी चातुर्यपूर्ण कटु-विलाप करती हैं तथा जब वह मेघ बिजली चमकाता है, तो वे स्त्रियाँ भी उष्ण-निःश्वास छोड़ती हैं—

---

१. जैनमेघदूतम्, १/२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यश्रु वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्ययत्यौष्ण्यमियूत् ।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम्[1] ।।

इस श्लोक में पदों की कितनी ही सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। आचार्य मेरुतुङ्ग के इसी प्रयोग से ही उनकी माधुर्य गुण की प्रयोग-कला की कल्पना को जा सकती है। इसी प्रकार की सुदृढ़ पद-रचना काव्य-माधुर्य के अभिव्यञ्जन में पूर्णतः सहायक भी सिद्ध होती है। इसी कारण आचार्य मेरुतुङ्ग की भाषा पूर्णतया माधुर्य गुण से परिपूर्ण है।

माधुर्य गुण से विभूषित आचार्य मेरुतुङ्ग की वाणी अपना चमत्कार दिखा रही है। उसके एक-एक शब्द अपनी माधुर्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं तथा प्रत्येक भाव अपने अर्थ की अभिव्यञ्जना कर रहे हैं। उन्होंने शब्दों में ऐसा तालमेल बिठाया है कि पढ़ते ही मन विभोर हो उठता है। आचार्य मेरुतुङ्ग प्रत्येक पद में जहाँ माधुर्यता लाने के ध्यान में रहे हैं, वहीं उनमें व्यञ्जनासिक्त भावों को भी सन्निहित करने में नहीं चूके हैं। इसी का एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें राजीमती श्रीनेमि के विरक्त हो जाने पर भी उन्हीं के ध्यान में योगिनी के रूप में जीवन व्यतीत कर डालने को कहती है—

क्व ग्रावाणः क्व कनकनगः क्वाक्षकाः क्वामरद्रुः
काचांशाः क्व क्व दिविजमणिः क्वोडवः क्व द्युरत्नम् ।
क्वान्ये भूपाः क्व भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि[2] ।।

अर्थात् कहाँ पत्थर और कहाँ स्वर्णगिरि सुमेरु पर्वत, कहाँ बहेड़ा और कहाँ कल्पवृक्ष, कहाँ काँच के टुकड़े और कहाँ चिन्तामणि, कहाँ तारे और कहाँ भगवान् भास्कर, कहाँ अन्य नृप और कहाँ भुवनगुरु ? अतः मैंने सखियों के ही समक्ष यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं योगिनी की भाँति उन भगवान् के ध्यान में सारा जीवन काट डालूंगी। इस श्लोक में आचार्य मेरुतुङ्ग की रचना-कला का कितना सुन्दर निदर्शन हो रहा है। शब्दों की विशिष्टता के कारण भाव भी व्यञ्जना द्वारा ही प्रतिभासित हो

---

१. जैनमेघदूतम्, १/६ ।
२. वही, ३/५४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे हैं। राजीमती ने भगवान् श्रीनेमि को **मेरुकल्पद्रुमचिन्तामणिसूर्यतुल्य** कहा है। इसी प्रकार व्यञ्जनायुक्त भावों द्वारा आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य के प्रायः प्रत्येक श्लोक को माधुर्य गुण में ही विभूषित किया है।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने माधुर्य गुण से ओत-प्रोत अपने काव्य में शृङ्गारिक वर्णनों का भी भली-प्रकार चित्रण किया है। उनके इन शृङ्गारिक वर्णनों में भी वही सरसता तथा मधुरता मिलती है, जो उनके विरह-वर्णनों में मिलती है। परन्तु माधुर्यगुण से विभूषित होने के कारण काव्य में कुछ क्लिष्ट, अप्रचलित तथा गूढ़ शब्दों के प्रयोग स्वाभाविक ही हैं। इसी का निदर्शन निम्न श्लोक में है—

काचिच्चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां
मालां बालारुणकिशलयैः सर्वसूनैश्च वलृप्ताम्।
नेमेः कण्ठे न्यधित स तया चाद्रभिच्चापयष्ट्या
रेजे स्निग्धच्छविशितितनुः प्रावृषेण्यो यथा त्वम्[1] ॥

अर्थात् किसी कृष्णपत्नी ने—भ्रमर-समूह जिसके परिमल पर मँडरा रहे हैं तथा जो बाल और अरुण किसलयों एवं सभी प्रकार के पुष्पों से गूँथी गई है, ऐसी—माला को श्रीनेमि के कण्ठ में पहना दी। उस माला से वे उसी प्रकार शोभित हुए, जैसे वर्षाकाल में सुन्दर कृष्णकान्ति वाले तुम (मेघ) इन्द्रधनुष से शोभित होते हो। यहाँ पर पदों में कितनी ही क्लिष्टता परिलक्षित हो रही है। इसी प्रकार ही एक अन्य शृङ्गारिक वर्णन प्रस्तुत है—

श्रीखण्डस्य द्रवनवलवैर्नर्मकर्माणि विन्दु-
बिन्दून्न्यासं वपुषि विमले पत्रवल्लीर्लिलेख।
पौष्पापीडं व्यधित च परा वासरे तारतारा-
सारं गर्भस्थितशशधरं व्योम संदर्शयन्ती[2] ॥

अर्थात् एक अन्य हरिवल्लभा ने, जो नर्म-कर्म की पण्डिता थी, चन्दन-रस के नव-नव लवों से श्रीनेमि के विमल शरीर में बिन्दु-विन्यास पूर्वक पत्रवल्ली की रचना की। फिर उनके सिर पर पौष्प-मुकुट रख कर दिन में ही चन्द्र एवं ताराओं से युक्त व्योम को सभी को दिखलाने लगी। यहाँ पर श्रीनेमि का वपु श्याम-वर्ण होने से व्योमतुल्य था, पत्रावली

१. जैनमेघदूतम्, २/१९।
२. वही, २/२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारावत् एवं पौष्पमुकुट चन्द्रवत् था। पदों में कितनी मधुरता विद्यमान है। विरह-वर्णनों की ही भाँति इन शृङ्गारिक वर्णनों के भाव भी व्यञ्जना-प्रधान हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने जहाँ अपने काव्य को माधुर्य गुण द्वारा परिपुष्ट किया है, वहीं ओजगुण का भी यत-किञ्चित् प्रयोग कर उसमें भी अपनी प्रवीणता का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।

ओज गुण सामाजिक हृदय को भड़काने वाला होता है तथा यह वीर रस में अवस्थित रहता है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।[1]

अर्थात् जिसे सामाजिक हृदय का प्रज्ज्वलन या धधक उठना कहा जा सकता है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे चित्त की सारी शीतलता अकस्मात् ही नष्ट हो गयी हो और बदले में चित्त एकदम उद्दीप्त हो उठा हो।

इस ओजगुण के प्रयोग में भी आचार्य मेरुतुङ्ग की निपुणता प्रदर्शित होती है। काव्यनायक श्रीनेमि के भुजबल के परीक्षण का बड़ा ही ओजपूर्ण एवं सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है। श्रीनेमि और श्रीकृष्ण के भुजबल को देखने के लिए नर तो क्या अमर भी एकत्रित हो गये। इसी बात को आचार्य मेरुतुङ्ग ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तराया
व्याप्तानन्ताः परिहृतगवोऽनिर्निमेषाक्षिलक्ष्याः।
मर्त्यामर्त्याः समगमत तौ तत्र चित्रीयमाणा
रोदःखण्डे लघु निशमकाः स्थेयवन्निर्विशेषाः॥[2]

अर्थात् विघ्नभूत रस कला-केलि आदि को त्यागने वाले, आकाश को व्याप्त करने वाले, स्वर्ग का त्याग करने वाले, निमेष-रहित नेत्रों से देखने वाले तथा आश्चर्य प्रकट करने वाले (अमर अर्थात् देवता पक्ष); भोजन, कला, क्रीडा और व्यवसायों को छोड़ने वाले, पृथ्वी को व्याप्त करने वाले, वचनों को बोलने वाले, सनिमेष नेत्रों से देखने वाले तथा आश्चर्य प्रकट करने वाले (नर अर्थात् मानव पक्ष) और शीघ्र ही श्रीनेमि तथा श्रीकृष्ण को देखेंगे ऐसा सोचने वाले, नर और अमर सभ्य पुरुषों की तरह शान्त होकर आकाश तथा पृथ्वी के बीच में एकत्रित हो गये।

---

१. काव्यप्रकाश, ८/६९।

२. जैनमेघदूतम्, १/४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीनेमि द्वारा श्रीकृष्ण की भुजा को हिला दिये जाने पर[1] श्रीकृष्ण सलज्जित होते हुए हँसकर श्री नेमि से बोले—हे बन्धु ! जैसे संसार में काम और अग्नि वसन्त और वायु की सहायता से अजेय हैं, वैसे ही हम भी आपके बल से आज अजेय हुए हैं—

भ्रातः ! स्थाम्ना जगति भवतोऽजय्यमेवासमद्य
प्रद्युम्नाग्नी इव मधुनभःश्वाससाहायकेन ॥[2]

इसी प्रकार ओजगुण का एक स्थान और भी उपस्थित होता है, जब श्रीनेमि शस्त्रागार में शङ्खनाद करते हैं। कवि ने शङ्खनाद से उत्पन्न कई क्रियाओं एवं घटनाओं का ओजगुण से युक्त अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है—

तस्मिन्नीशे धमति जलजं छिन्नमूलद्रुवत्ते
शस्त्राध्यक्षाः सपदि विगलच्चेतनाः पेतुरूर्व्याम् ।
आश्वं चाशु व्यजयत मनो मन्दुराभ्यः प्रणश्य-
न्मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च ॥[3]

अर्थात् उन श्रीनेमि स्वामी के शङ्ख बजाते ही शस्त्रागार के प्रसिद्ध रक्षक तत्काल ही चेतनाशून्य होकर पृथ्वी पर कटे हुए वृक्ष की भाँति गिर पड़े और घुड़सार से तेज भागते हुए घोड़ों ने मन को भी (अपनी तीव्र गति के द्वारा) जीत लिया तथा हाथियों ने हस्तिशाला को (सिंह-गर्जन की भ्रान्ति से) उसी प्रकार छोड़ दिया, जैसे मूर्ख चतुरों की सभा को छोड़ देते हैं। ओजगुण से युक्त ये वर्णन अत्यन्त सजीव प्रतीत होते हैं। ओजगुण से आसिक्त इसी प्रसङ्ग का कवि ने आगे और भी वर्णन किया है कि—"पुरनारियों ने हृदय में हार की तरह मुख में हा-हा शब्दों को धारण किया, सैनिकों के हाथों से अस्त्र फाल्गुन में वृक्षों के पत्तों की तरह गिरने लगे। महलों के शिखर ऐसे गिरने लगे, जैसे पर्वतों से बड़े-बड़े पत्थर गिरते हैं। अति भयाकुल वह रैवतक प्रतिध्वनि के व्याज से पुकारने लगा।[4] शङ्ख के प्रौढ़नाद से राजसभा में—जो ईश्वर करेगा वही होगा, ऐसा मानने वाले—वीर लज्जा के कारण ही स्थिर रह सके,

१. जैनमेघदूतम्, १/४८।
२. वही, १/४९ (उत्तरार्ध)।
३. वही, १/३६।
४. वही, १/३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ-कुछ सशङ्कित होकर सभा के मध्य भाग में बैठे श्रीकृष्ण भी अत्यन्त क्षुभित हो उठे और बहुत क्या कहूँ—नगर के दुर्ग में शङ्खनाद होने पर उस समय "सब वस्तुएँ क्षणिक ही हैं" यह वाक्य सत्य प्रतीत होने लगा।[1]

इस प्रकार आचार्य मेरुतुङ्ग ने काव्य में ओजगुण का भी सफल प्रयोग कर दिखाया है। आचार्य मेरुतुङ्ग के ये प्रयोग कवि की गुणप्रियता को लक्षित करते हैं। माधुर्यगुण की अपेक्षा ओज गुण के अत्यल्प प्रयोग कवि ने प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनके ये अत्यल्प प्रयोग भी बहुत सफल सिद्ध हुए हैं।

आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने काव्य में प्रसाद गुण की अभिव्यक्ति प्रायः नहीं की है। जो स्वाभाविक भी था, क्योंकि माधुर्य गुण से संश्लिष्ट भाषा एवं पदों में वह प्रसादात्मकता का भाव आ भी कैसे सकता है? प्रसाद गुण तो वहीं पर सफलीभूत हो सकता है, जहाँ पर काव्य का भाव सहृदय सामान्यरसिक की आत्मा में उसी प्रकार झटिति व्याप्त हो जाता है, जिस प्रकार सूखे हुए ईंधन में अग्नि और स्वच्छ वस्त्रादि में जल झटिति व्याप्त हो जाता है। जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् काव्य पूर्णतया इसके विपरीत है, वहाँ पर न तो प्रसाद गुण के अनुकूल भाषा है और न भाव ही। काव्य की भाषा समास एवं अलङ्कार-बहुला होने के साथ ही साथ क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों से मण्डित भी है और काव्य में अभिव्यक्त होने वाले भाव पूर्णतया व्यञ्जना पर आधारित हैं। सीधे एवं सरल ढंग से एक भी श्लोक का भाव नहीं स्पष्ट हो पाता है, फिर श्लेष के इतने बीहड़ कपाट कहीं-कहीं लगे हैं कि उनको तोड़कर अन्दर तक पहुँच पाना भी अति दुश्कर ही है एक सामान्यजन के लिए। अतः ऐसी स्थिति में काव्य में प्रसाद गुण की उपस्थिति भला कैसे सम्भव हो सकती थी। पूरे काव्य में माधुर्य गुण ही छाया हुआ है। फिर प्रसाद गुण की क्या बिसात माधुर्य के आगे। इसलिए जैनमेघदूतम् काव्य माधुर्य गुण-युक्त ही कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें प्रसादगुण की स्थिति नहीं है और ओजगुण भी अल्प मात्रा में है।

---

१. जैनमेघदूतम्, १।३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

जैनमेघदूतम् के गुण-सम्बन्धी विवेचन को जब हम कालिदासीय मेघदूत के गुण-तत्त्वों के प्रकाश में देखते हैं तो संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि दोनों ही दूतकाव्य अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। कालिदासीय मेघदूत प्रसाद गुण से युक्त होने के कारण सहृदयसंवेद्य अधिक बन पड़ा है। प्रसादमयी भाषा में रचित होने के कारण यह काव्य सामान्यजन को भी सद्यः एवं सरलतापूर्वक गृहीत हो जाता है। जबकि आचार्य मेरुतुङ्गकृत जैनमेघदूतम् माधुर्य गुण के प्रमुख तत्त्वों से सन्निविष्ट होने के कारण किञ्चित् क्लिष्टमयी भाषा से युक्त बन गया है। अतः यह काव्य कुछ दुरूह अवश्य हो गया है। यही कारण है कि यह काव्य किसी सामान्य-सहृदय को उतनी सरलता से एवं सद्यः-ग्राह्य नहीं हो पाता है, जितनी सरलता से प्रसादगुण से युक्त कालिदासीय मेघदूत सद्यः एवं सरलतापूर्वक ग्राह्य हो जाता है।

कालिदास ने प्रसाद गुण में अपने मेघदूत काव्य को रचकर उसे जन-सामान्य तक पहुँचाने की पूरी-पूरी कोशिश की है, जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग ने मात्र अपनी रचना-कुशलता का ही प्रदर्शन करने के निमित्त अपने जैनमेघदूतम् काव्य को माधुर्य गुण से विभूषित किया है, जिससे उनका जैनमेघदूतम् जनसामान्य के हृदय को छू पाने के बजाय जन-सामान्य के हृदय के पास तक भी बिना कोष की सहायता के नहीं पहुँच पाता है। इस दुर्बोधता का कारण भी यही है कि उन्होंने—काव्य को अति उच्च स्तर का बनाने के लिए—उसमें ऐसे-ऐसे दुर्बोध शब्दों एवं समासों का श्लेषयुक्त भाषा में प्रयोग कर दिया है, जो जन-सामान्य की अपनी बुद्धि से परे हैं। अतः यह काव्य जन-सामान्य के लिए तो दुःसाध्य है ही, साथ ही साथ सहृदय-विज्ञ रसिक को भी कोष पलटने के हेतु मजबूर कर देता है।

माधुर्य गुण में संरचित होने के कारण जैनमेघदूतम् का काव्य-स्तर अवश्य ही किञ्चित् उच्च कहा जा सकता है, परन्तु काव्य-शास्त्रीय-दृष्टि से इसकी माधुर्य गुण की प्रस्तुति पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जैनमेघदूतम् में माधुर्य गुण के समस्त लक्षण एवं विशेषताएँ नहीं परिलक्षित होती हैं। इसमें मात्र क्लिष्ट शब्दों एवं समास-बहुला भाषा का ही निदर्शन मिलता है। इस काव्य का महत्त्व इसी कारण है जो इसमें माधुर्य जैसा सर्वोत्कृष्ट गुण तथा व्याकरण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्ठ पद सन्निहित हैं। हाँ ! इतना अवश्य है कि इससे इस काव्य के कर्ता के व्यक्तित्व का सूक्ष्म निदर्शन अवश्य होता है कि व्याकरणनिष्ठ रचना में कवि पूर्णतया पारङ्गत था। जबकि कालिदास ने सुललित एवं प्रसादमयी भाषा में अपने काव्य को जन-सामान्य के हृदय तक पहुँचाया है। इसी कारण कालिदासीय मेघदूत सुविज्ञ एवं सामान्य सभी वर्गों में बराबर समरूप से ग्रहण किया गया है। इसके विपरीत आचार्य मेरुतुङ्ग-कृत जैनमेघदूतम् मात्र सुविज्ञ पाठकों तक ही सीमित रह गया है।

जैनमेघदूतम् में माधुर्य गुण के अतिरिक्त किञ्चित् अंश में ओज गुण भी प्रवाहित मिलता है। परन्तु काव्य में ओज गुण का उतना महत्त्व नहीं है, जितना माधुर्य गुण का। फिर भी काव्य में ओज गुण का समावेश, यह सूचित करता है कि कवि ने अपने काव्य को एक सीमाक्षेत्र में न बाँधकर उसे एक विस्तृत आकार देने का प्रयत्न किया है।

कालिदासीय मेघदूत की रचना प्रसाद गुण के आधार पर हुई है, क्योंकि यह काव्य करुणरस एवं शृङ्गार के वियोग पक्ष से ही ओत-प्रोत है। अतः ऐसे करुणार्द्र सन्देश तथा विरह के सहारे प्रेमातिशयद्योतक बातों को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद गुण की ही आवश्यकता क्यों होती है, यह कोई कहने की बात नहीं। प्रेम की बात अगर कहते ही समझ न आ जाये, कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से हृदय में तत्काल ही न पहुँच जाये, तो एक प्रकार से प्रेम की यह बात एवं वह कारुणिक सन्देश निष्फल ही है। क्योंकि जिस समय ऐसे प्रेम की बात अथवा कारुणिक सन्देश को किसी के सामने कहा जाता है, उस समय वह व्यक्ति उस प्रेमालाप को सुनने हेतु कोई कोश आदि लेकर नहीं बैठा होता है और न तो ऐसा करुण-आलाप एवं कारुणिक सन्देश कहने वाला व्यक्ति ही उस समय अपनी उन कारुणिक विरहपूर्ण उक्तियों को व्यंग्यता, सुन्दरता आदि से समलङ्कृत करने की कोशिश में रहता है।

समाज में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सरल एवं सहज-ग्राह्य विषय की ओर ही प्रायः सभी वर्ग के पाठक आकृष्ट होते हैं, जबकि क्लिष्ट एवम् व्याकरणनिष्ठ भाषा वाले काव्य मात्र सुविज्ञ पाठकों को ही अपनी ओर आकर्षित कर पाते हैं। पूरी की पूरी यही बात कालिदास के मेघदूत और आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् के बारे में है। अपनी प्रसादमयी सुललित एवं सरल भाषा के कारण ही कालिदास का मेघदूत जन-सामान्य को भी उसी रूप में आकृष्ट करता है, जिस रूप में सुविज्ञ पाठकों को। परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् अपनी क्लिष्ट, व्याकरणनिष्ठ, समास-बहुला भाषा द्वारा मात्र सुविज्ञ पाठकों को ही आकर्षित कर पाता है, क्योंकि सामान्य पाठक के बस की ही उसकी भाषा नहीं है। काव्य के प्रतिपद श्लेषादि के दुर्भेद्य कपाट बिना कोश की सहायता से हिलते भर नहीं हैं, खुलने की तो बात ही अलग है।

अतः माधुर्य जैसे उत्कृष्ट गुण में निबद्ध होकर भी आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् उतनी अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सका है, जितनी अधिक सफलता प्रसाद जैसे अति निम्न गुण में सन्निहित कालिदास के मेघदूत ने प्राप्त कर ली है। यही कारण है कि कालिदास का मेघदूत सामान्य जन-मानस को भी सम्यक् आह्लादित कर पाता है, जबकि आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् मात्र कुछ सुविज्ञ जन-मानस को ही आह्लादित कर पाता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनमेघदूतम् में छन्द-विमर्श

छन्द : सामान्य परिचय :

लौकिक छन्दःशास्त्र का सर्वप्रथम स्पष्ट विवरण आचार्य पिङ्गल ने अपने 'पिङ्गलछन्दःसूत्रम्' में दिया है। वैसे इनके इस ग्रन्थ में कुछ प्राचीन आचार्यों के लौकिक छन्दों से सम्बन्धित मत भी उल्लिखित मिलते हैं[1], अतः इस उल्लेख के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लौकिक छन्दों का आविर्भाव पिङ्गलाचार्य से भी अति प्राचीन है। फिर भी लौकिक छन्द-ग्रन्थों में आचार्य पिङ्गल का 'पिङ्गलछन्दःसूत्रम्' ही सर्वप्राचीन समुपलब्ध होने के कारण आचार्य पिङ्गल ही छन्दःशास्त्र के प्रणेता कहे जाते हैं और फिर "यशः पुण्यैरवाप्यते" के अनुसार उन्हें छन्दःशास्त्र का जन्मदाता कहा भी जाना चाहिए। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि पिङ्गल मुनि का छन्दः-शास्त्र पर इतना अधिक अधिकार हो गया था कि पिङ्गल और छन्दःशास्त्र यह दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द बन गये और "छन्द पढ़ते हैं"—यह कहने के लिए "पिङ्गल पढ़ते हैं" कहा जाने लगा। आचार्य पिङ्गल ने अपने इस तीन सौ आठ सूत्रों की स्वल्पकाय अष्टाध्यायी 'पिङ्गल छन्दःशास्त्रसूत्रम्' के चतुर्थ अध्याय के सात सूत्रों तक वैदिक छन्दों का तथा शेष अध्यायों में लौकिक छन्दों का वर्णन किया है।

लौकिक छन्दःशास्त्र में अनेक वर्णिक छन्द मिलते हैं, परन्तु उन सभी छन्दों का उल्लेख कर पाना यहाँ पर विषय-वृद्धि की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता है। परन्तु सामान्य रूप से इतना तो अवश्य ही कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य की अधिकांश रचना प्राचीनतम साहित्यसहित पद्यों में ही हुई है। इसके उदाहरण वेदों में देखे जा सकते हैं। प्राचीनतम लौकिक साहित्य के आदिग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में तेरह छन्दों का प्रयोग मिलता है। इसी तरह महाभारत अट्ठारह और आगे बढ़कर

---

१. पिङ्गलछन्दःसूत्रम्—सर्वतः सैतवस्य, ५/१८; सिंहोन्नता काश्यपस्य, उद्धर्षिणी सैतवस्य, ७/९–१०; अन्यत्र रातमाण्डव्याभ्याम्, ७/३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद्भागवत में छन्दों की यह संख्या पच्चीस तक पहुँच गयी है। इसके अनन्तर के काव्यों में पचासों प्रकार के छन्द प्रयुक्त किये गये हैं।

छन्दों की संख्या के सम्बन्ध में भी विविध विवेचन हुए हैं। लौकिक छन्दों में 'वृत्तरत्नाकर' ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें एक सौ चौरासी लौकिक छन्दों का वर्णन है। कालिदास के छन्दोविषयक ग्रन्थ 'श्रुतबोध' के आधार पर इन लौकिक छन्दों की संख्या चालीस मिलती है। इन छन्दों की वास्तविक संख्या के विषय में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। प्रायः काव्यों और महाकाव्यों में विशेष रूप से 'श्रुतबोध' में निर्देशित उपर्युक्त चालीस लौकिक छन्द ही प्रयुक्त मिलते हैं। इस आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सर्वमान्य रूप से इन छन्दों की संख्या कम से कम ४० तो है ही।

जैनमेघदूतम् में छन्द :

इन्हीं छन्दों में से एक छन्द है—मन्दाक्रान्ता। इसी मन्दाक्रान्ता छन्द का जैनमेघदूतम् में प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ छन्दोविषयक विवेचन की गहराई में न जाकर मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण, स्वरूप आदि स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

मन्दाक्रान्ता का स्वरूप :

छन्दःशास्त्र के आद्यग्रन्थ पिङ्गलछन्दःसूत्रम् में मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ त्गौ ग् समुद्रर्त्तुस्वराः।[1]

आचार्य भरत ने मन्दाक्रान्ता को "श्रीधरा" नाम से सम्बोधित करते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

चत्वर्यादौ च दशमं गुरूण्यथ त्रयोदशम्।
चतुर्दशं तथा पञ्च एकादशमथापि च॥
यदा सप्तदशे पादे शेषाणि च लघून्यपि।
भवन्ति यस्मिन्सा ज्ञेया श्रीधरा नामतो यथा॥[2]

केदारभट्ट ने मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

---

१. पिङ्गलछन्दःसूत्रम्, ७/१९।

२. नाट्यशास्त्र, १५/७६, ७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्मौ नतौ ताद् गुरू चेत् ।[1]

हेमचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ में मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मो भ्नौ तौ गौ मन्दाक्रान्ता घचैः ।[2]

सुवृत्ततिलक में कविक्षेमेन्द्र ने मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण देते हुए लिखा है कि सप्तदश अक्षरों वाले इस वृत्त में चार, छः एवं सात अक्षरों पर विरति होती है—

चतुःषट्सप्तविरतिवृत्तं सप्तदशाक्षरम् ।
मन्दाक्रान्ता मभनतैस्तगगैश्चाभिधीयते ॥[3]

गंगादास ने अपनी छन्दोमञ्जरी में मन्दाक्रान्ता का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मन्दाक्रान्ताम्बुद्धिरसनगैमो भनौ तौ गयुग्मम् ।[4]

वृत्तवार्तिककार रामपाणिवाद ने मन्दाक्रान्ता छन्द को इस प्रकार निरूपित किया है—

उपायैश्च नयैरश्वैर्विरामो यत्र विद्यते ।
मन्दाक्रान्ता तु सा ज्ञेया मभौ नततगा गुरुः ॥[5]

भट्टचन्द्रशेखर ने वृत्तमौक्तिक में मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार विश्लेषित किया है—

कर्णौ पुष्पद्वितयसहितौ गन्धवद्धस्तयुक्ता
हारं रूपं तदनु वलयं स्वर्णसञ्जातशोभम् ।
संबिभ्राणा विरुतललितौ नूपुरौ वा पदान्ते
मन्दाक्रान्ता जयति निगमैश्छेदयुक्ता रसैश्च ॥[6]

इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने छन्दोविषयक ग्रन्थ श्रुतबोध में मन्दाक्रान्ता का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "हे सुभगे ! जिसमें पहले चार अक्षर गुरु हों, तदनन्तर हे मुग्धे ! बारहवें और ग्यारहवें दो अक्षर गुरु हों, पुनः हे कुमुदवासिनि ! तेरहवाँ और चौदहवाँ

१. वृत्तरत्नाकर, ३/९४ ।
२. छन्दोनुशासनम्, २/२९० ।
३. सुवृत्ततिलक, १/३५ ।
४. छन्दोमञ्जरी, २/१७/४ ।
५. वृत्तवार्तिक, समवृत्त प्रकरण, ३६ ।
६. वृत्तमौक्तिक, २०/४२२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये दो अक्षर गुरु हों तथा हे कान्ता ! अन्त्य के दो अक्षर भी गुरु हों और चार, छः तथा सात-सात वर्णों पर विराम हों, हे तन्वङ्गि ! श्रेष्ठ कवीश्वर उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं—

चत्वारः प्राक्सुतनु गुरवो द्वादशैकादशौ चे-
न्मुग्धे वर्णौ तदनु कुमुदामोदिनि द्वादशान्त्यौ ।
तद्वच्चान्त्यौ युगरसहयैर्यत्र कान्ते विरामो
मन्दाक्रान्तां प्रवरकवयस्तन्वि तां संगिरन्ते ॥[1]

इस प्रकार छन्दःशास्त्र विषयक उपर्युक्त विविध ग्रन्थों के आधार पर मन्दाक्रान्ता छन्द का जो रूप प्रतिबिम्बित होता है, वह यही कि मन्दाक्रान्ता छन्द सत्रह अक्षरों से युक्त होता है अर्थात् मन्दाक्रान्ता छन्द के चारों चरणों में १७-१७ अक्षर होते हैं। उनमें से प्रथम, चार, दस, ग्यारह, तेरह, चौदह, सोलह एवं सत्रहवाँ अक्षर गुरु तथा शेष अक्षर लघु होते हैं। गणों के आधार पर इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि इसमें एक मगण, एक भगण, एक नगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं—

मगण भगण नगण तगण तगण गुरु
[ऽऽऽ ऽ।। ।।। ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ]

मन्दाक्रान्ता छन्द के उपस्थिति-स्थान का विवेचन करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि वर्षा और प्रवास के प्रकरण में मन्दाक्रान्ता विराजती है—

प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ।[2]

इसी प्रकार केदारभट्ट ने मन्दाक्रान्ता को मृदु-मृदु चरणों से क्रीड़ा करती हुई, मुग्ध एवं स्निग्ध मन्थर गति वाली कविता-कामिनी कहा है—

नानाश्लेषप्रकरणरणा चारुवर्णोज्ज्वलाङ्गी
नानाभावाकलितरसिकश्रेणिकान्ताऽन्तरङ्गा ।
मुग्धस्निग्धैर्मृदुमृदुपदैः क्रीडमाना पुरस्ता-
न्मन्दाक्रान्ता भवति कविताकामिनी कौतुकाय ॥[3]

कालिदासीय मेघदूत में निबद्ध मन्दाक्रान्ता का महत्त्व व उसकी ख्याति को ध्यानावस्थित कर अन्य अनेक कवियों ने भी इसी मन्दाक्रान्ता

---

१. श्रुतबोध, १८ ।
२. सुवृत्ततिलक, ३/२१ ।
३. वृत्तरत्नाकर, ३/९७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्द को ही लेकर अपने काव्यों की रचना की है। उन्हीं कवियों में जैन-मेघदूतम् काव्य के रचनाकार आचार्य मेरुतुङ्ग भी हैं। इन्होंने भी कालिदास के मेघदूत को आधार मानकर अपनी एक स्वतन्त्र जैन कथा को मन्दाक्रान्ता छन्द में सुव्यवस्थित रूप से निबद्ध किया है। कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा मन्दाक्रान्ता को कालिदासीय मेघदूत की मन्दाक्रान्ता की भाँति ही अत्यन्त उत्कृष्टतम बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। इसके साथ ही काव्यकार मेरुतुङ्ग ने मन्दाक्रान्ता छन्द की मधुरता और गम्भीरता का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है। श्लोकों के भावों को कवि ने उतनी ही गति दी है, जितनी गति मन्दाक्रान्ता छन्द के प्रवहण के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन्दाक्रान्ता छन्द के मुख्य लक्षणों के आधार पर भी काव्य का प्रत्येक श्लोक विशुद्ध सिद्ध होता है। इसी बात के निदर्शनार्थ जैनमेघदूतम् का प्रारम्भिक श्लोक प्रस्तुत किया जा रहा है—

मगण	भगण	नगण	तगण	तगण	गुरु
ऽऽऽ	ऽ।।	।।।	ऽऽ।	ऽऽ।	ऽऽ
कश्चित्का—	न्तामवि—	षयसु—	खानीच्छु—	रत्यन्त—	धीमा
ऽऽऽ	ऽ।।	।।।ऽ	ऽ।	ऽऽ।	ऽऽ
नेनोवृ —	त्तिंत्रिभु —	वनगु—	रुस्वैर—	मुज्झाञ्च—	कार।
ऽऽऽ	ऽ।।	।।।	ऽऽ।	ऽऽ।	ऽऽ
दानंदत्त —	वासुर —	तरुरि—	वात्पुच्च—	धामारु—	रुक्षुः
ऽऽऽ	ऽ।।	।।।	ऽऽ।	ऽऽ।	ऽऽ
पुष्यंपृ —	थ्वीधर —	वरम—	थोरैव—	तंस्वीच—	कार ॥[1]

इस श्लोक में प्रत्येक चरण १७ अक्षरों का है, जिसमें पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ, सोलहवाँ एवं सत्रहवाँ वर्ण गुरु है, शेष वर्ण लघु हैं। यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ। । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽऽ

क श्चि त्का—न्ता म वि—ष य सु—खा नी च्छु—र त्य न्त—धी मान्

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७

इसके साथ ही क्रमशः चार, छः एवं सातवें वर्ण पर विराम भी परिलक्षित होता है—

कश्चित्कान्ताम्,	अविषयसुखान्,	इच्छुरत्यन्तधीमान्,
४	६	७

१. जैनमेघदूतम्, १/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार जैनमेघदूतम् काव्य के समस्त श्लोक मन्दाक्रान्ता के सुस्पष्ट साँचे में ढले हुए मिलते हैं, जो अनायास ही किसी भी सहृदय रसिक को अपना रसास्वादन कराने में पूर्ण सक्षम हैं।

छन्द-समीक्षण (कालिदासीय मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में) :

महाकवि कालिदास एवं आचार्य मेरुतुङ्ग दोनों कवियों ने अपने-अपने दूतकाव्यों को मन्दाक्रान्ता छन्द में ही निबद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता कि मन्दाक्रान्ता छन्द अवश्य ही कुछ विशेषतायुक्त होगा और है भी ऐसा ही, क्योंकि मन्दाक्रान्ता का प्रयोग विशेषकर प्रवास, विपत्ति तथा वर्षा के वर्णन में किया जाता है और प्रस्तुत दोनों दूतकाव्यों का प्रारम्भ भी प्रायः कुछ ऐसे ही वातावरण में होता है। अतः दोनों ही दूतकाव्यों को मन्दाक्रान्ता छन्द में रचना उपयुक्त ही सिद्ध होती है।

वर्षा में मेघ के आगमन से साधारण प्रवासी का पथ भी आर्द्र हो जाता है और उसकी गति मन्थर हो जाती है। इसी आधार पर दोनों ही कवियों ने अपनी प्रसन्नमधुरा वाणी को मन्दाक्रान्ता की झूमती चाल प्रदान कर वह अलौकिक रसधारा प्रवाहित की है, जिसमें अद्यावधि काव्य-रसिक डूबते-उतराते चले आ रहे हैं। दोनों ही कवियों की मन्दाक्रान्ता-प्रस्तुति सराहनीय है। कालिदास का मन्दाक्रान्ता छन्द पर इतना अधिकार देखकर ही क्षेमेन्द्र ने कहा है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।[1]

कालिदास के छन्द-प्रयोग पर विशेष रूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जैसे उसने अपने काव्य के द्वारा रसों में छन्दोयोजना की गम्भीर शिक्षा दी है और कुछ विशेष छन्दों को कुछ विशेष भावों एवं रसों के उपयुक्त समझा है। इस विश्लेषण में मन्दाक्रान्ता का प्रयोग प्रवास, विपत्ति एवं वर्षा के वर्णन में उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी आधार पर कालिदास ने विरह, प्रवास, वर्षा, करुणा, शोक आदि भावों से युक्त मेघदूत काव्य के लिए मन्दाक्रान्ता वृत्त का चयन किया है। कालान्तर में प्रायः समस्त दूतकाव्यों में इस वृत्त का अनुकरण किया जाने लगा। प्रकृत प्रबन्ध का नायक यक्ष विरह से अति कातर है, शोक और दुःख के कारण उसकी समस्त क्रियाशक्ति अति मन्द पड़ गयी है। इसी कारण वह विहाग

---

१. सुवृत्ततिलक, ३/३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान करुण और मर्मस्पर्शी स्वर में मन्दाक्रान्ता छन्द में रुक-रुक कर कान्ता के पास भेजने का सन्देश मेघ को बता रहा है। हृदय के भावों के साथ छन्द का अपूर्व साहचर्य हो गया है और काव्य की ध्वनि, रीति एवं छन्द यक्ष के करुणकण्ठ में मिश्रित हो गये हैं, जिससे एक अपूर्व काव्य-सृष्टि सम्पन्न हो गयी है।

आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् की नायिका राजीमती अत्यन्त शोक से पीड़ित है। शोक, विषाद एवं दुःख के कारण वह अतिदीन हो गयी है, उसकी क्रियाशक्ति भी अति मन्द सी है—मूर्च्छावस्था के कारण। इसी से वह मन्द स्वर में धीरे-धीरे रुक-रुक कर अपने सन्देश को मन्दाक्रान्ता छन्द में ही निबद्ध कर मेघ से निवेदित करती है। हृदय से उद्भूत उसके वे भाव मन्दाक्रान्ता वृत्त की मन्थरवत् मन्द गति से निकल-निकल कर अपूर्व मनोहारिता प्रसारित करते हैं। फिर भी आचार्य मेरुतुङ्ग की मन्दाक्रान्ता की मनोहारिता उस स्तर को प्राप्त नहीं कर पायी है जिस स्तर पर कालिदास की मन्दाक्रान्ता की मनोहारिता मिलती है। कारण, आचार्य मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूतम् में क्लिष्टतम शब्दों से सम्बन्धित दुरूह भाषा जो सन्निहित है। तथापि जैनमेघदूतम् के मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध श्लोकों में पर्याप्त श्रुतिमधुरता, मन्थरता और गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैनमेघदूतम् की मन्दाक्रान्ता भी उतनी ही सशक्त एवं जीवन्त है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

भारतीय साहित्यिक दृष्टि कवि को क्रान्तदर्शी स्वीकार करती आयी है अर्थात् वह उसे उस सूक्ष्मगामिनी प्रतिभा से समन्वित मानती आयी है, जो पार्थिव क्रिया-कलापों का उच्छेदन कर उसके आन्तरिक सत्यों का उद्घाटन करती है, विभिन्न रूपात्मक बाह्य जगत् की वास्तविकताओं से अतीत स्वप्न का साक्षात्कार करती है एवं दूसरों को भी उसके मानसी दर्शन कराती है।

आदिकवि ऐसे ही क्रान्तदर्शी कवि थे, जिन्होंने सुख-दुःखापूर्ण इस पार्थिव-जीवन के परिप्रेक्ष्य में इसी आनन्द का साक्षात्कार किया था—

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।

संसारी जीवन के सन्दर्भ में यह आनन्द, प्रेम एवं करुणा का स्वरूप ग्रहण करता है और इस करुणा से ही काव्य का प्रादुर्भाव हुआ था। जैन-मेघदूतम् की सुप्रसिद्ध कथा का यही आभ्यन्तरिक रहस्य है। आचार्य मेरुतुङ्ग सर्वथा एक भिन्न युग की ही प्रसूति हैं, फिर भी उनका जैन-मेघदूतम् अपनी वर्ण्य-वस्तु के प्रसङ्ग में जैनागम ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र के रथनेमीय नामक बाईसवें अध्ययन से काफी प्रभावित मिलता है।

वैसे यदि देखा जाय तो प्रस्तुत काव्य अपने स्वरूप-विधान के क्षेत्र में सर्वथा भिन्न एवं नवीन है। वैसे जैनमेघदूतम् अपने संरचना-प्रारूप द्वारा एक खण्डकाव्य के रूप में न मिलकर महाकाव्य के रूप में परिलक्षित होता है। साहित्यदर्पणकार ने खण्डकाव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशाऽनुसारि च।

महाकाव्य के एक भाग का अनुसरण करने वाले काव्य को खण्डकाव्य कहते हैं अर्थात् इसमें समूचा चरित्र-वर्णन न होकर मात्र उसके एक भाग का ही वर्णन होता है। जबकि जैनमेघदूतम् इस कसौटी पर चढ़ ही नहीं पाता है। कारण यह है कि उसके बहुत कुछ लक्षण महाकाव्य से संगति स्थापित करते मिलते हैं, क्योंकि साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य का लक्षण दिया है कि महाकाव्य में आठ से अधिक सर्ग होते हैं, काव्य-नायक कोई देवता या धीरोदात्त गुणसम्पन्न कुलीन क्षत्रिय होता है। उसी के चरित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सविस्तार वर्णन होता है। शृङ्गार, वीर, शान्त आदि रस होते हैं जिनमें एक प्रधान अंगी रस तथा अन्य सभी अंग रस होते हैं। प्रभात, सन्ध्या, मध्याह्न एवं षड् ऋतुओं का वर्णन होता है। महाकाव्य की इस कसौटी पर जैनमेघदूतम् पूर्णतया तो खरा नहीं उतरता है, परन्तु फिर भी अधिकांश लक्षण महाकाव्य के लक्षणों से संगति रखते मिलते हैं।

हम देखते हैं कि जैनमेघदूतम् काव्य का नायक धीरोदात्त कुलीन तो है परन्तु क्षत्रिय नहीं। जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकर के रूप में उसकी मान्यता प्रचलित है। ये तीर्थंकर जैनधर्म में देवतुल्य ही पूज्य हैं। अतः काव्य-नायक को कुलीन क्षत्रिय के रूप में तो नहीं, परन्तु देवता के रूप में अवश्य रख सकते हैं। इस प्रकार महाकाव्य के इस लक्षण की पूर्ति यह काव्य अवश्य कर लेता है। काव्य में नायक श्रीनेमि के चरित्र का ही विस्तृत वर्णन है। रस भी वे सभी हैं जो महाकाव्य हेतु अपेक्षित होते हैं। शान्त रस अंगी रस के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अन्य शृङ्गार, वीर आदि रस अंग रस के रूप में हैं।

काव्य में प्रातः, मध्याह्न एवं सन्ध्या के वर्णन के साथ ही वर्षा एवं ग्रीष्म आदि ऋतुओं का भी विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन हुआ है। मात्र वैभिन्न्य है तो काव्य-सर्गों में। इस काव्य में मात्र चार सर्ग हैं, जबकि महाकाव्य के लिए आठ सर्ग आवश्यक कहे गये हैं। इस आधार पर जैन-मेघदूतम् को महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रख सकते हैं, इसी के साथ ही मुख्य रूप से दौत्य-कर्म-सम्पादन एवं काव्य का नाम उसे पूर्णतया दूत-काव्य (खण्डकाव्य) की श्रेणी में ही रख देता है। ये दूतकाव्य खण्डकाव्य के ही रूप हैं। कालिदास के मेघदूत के समान इसका भी नामकरण 'मेघदूत' ही होने के कारण तथा कालिदासीय मेघदूत के साथ बहुत कुछ साम्यता होने के कारण इस काव्य को भी विद्वानों ने दूतकाव्य ही स्वीकार किया है, महाकाव्य नहीं।

अतः पूर्व का प्रस्तुत साहित्यिक अध्ययन जैनमेघदूतम् को एक दूत-काव्य के रूप में स्वीकृत करके ही अपनी बुद्धि, विश्वास एवं विवेक के अनुसार किया गया है। इस कार्य में सर्वप्रथम दूतकाव्य के उद्भव एवं विकास तथा ऐतिहासिक प्राचीनतम ग्रन्थों में उसका उत्स-खोजने का प्रयास किया गया है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हो न हो दूतकाव्य का प्रारम्भिक स्रोत आदि कवि की रामायण में से ही प्राप्त हुआ है। सीता के प्रति भेजा गया राम का वह सन्देश-प्रसङ्ग—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें राम हनुमान को दूत रूप में नियुक्त कर सीता के पास भेजते हैं— दूतकाव्य का प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। दूतकाव्य-परम्परा के प्रणेता महाकवि कालिदास ने इसी प्रसङ्ग को लक्ष्य कर दूतकाव्य के प्रारूप को रचा और तबसे अद्यतन दूतकाव्य की एक विस्तृत परम्परा ही चल पड़ी। इसी क्रम में आचार्य मेरुतुङ्ग का जैनमेघदूतम् भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हालाँकि यह काव्य कालिदास के मेघदूत के कई शताब्दी बाद रचा गया है, फिर भी अपनी विशिष्ट काव्यात्मकता एवं सौन्दर्याभिव्यक्ति को लेकर यह दूतकाव्य-परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित करने में पूर्ण सक्षम सिद्ध होता है।

आचार्य मेरुतुङ्ग के पूर्ण परिचय के आधार पर हम कह सकते हैं कि वे पन्द्रहवीं शताब्दी के जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अचलगच्छ के प्रमुख आचार्य एवं सर्वमान्य कवि थे। जिन्होंने लगभग छत्तीस ग्रन्थों का प्रणयन किया था। काव्य में नायिका राजीमती मेघ को दूत के रूप में नियुक्तकर उसके द्वारा अपने प्रियतम श्रीनेमि के पास अपना प्रणय-सन्देश सम्प्रेषित करती है।

काव्य की रस-सम्बन्धी मान्यता के प्रति जहाँ तक कहा जा सकता है वह यह कि जैनमेघदूतम् में शृङ्गार रस के उभय पक्ष सहित शान्त रस ही संयम, सदाचार की स्थापना करते हुए परमार्थतत्त्व को निरूपित करता हुआ मिलता है। साथ ही जैनमेघदूतम् काव्यध्वनि से भी आकण्ठ-पूरित दृष्टिगोचर होता है।

अलङ्कार-सम्बन्धी विवेचन के सन्दर्भ में हम विशेष यह कह सकते हैं कि आचार्य मेरुतुङ्ग ने लगभग पैंतालीस अलङ्कारों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। परन्तु उनको इन अलङ्कारों के प्रस्तुतीकरण में सर्वाधिक सफलता श्लेष अलङ्कार के प्रयोग में ही मिली है। उनके श्लेष अलङ्कार के प्रयोग वास्तव में अधिक हृदयावर्जक सिद्ध हुए हैं।

माधुर्य ऐसे उत्कृष्टतम गुण में निबद्ध होकर भी जैनमेघदूतम् सामान्य रसिक को रसास्वादन करा पाने में समर्थ नहीं हो पाया है। वह अपनी विलष्ट-पदावली के कारण मात्र सुविज्ञ पाठकों को ही रसानुभूति करा पाने में समर्थ है।

यह मैं जानता हूँ कि काव्य-दोष के प्रसङ्ग में श्रेणी-विशेष के सुविज्ञ पाठकों को विशेष प्रसन्नता नहीं होगी, क्योंकि हो सकता है हमने जहाँ पर जिसे दोष समझा है शायद वह स्थल मुझे भलीप्रकार गहराई तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं समझ में आ सका हो। यदि इस विषय में मेरा कोई कथन अमूलक हुआ हो, तो वह मेरा भ्रम ही हो सकता है, धृष्टता नहीं। जहाँ तक मेरी धारणा है समालोचना, नाम से मोहित होकर यह निश्चय कर बैठती है कि मैं केवल प्रशंसा ही करूँगी और जहाँ पर अर्धशून्य रचना प्रतीत होगी वहाँ समालोचना नहीं उसकी आध्यात्मिकता को प्रकट करूँगी। परन्तु इसको समालोचना न कहकर स्तुतिवाद ही कहा जा सकता है। किसी भी महाकवि के प्रति असम्मान तो अवश्य धृष्टता है, परन्तु अपनी युक्ति और विवेचना शक्ति को समालोच्य व्यक्ति की गुलामी में लगाना तो बौद्धिक-वेश्यावृत्ति ही हुई।

दोष दोनों ही काव्यों में हैं, परन्तु इससे काव्यों की गरिमा किंचिदपि नहीं घटी है। इस विषय में कालिदास का ही कथन है—

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांक।"

अतः मनुष्य की रचना एकदम दूध-धोई (बिलकुल निर्दोष) तो हो ही नहीं सकती और फिर जिस काव्य में अधिकांशतः गुण ही गुण हैं, उसमें एकाध छुट-पुट दोष उसके उत्कर्ष में किसी प्रकार का व्यवधान कर भी नहीं सकते हैं। छन्द-प्रयोग विधि में जितनी सफलता कालिदास को प्राप्त हुई है उतनी मेरुतुङ्ग को नहीं। कालिदास के छन्द में एक कमनीयता, प्रतिक्षण नूतनता परिलक्षित मिलती है जो मेरुतुङ्ग के छन्द में अदृष्ट ही है। इन्हीं अनेकशः विशेषताओं के कारण ही कालिदास का मेघदूत प्रसाद गुण द्वारा अभिषिक्त होते हुए भी अपने काव्यात्मक रस का आस्वादन कराने में तत्पर दृष्टिगत होता है, परन्तु मेरुतुङ्ग का जैन मेघदूत अपने काव्यात्मक रसास्वादन में उतना रस नहीं लेता प्रतीत होता है। जैन-मेघदूत के काव्यकार यदि कहीं सक्रिय मिलते हैं तो मात्र नवीन, गूढ़ एवं क्लिष्ट शब्दों तथा व्याकरणात्मक अलंकरणों द्वारा अपने काव्य को सँवारने में, सजाने में।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दोनों ही काव्य अपने-अपने ढङ्ग में निराले हैं। कालिदास के विषय में यह इतना अवश्य ही विशेष कहा जा सकता है कि उनकी इस विश्वजनीन प्रतिभाका प्रधान लक्षण यह है कि हजार वर्ष पूर्व उन्होंने जो लिखा, वह आज भी पर्वत सदृश अटल भाव से वैसे ही गर्व के साथ खड़ा है। कालिदास के बहुत समय पश्चात् मेरुतुंग ने अपने काव्य को कुछ अपनी ही शैली में रचा है। अतः स्वाभाविक ही था कि दोनों काव्यों में देशकालगत एवं विचारों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारस्परिक भिन्नता अवश्य होती और वही हुआ भी है। इसी कारण इन दोनों काव्यों की पारस्परिक-तुलना ठीक तरह से की ही नहीं जा सकती है। कारण अनेक हैं इसके, कुछ अर्थों में मेघदूत एवं जैनमेघदूत में पारस्परिक ताल-मेल नहीं बैठता। फिर भी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार दोनों ही एक-दूसरे से कम नहीं कहे जा सकते हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कल्पना के कोमलत्व में, प्रेम की पवित्रता में, विश्वास की महिमा में, भाषा की सरलता में तथा लालित्य में यदि कालिदास का मेघदूत श्रेष्ठ है तो घटनाओं की विचित्रता में, भाव की तरंगक्रीडा में, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में एवं भाषा के गाम्भीर्य में मेरुतुंग का जैन-मेघदूत श्रेष्ठ है। दोनों ही काव्य एक-दूसरे के सहयोगी हैं, न कि परस्पर प्रतिद्वन्द्वी।

इसी को इस भाँति भी व्यक्त कर सकते हैं कि मेघदूत यदि शरद्-ऋतु की स्वच्छ निर्मल चाँदनी है तो जैनमेघदूत नक्षत्र-खचित नील गगन; एक नृत्य है तो दूसरा अश्रु; एक वसन्त है तो दूसरा वर्षा और एक उपभोग है तो दूसरा पूजा।

धन्य कालिदास ! धन्य मेरुतुङ्ग।

इति शम्

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्रीः ॥

श्रीमहीमेरुगणि कृता बालावबोधवृत्तिः

शस्तानन्तमहोदयाप्तिविततोवानेयागप्रियः,
सद्ब्रह्माचरणप्रभूतमहिमा निःशेष शाम्यद्रजाः ।
विश्वेसंवर भासरोजनमनः प्रीतिप्रदानप्रभुः,
श्रीनेमिर्भविनां तनोतु घनवत् शस्यश्रियं सर्वदा ॥१॥

सूत्रव्याकरणादिशास्त्रकरणाद् वृह्यन्ति ये नित्यशः,
सम्यग् ये पुरुषोत्तमन्ति च गुणश्रेणिश्रितत्त्वादिह ।
साध्वैश्वर्यमहाव्रतास्येदतयै च ईश्वरन्ति स्फुटं,
ये विश्वे सुचिरं जयन्तु दुखः श्रीमेरुतुङ्गाभिधाः ॥२॥

श्रीमद्-अचलगच्छेश-मेरुतुङ्गाख्य-सूरिभिः ।
कृतस्य मेघदूतस्य महाकाव्यस्य सन्मतेः ॥३॥

व्यासं विहाय सङ्क्षेपात् सद्गुरुणां प्रसादतः ।
मया वृत्तिर्विधीयेत शब्दमात्रार्थवाचिका ॥४॥

प्रथम सर्ग

तस्य च आद्यम् इदं पद्यम्—

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा–
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्त्वासुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार ॥१॥

कश्चित्कान्तेत्यादि ० कश्चित् लक्ष्य स्वरूपो भगवान् **स्वैरं** स्वेच्छया न तु परोपदेशेन **कान्तां** पत्नीम् **उज्झाञ्चकार** तत्याज । किंरूपो भगवान्—**अविषय-सुखानीच्छुः** विषय-रहित सुखानि-वाञ्छन्, तथा **अत्यन्तधीमान्** अतिशयेन बुद्धि-मान्, तथा **त्रिभुवनगुरुः** धर्माधर्म-कथकः । किंरूपां कान्ताम्—**एनोवृत्तिम्** एनसः पापस्य वृत्तिः एनोवृत्तिः ताम्, अथवा एनोरूपा वृत्तिः व्यापारो यस्याः सकाशात् सा ताम् । अथ कान्ता-त्यागानन्तरम्—**सुरतरुरिव** कल्प-वृक्ष इव **दानं दत्त्वा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्युच्चधामारुरुक्षुः सन् अतिशयेन उच्चम् अत्युच्चं धामं मोक्ष-लक्षणं-गृहं तत् आरुरुक्षुः आरोढुम्-इच्छन् । **रैवतं** रैवतक-नामानं-गिरिं **स्वीचकार** अंगीचकार । किंरूपं रैवतम्—**पुण्यं** पवित्रं हिंस्र-जीव-अभावात् । पुनः किंरूपम्—**पृथ्वीधरवरं** पृथ्वीधराणां मेरु-मानुष-उत्तराणां मध्ये वरः श्रेष्ठः पृथ्वी-धर-वरः, सञ्जात बहु-कल्याणकरत्वात् । अन्योऽपि-उच्च-स्थानम्-आरोढुम्-इच्छन् निःश्रेणि-आदि अंगी-करोति; अथ श्लेष-अर्थः ।

अन्यो—अपि-अत्यन्त-धीमान् कः स्वैरम् आत्मा एनोवृत्तिं त्यजति । किंरूपाम् एनोवृत्तिम्—**चित्कान्तां** चित्-ज्ञानं कं-सौख्यं तयोः-अन्तो विनाशो यस्याः सा ताम्, सा-अपि दानं दत्त्वा पुण्यं स्वीकरोति । किंरूपं पुण्यम्—पृथ्वीधरेषु शेष-कूर्म-आदिषु **वरं** श्रेष्ठम् । पुण्याधारत्वात्-तेषाम् ॥१॥

तीनों लोकों के उपदेशक तथा अत्यन्त बुद्धिमान् किसी (श्रीनेमि-नाथ) ने, चिदानन्द को पाने की इच्छा से सभी पाप-व्यापारों को मूल कारण कान्ता (राजीमती) को त्याग दिया । तदनन्तर सुरतरु के सदृश (सम्पत्ति का) वितरण करके (दान देकर) अत्युच्च पद पर आरोहण के इच्छुक बनकर पर्वतश्रेष्ठ पवित्र रैवत को स्वीकार किया ॥१॥

दीक्षां तस्मिन्निव नवगुणां सैषणां चापयष्टि
प्रद्युम्नाद्यामभिरिपुचमूमात्तवत्येकवीरे ।
तद्भक्तेतिच्छलितजगता क्लिश्यमाना निकामं
कामेनाशु प्रियविरहिता भोजकन्या मुमूर्च्छ ॥२॥

दीक्षां तस्मिन् ० भोजकन्या राजीमती **आशु** शीघ्रं **मुमूर्च्छ** मूर्छां प्राप । **क्व-सति-तस्मिन् एकवीरे** श्रीनेमिनाथे **प्रद्युम्नाद्यां** कन्दर्पमुख्यां **रिपुचमूं अभि** वैरि-सेनांप्रति **चापयष्टिमिव** धनुर्यंष्टिमिव **दीक्षाम् आत्तवति** सति गृहीतवति सति । किंरूपां दीक्षां—**नवाः** शीलसन्तोषादयो-**गुणाः** यत्र सा ताम् । तथा सह **एषणया** आहारशुद्धया वर्तत इति सैषणा ताम् ।

अन्योऽपि किल **रिपुचमूं** प्रति चापयष्टिं गृह्णाति । किंरूपां रिपुचमूं प्रद्युम्नाद्यां प्रकृष्टं द्युम्नं बलं विद्यते येषां ते । प्रद्युतेयेषां ते । प्रद्युम्नाः बलवन्तः । प्रद्युम्ना आद्या यस्यां सा ताम् । किंरूपां चापयष्टिं—**नवगुणा** नवो नूतनो गुणः प्रत्यञ्चा लक्षणो यत्र सा ताम् । तथा **सैषणा** सह एषणेन नाराचनाम्नाबाणेन वर्तत इति सैषणां ताम् । कीदृशी भोजकन्या—**तद्भक्ता** तस्मिन्श्रीनेमिनाथे भक्ता इति हेतोः **कामेन निकामं** अतिशयेन **क्लिश्यमाना** पीडमाना **प्रियविरहिता**-भर्त्तृ-वियुक्ता । कीदृशेन कामेनछलितं जगद् येन स तेन ॥२॥

उन अद्वितीय वीर श्रीनेमि के द्वारा—अपनी उस शत्रुसेना (काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें प्रमुख है), जिसमें कामदेव आदि बलिष्ठ वीर हैं, की ओर—नवीन प्रत्यञ्चा तथा बाण से युक्त धनुष के ग्रहण करने के समान शीलादि नव गुणों एवं आहारादि शुद्धि से समन्वित दीक्षा ग्रहण करने पर, समस्त संसार को छलने वाले कामरूपी (श्रीनेमि के उस) प्रमुख शत्रु के द्वारा-यह जानकर कि यह हमारे शत्रु श्रीनेमि की भक्त है—अत्यन्त पीड़ित की जाती हुई प्रियविरहिता भोजकन्या मूर्च्छित हो गई ॥२॥

सद्ध्रीचीभिः स्खलितक्वचनन्यासमाशूपनीतैः
स्फीतैस्तैस्तै मलयजजलार्द्रादि शीतोपचारैः ।
प्रत्यावृत्ते कथमपि ततश्चेतने दत्तकान्ता-
कुण्ठोत्कण्ठं नवजलमुचं सानिदध्यौ च दध्यौ ॥३॥

सद्ध्रीचीभिः ० **ततो** अनन्तरं **सा** भोजकन्या राजीमती **नवजलमुचं** नूतनमेघं **निदध्यौ** ददर्श । **च** पुनः ध्यातवती अर्थात् एवं वक्ष्यमाणं हृदि । **कथमपि** महता कष्टेन **चेतने** चैतन्ये **प्रत्यावृत्ते**सति पश्चाद्वलितेसति । कैः कृत्वा **तैस्तैः** सर्वलोक-प्रसिद्धैः **मलयजजलं** चन्दनजलम् **आर्द्र** जलक्लिन्नं वस्त्रमित्यादिशीतोपचारैः । किंभूतैः—**स्फीतैः** गुरुतरैः । किंभूतं मेघं—**दत्तकान्ताकुण्ठोत्कुण्ठं** दत्ता कान्ते भर्त्तरि कान्तायां वा आकुण्ठा तीक्ष्णा उत्कण्ठा अभिलाषो येन स तम् ॥३॥

मूर्च्छा के अनन्तर क्या हुआ ? उसका कथन करते हैं—

सखियों के द्वारा शोक गद्-गद् वचनों के साथ शीघ्र ही किये गये लोक-प्रसिद्ध चन्दन-जलार्द्र-वस्त्रादि-प्रभृत-शीतोपचार के द्वारा किसी प्रकार चेतना के लौटने पर राजीमती ने पति के हृदय में तीव्र उत्कण्ठा जगाने वाले मेघ (वर्षाकाल में नये-नये ऊँचे मेघों को देखकर युवतियों के मन में अपने प्रिय के प्रति तथा युवकों के मन में अपनी प्रिया के प्रति सहजतया उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है) को देखा और सोचा ॥३॥

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी-
त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम् ॥४॥

मेघदर्शनानन्तरं यद्ध्यातवती तदाह—

एकंतावद्वि ० हा इति खेदे । **किं भावि** किं भविष्यति । **एकं तावत्** इदं कष्टं यत् **मेघकालो** वर्तते । किन्तु मेघकालः **विरहिहृदयद्रोहकृत्** विरहिणां हृदयस्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनाशकारी। **द्वैतीयीकं** द्वितीयमिदं कष्टं यत् **एष यौवनारम्भो** वर्तते। किंरूपो यौवनारम्भः—**प्रकृतिगहनः** प्रकृत्या स्वभावेन गहनो दुस्तरः। **तार्तीयीकं** तृतीयं इदं कष्टं यत् **सैष हृदयवयितः** हृदयवल्लभः श्रीनेमिनाथः **भोगात् व्यराङ्क्षीत्** विरतः। **तुर्यं** चतुर्थं तावत् इदं कष्टं यत् **न्यायात्** न्यायोपेतात् **पथो** मार्गात् **मानसं** चेतः **न चलति** अन्यभर्त्तरि इच्छां न करोति इत्यर्थः ॥४॥

राजीमती ने जो सोचा, उसका कथन करते हैं—

एक तो यह कि विरहणियों के हृदय में द्रोह उत्पन्न करने वाला वर्षाकाल, दूसरा यह स्वभाव से दुरूह तारुण्यप्रवेश, तीसरा यह कि हृदयवल्लभ ये श्रीनेमि (मानसप्रत्यक्ष के कारण साक्षात् समीपवर्ती अनुभूयमान) भोग से विरक्त हो चुके हैं और चौथा यह कि मेरा मन धर्मोचित मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता (अर्थात् मन अपने स्वामी को छोड़कर अन्य की प्रार्थना नहीं करता), हाय! क्या होना है? ॥४॥

कृष्णो देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यासस्ते तदवगमयाम्येनसैवार्जितेन।
तत्रैकोऽस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधा-
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽग्निसर्गात् ॥५॥

कृष्णो देश ०कोकायत् देशप्रभुः देशस्वामी **कृष्णः**। **अस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधात्** अस्मत्पतिना श्रीनेमिना विरचितो योऽसौ अभ्रेषस्य न्यायस्य पेषः संचूर्णनन्तस्य अनिषेधात् अनिवारणात्। **अर्जितेन** उपार्जितेन **एनसैव** पापेनैव **कालिमानं न्यध्यास्ते** "राज्ञिकृतं पापं" इति वचनात्। **अन्यः अभिनवो अम्बुदः अस्माकं** मत्सदृशीनां **विप्रयोगे** विरहे **अग्निसर्गात्** अग्निरिवसर्गः रचनाअग्निसर्गस्तस्मात् अर्जितेन एनसैव कालिमानं न्यध्यास्ते। कीदृशे विप्रयोगे-**गहनगहने** गहनं-कान्तारं तद्वत् गहने दुस्तरे ॥ ५ ॥

देशस्वामी कृष्ण और नवाम्बुद (नवीन उमड़कर छाये काले-काले मेघ)—ये दोनों ही अपने जिस अर्जित पाप से कृष्णत्व को प्राप्त हुए हैं, उसे मैं जानती हूँ। उनमें से एक यह है कि देशस्वामी कृष्ण तो हमारे पति (श्रीनेमि) के द्वारा की गई न्याय की हत्या (पति द्वारा स्वीकार कर पुनः त्याग) का निषेध न करने के कारण (क्योंकि प्रजा द्वारा किया गया पाप राजा को लगता है और श्रीनेमि कृष्ण के अनुज थे ही) कृष्णत्व को प्राप्त हुए हैं और दूसरा यह अम्बुद (मेघ) गहन वियोग में अग्नि तुल्य सन्ताप पहुँचाने के कारण कृष्णत्व को प्राप्त हुआ है ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यश्रुवर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्ययत्यौष्ण्यमिर्यन् ।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम् ॥६॥

नीलीनीले० हे लोकाः ! **वामावर्गः** श्रीजनः **अनेन** जलदेन सह **युक्तं** युक्तिमत् **स्पर्द्धते** स्पर्द्धां कुरुते । क्व सति-**वर्षयति*** वर्षाकृतौ **अम्बुवाहे** मेघे **एवं** वक्ष्यमाणप्रकारेण **शुचे** शोकाय **प्रभवति** सति समर्थो भवति सति । किंरूपो वामावर्गः— **विप्रलब्धो** वियोगवान् तथा **प्रकृतिकुहनः** स्वभावेन ईर्ष्यालुः वामावर्गः । किं कुर्वन्— अस्मिन् अम्बुवाहे **नीलीनीले** सति नीलीगुलिका तद्वत् नीले कृष्णे सति । **शितिलपनयन्** कृष्णमुखं कुर्वन् । अस्मिन् अम्बुवाहे वर्षयतिसति वृष्टिं कुर्वतिसति **अश्रुवर्षन्** अश्रुं मुञ्चन् । अस्मिन् अम्बुवाहे गर्जति सति **पटु** प्रकटं **कटु** कर्णदुःखसहां यथा भवति तथा **रटन्** विलपन् । अस्मिन् अम्बुवाहे **विद्ययति** सति विद्युतं कुर्वतिसति **औष्ण्यं** उष्णत्वं **इर्यन्** प्राप्नुवन् ॥ ६ ॥

वर्षाकाल में स्वभाव से ईर्ष्यालु विरहिणी स्त्रियाँ अपने शोक को उत्पन्न करने वाले मेघ से जो ईर्ष्या करती हैं, वह ठीक ही है। (क्योंकि) मेघ के नीलतुल्य श्यामवर्ण वाला होने पर वे (विरहिणी स्त्रियाँ) भी मुख को श्याम बना लेती हैं (अर्थात् उनका मुख मलिन होने से श्यामवर्ण हो जाता है); जब वह (मेघ) बरसता है तब वे (विरहिणी स्त्रियाँ) भी अश्रु बरसाती हैं; जब वह (मेघ) गरजता है तो विरहिणी स्त्रियाँ) चातुर्यपूर्ण कटु-विलाप करती हैं और जब वह (मेघ) बिजली चमकाता है तो वे (विरहिणी स्त्रियाँ) भी उष्णनिःश्वास छोड़ती हैं ॥ ६ ॥

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे—
त्तर्णस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः ॥७॥

हेतोः कस्मा० हे लोकाः ! अहं **तत् न जाने यत् असौ** श्रीनेमिः **ज्ञोऽपि सन्** विचक्षणोऽपि सन् **अहिरिव** सर्पइव **मां निर्मोकत्वचमिव** कुञ्चलिकामिव **कस्मात् हेतोः अमुञ्चत्** । किंरूपां मां—**तदाऽऽसञ्जिनीमपि** तं श्रीनेमिनाथं आसञ्जतीत्येवंशीला तदासञ्जिनी तां तदालिङ्गनतत्परामित्यर्थः तथा **लघुं** लघ्वीं नवयौवनत्वात् । किंरूपां निर्मोकत्वचं—**तदासञ्जिनीं** सर्पशरीरसङ्गिनीं तथा **लघुं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तोकभाररूपां । **यद्वा** अथवा हे लोकाः ! तदहं जाने यत् **दैवे** विधातरि **विमुखीभावं पराङ्मुखत्वं दधति** सति धारति सति **आप्तोऽपि** हितकारकोऽपि **अमित्रेत्** अमित्रमिवाचरेत् । पूर्वोक्तमर्थं दृश्यं दृढयति । **मातृजङ्घा** तर्णकस्य (वत्सस्य) **नियमने बन्धने किमु** कथं **कीलः** कीलको **न स्यात्** अपितु स्यात् । देव क्वसति-दैवे-विमुखीभावं दधति सति ॥ ७ ॥

उन ज्ञानवान् श्रीनेमि ने अपने में आसक्त तथा तुच्छ मुझको किस कारण से साँप की केंचुल (सर्प-शरीर में लिपटी तथा हल्की निर्जीव खाल) की तरह छोड़ दिया, यह मैं नहीं जानती । अथवा दैव के प्रतिकूल होने पर आप्तजन (अपने इष्टजन) भी शत्रुवत् हो जाते हैं (क्या) बछड़े को बाँधने में गाय की जङ्घा बन्धन नहीं बनती ? (गोष्ठ—वह स्थान जहाँ गाय बाँधी जाती है—में गाय दुहने वाले लोग दूध पीने वाले बछड़े को गाय की जाँघ में बाँधकर दूध दुहते हैं, इस प्रकार वत्सला गाय विधिवश अपने बछड़े के ही बन्धन को हेतु होती है) । ।७।।

तप्ताश्मेव स्फुटति हि हिरुक् प्रेयसो हृन्ममैत-
त्तत्कारुण्यार्णवमुपतदं प्रेषयाम्यब्दमेतम् ।
मन्दं मन्दं स्वयमपि यथा सान्त्वयत्येष कान्तं
मत्सन्देशैर्दवमिव दवप्लुष्टमुत्सृष्टतोयैः ।।८।।

तप्ताश्मेव ० हे लोकाः ! **एतत्मम हृद्** हृदयं **प्रेयसो** भर्तुः **हिरुक्** विना **तप्ताश्मवत्** तप्तपाषाणइव **हि** निश्चितं **स्फुटति** द्विधाभावं प्राप्नोति । तत्कारणात् अहं **एतं अब्दं** मेघं **उपतदं** तस्य श्रीनेमिनाथस्य समीपं **प्रेषयामि** किंरूपंअब्दं— **कारुण्यार्णवं** दयाभावसमुद्रं । प्रेषणेकारणमाह— **यथा एष अब्दो** मेघो **मत्सन्देशैः ममसन्देशकैः कान्तं मन्दं मन्दं स्वयमपि सान्त्वयति** समभावंप्रापयति । किमिव— **दवमिव** वनमिव । यथा **दवं** वनं **दवप्लुष्टं** दवदग्धं संतं **उत्सृष्टतोयैः** मुक्तजलैः **एष अब्दः** सान्त्वयति ॥ ८ ॥

यह मेरा हृदय स्फुट रूप से प्रिय के बिना तप्त-पाषाण की भाँति विदीर्ण हो रहा है, इस कारण मैं सामने दृश्यमान करुणा के सागर मेघ को अपने प्रेयस के समीप भेजती हूँ। जिस प्रकार यह मेघ अपने मुक्त जल से दावानल से दग्ध वन को धीरे-धीरे शान्त करता है, उसी प्रकार यह मेरे स्वामी (श्रीनेमि) के हृदय को भी मन्द-मन्द गति से स्वयं ही मेरे सन्देश के द्वारा सान्त्वना देगा (शान्त करेगा) ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यात्वैवं सा नवघनधृता भूरिवोष्णायमाना
युक्तायुक्तं समदमदनावेशतोऽविन्दमाना ।
अस्त्रासारं पुरु विसृजती वारि कादम्बिनीव-
दीना दुःखादथ दकमुचं मुग्धवाचेत्युवाच ।।९।।

ध्यात्वैवं सा ० अथ अनन्तरं **सा** राजीमती **एवं** पूर्वोक्तं **ध्यात्वा दकमुचं** मेघं प्रति **मुग्धवाचा** कृत्वा इति कथ्यमानं **उवाच** अब्रवीत् । किंविशिष्टा सा-**नवघन-धृता** नूतनजलदसिक्ता **भूरिवधरित्रीव ऊष्मायमाणा** वाष्पायमाना । पुनः कीदृशी सा—प्रकृष्टो **मदो** यस्मात् **समद** एवंविधो यो सो कामस्तस्य **आवेशतः** आटोपतो **युक्तायुक्तं** घटमाना घटमानं **अविन्दमाना** अप्राप्नुवती । सा किं कुर्वती **पुरु** प्रभूतं **अस्त्रासारं** अस्रवेगवद् वृष्टिं **विसृजती** मुञ्चती । किंवत्—**कादम्बिनी** मेघमाला प्रचुरं **वारि** पानीयं **विसृजति** । पुनः कीदृशी सा—**दुःखादीना** दीनभावं-प्राप्ता ।।९।।

इसके अनन्तर नवीन मेघों से सिक्त भूमि (वर्षा से भींगी हुई भूमि से एक विशेष प्रकार की सोंधी सी निकलने वाली गन्ध) की तरह निःश्वासों को छोड़ती हुई तथा मद (हर्ष और मोह) से युक्त मदन (काम) के आवेश के कारण युक्तायुक्त का विचार न करती हुई राजीमती, मेघमाला जिस प्रकार प्रभूत जल को बरसाती है उसी प्रकार, अश्रुओं की धारावृष्टि करती हुई दुःख से अति दीन होकर पूर्व में कहे गये के अनुसार ध्यान करके मधुर वाणी में मेघ से बोली ।। ९ ।।

राजीमती मेघ से जो कहती है, उसका कथन करते हैं—

मेघंप्रति यदुवाच तदाह—

कच्चिद्धाराधर तव शिवं वार्त्तशाली च देहः
सेवेते त्वां स्तनिततडितौ राजहंसौ सरोवत् ।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा वृष्टिसर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दैव्ये गतिरिव रवेः स्वागतं वर्तते ते ।।१०।।

कच्चिद्धारा ० कच्चिदिति अभीष्टप्रश्ने । हे **धाराधर** ! **तव शिवं** निरुपद्रव-भावो **वर्त्तते** ? हे मेघ ! **तव देहः वार्त्तशाली** नीरोगी वर्त्तते ? हे जलद ! **स्तनित-तडितौ** गर्जितविद्युतौ **त्वां सेवेते** । किंवत्—**सरोवत्** यथा**राजहंसौ** सरः **सेवेते** । राजहंसश्चराजहंसी च राजहंसौ । हे जलधर ! **ते** तव **वृष्टिसर्गे** वृष्टिरचनायां **निसर्गात्** स्वभावात् **करुणा** दया **अव्याबाधा** निः पीडा **स्फुरति** विच्छम्भते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केव–**रवेर्गतिरिव**। यथा रवेः सूर्यस्यगतिः **दैव्येमार्गे** आकाशपथे अव्याबाधा हे पयोद! तव **स्वागतं** सुखागमनं **वर्त्तते** ॥१०॥

इस श्लोक में राजीमती मेघ से घनिष्ठता स्थापित करने के लिए कुशल प्रश्न करती है—हे धाराधर! आपकी कुशल तो है? आपका शरीर आरोग्यशाली तो है? राजहंस और राजहंसी जिस प्रकार सरोवर की सेवा करते हैं, उसी प्रकार गर्जन और विद्युत् आपकी सेवा कर रहे हैं न? जिस प्रकार आकाशमार्ग में सूर्य की गति निर्बाध है, उसी प्रकार ही तुम्हारे वृष्टि-विधान में स्वभावसिद्ध करुणा के स्फुरण में कोई बाधा तो नहीं हो रही है? मैं आपका स्वागत करती हूँ॥ १०॥

किसी से कोई कार्य सम्पादित करवाने से पूर्व उसकी प्रशंसा की जाती है, अतः राजीमती मेघ की भी प्रशंसा करती है—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
सङ्कोचेन क्षपयसि तमःस्तोममुन्निह्नुवानः।
स त्वं मुञ्चन्नतिशयनतस्त्रायसे धूमयोने!
तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता ॥११॥

विश्वंविश्वं ० हे **धूमयोने**! हे जलधर! **तत्** तस्मात् वाताः **त्वं त्रयीरूपधत्त** हरिहरब्रह्मरूपधारी **कोऽपि अभिनवतमः** अतिनवीनः **देवो वर्त्तसे**। **यत्** यस्मात्कारणात् **यः त्वं विश्वं** सम्पूर्णं **विश्वं** जगत् **सृजसि** निष्पादयसि। किंकुर्वन्–**रजसः** रेणोः **शान्तिम् आपादयन्** उत्पादयन्। ब्रह्माकिल विश्वं सृजति। परं रजसः रजोगुणस्य शान्तिं न आपादयति अतोऽभिनवत्वम्। यः त्वं **सङ्कोचेन** अविद्यमानतया **विश्वं विश्वं क्षपयसि** संहरसि। किंकुर्वाणः—**तमस्तोमं** मेघान्धकारसमूहं **उन्निह्नुवानः** गोपयन्। रुद्रः किल विश्वं क्षपयति परंतमः स्तोमं तमोगुणगणं न उह्नुते अतोऽभिनवत्वं। हे धूमयोने! यः त्वं **विश्वं विश्वं त्रायसे** रक्षसे किंकुर्वन्–**सत्वं** अर्थात् पानीयं **मुञ्चन्**। कीदृशस्त्वम् **अतिशयनतः** अतिशयेन नम्रीभूतः। विष्णुः किल विश्वं रक्षति परं सत्वं सत्वगुणं न मुञ्चति अतोऽभिनवत्वम् ॥११॥

हे धूमयोने! आप अपने सत्त्व (जल) से पृथ्वी को सींचते हुए अखिल विश्व की सृष्टि करने वाले तथा अन्धकार समूह का विनाश करते हुए उस सत्त्व (जल) के अभाव द्वारा विश्व का क्षय करने वाले एवं अपने उसी सत्व (जल) की वर्षा कर विश्व का पालन करने वाले, अतिनम्र कोई अभिनव त्रिरूपधारी देव हैं॥ ११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक में परमेश्वर से मेघ की अपूर्वता इस प्रकार है—परमेश्वर रजस् (रजोगुण) की वृद्धि करके विश्वसृजन करता है पर मेघ रजस् (धूलि) को शान्त कर विश्वसृजन करता है, परमेश्वर तम (तमोगुण) का विस्तार कर उसका संहार करता है पर मेघ तम (अन्धकार) का विनाश ही करता है, परमेश्वर सत्व (सतोगुण) को स्वीकार कर उसका पालन करता है पर मेघ सत्व (अपने सार अर्थात् जल) का त्याग कर विश्वपालन करता है, परमेश्वर नम्य (नमन के योग्य) है पर मेघ अतिशयनत है, परमेश्वर अयोनि (जन्म स्थान आदि से हीन) है पर मेघ धारायोनि है, अतः स्पष्ट ही यह मेघ परमेश्वर से अपूर्व है।

त्वं जीमूत ! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रसृतिसदृशौ स्वे दृशौ नो विधत्ते।
दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै ॥१२॥

त्वं जीमूत ० हे **जीमूत** ! त्वम् अनन्यसाध्योपकारैः न अन्यैः साध्याः साधयितुं शक्याः अनन्यसाध्या एवंविधायि उपकारः तैः **प्रथितमहिमा** विख्यातप्रभावो वर्त्तसे। कः **को** जनः **त्वां वीक्ष्य** भवन्तं विलोक्य **स्वेदृशौ** स्वकीये नेत्रे **प्रसृतिसदृशौ** अञ्जलिसमानौ **नो विधत्ते**। हे मेघ ! **त्वया दानात् तौ सर्वलोकप्रसिद्धौ कल्पद्रुमसुरमणी अधोऽक्रियेताम्** अधःक्रियेते स्म। हे जलद ! **तुभ्यं** त्वां **को न स्पृहयति** अपितु सर्वकोऽपि अभिलषति। किंरूपाय तुभ्यम् **जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यं** जगज्जन्तूनां जीवातुरूपा जीवनौषध प्रायोलक्ष्मीर्यस्य स तस्मै ॥१२॥

हे जीमूत ! जो उपकार अन्यों के लिए असाध्य हैं (अर्थात् जिसे समुद्रादि अन्य कोई भी नहीं कर सकता) उन उपकारों के करने के कारण आप विख्यात महिमा वाले हैं (क्योंकि वृष्टि के द्वारा आप लोक के समस्त जीवों को सब प्रकार से सन्तुष्ट करते हैं) आपको देखकर ऐसा कौन है जो अपनी दृष्टि को फैली हुई हथेली के सदृश विशाल नहीं बना लेता (अर्थात् आपके विस्तार्ण रूप को देखने के लिए कौन अपनी आँखों को विस्तृत नहीं कर लेता आपने अपने दान से उन प्रसिद्ध कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को भी नीचे कर दिया है, जगत् के जीवन को लक्ष्मी (जल, विद्युत् आदि) को धारण करने आपको कौन नहीं चाहता ॥१२॥

कामं मध्येभुवनमनलंकारकान्ता अनुत्वां-
मंत्रस्येव स्मरति च तवागोपगोपं जनोऽयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यासीचक्रे भवति निखिला भूतसृष्टिर्विधात्रा
तत्त्वां भाषे किमपि करुणाकेलिपात्रावधेहि ॥१३॥

कामं मध्ये ० हे जलद ! **मध्येभुवनं** भुवनमध्ये **अनुत्वां त्वदनु त्वां** मुक्त्वा **कामम्** अतिशयेन **अनलङ्कारकान्ताः** अलङ्काराभावमानान्याः केपिपदार्थाः वर्त्तन्ते । **अय-मत्रभावः**—त्वां मुक्त्वा जगति कोऽप्यनलङ्कारकान्तानास्त्येव । **अयं जनो** लोकः **अगोपगोपं** पशुपालभूपालं यावत् **तव** त्वां **मन्त्रस्येव** मन्त्रमिवस्मरति चिन्तयति । **च** पुनरार्धं—हे जलद **विधात्रा** ब्रह्मणा **निखिला** समग्रा **भूतसृष्टिः** प्राणिरचना भवति त्वयिविषये **न्यासीचक्रे** स्थापनीकृता । हे मेघ तत्तस्माद्धाताः अहं **त्वांप्रति किमपि** हृदगतं **भाषे** ब्रवीमि । हे **करुणाकेलिपात्र** दयाक्रीडाभाजन **अवधेहि** अवधारय ॥१३॥

संसार में भले ही स्वभावतः सुन्दर लोगों की बहुलता हो, परन्तु वे सभी स्वभाव से सुन्दर (लोग) अलंकार रहित (सुन्दरता में) आपसे पीछे हैं । आबालवृद्ध सभी (लोग) तथा यह जन भी अर्थात् मैं (राजीमती) मन्त्र की तरह आपका स्मरण करती हूँ । ब्रह्मा ने समस्त प्राणियों की सृष्टि आपके अधीन कर दी है । क्योंकि आप सभी के हितकारी हैं, इसी कारण मैं आपसे कुछ निवेदन करने जा रही हूँ । हे सदय ! जरा ध्यान से मेरी बात सुनो ॥ १३ ॥

राजीमती मेघ से कुशल-वार्ता पूछने के बाद स्व-सन्देश कथन के पूर्व उसके सामने पूर्व की घटना को स्पष्ट करती है--

श्रीमान् वंशो हरिरिति परां ख्यातिमापत्क्षितौ य-
स्तस्मिन् मूर्त्ता इव दशदिशां नायकाः ये दशार्हाः ।
तेषामाद्यः क्षितिपतिगुरुः श्रीशिवाप्रेयसी च
प्राज्ञो द्वेधं सुकृतविजयी सुप्रजाः श्रीसमुद्रः ॥१४॥

मेघंप्रतियद्वक्ष्यमाणं तदाह—

श्रीमान् वंशो ० हे मेघ ! यः **श्रीमान्वंशः क्षितौ** पृथिव्यां **हरिः इति परां प्रकृष्टां ख्यातिं** प्रसिद्धतां **आपत्** प्राप्तः । **तस्मिन्** हरिवंशे ये **दश** दशार्हा वर्त्तन्ते । ते कीदृशाः उत्प्रेक्ष्यन्ते **मूर्त्ता** मूर्त्तिमन्तः **दिशांनायका इव** दिग्पाला इव । **च** पुनः **तेषां** दशदशार्हाणां मध्ये **आद्यः** श्रीसमुद्रो वर्त्तते । किं रूपः **श्रीसमुद्रः**—**क्षितिपति-गुरुः** नरेश्वरेषु गुरुः श्रेष्ठः । तेषां आज्ञादायकत्वात् भरणपोषणपालनाच्च । तथा**श्रीशिवाप्रेयसी** श्रीशिवानाम्नीप्रेयसी पत्नी यस्य सः । पुनः किंरूपः—**द्वैधं**

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

द्विप्रकारं प्राज्ञः प्रकृष्टा आज्ञा यस्य स प्राज्ञः । अथवा प्राज्ञोविचक्षणः द्वैधं सुकृतविजयी सुकृतेनविजयोऽस्या सा सुकृतविजयी । अथवा सुष्ठुशोभवःकृतःसमुद्रशब्दस्याग्रेविहितोविजयो विजयशब्दो यस्य असौ सुकृतविजयी । तथा द्वेधं सुप्रजाः । सुष्ठुशोभनाप्रजा लोकोयस्यासौ सुप्रजाः । अथवा सुष्ठुशोभनः प्रजासन्तानोयस्यअसौ सुप्रजाः ॥१४॥

जो समृद्ध वंश पृथ्वी पर 'हरि' इस नाम से ख्याति-प्राप्त है, उस वंश में मूर्तिमान्, दसों दिशाओं के स्वामियों के समान जो दशार्हा हैं, उन दशार्हों में प्रथम, पृथ्वीपतियों (राजाओं) में श्रेष्ठ, शिवादेवी नामक प्रेयसी (पत्नी) के स्वामी, दोनों प्रकार अर्थात् धर्म तथा बल से अपने द्वारा किये गये, पुण्यकर्मों के कारण जो विजयवान् हैं एवं जिनकी प्रजा अच्छी है, ऐसे अतिप्रकृष्ट बुद्धिवाले श्री समुद्र नामक राजा (थे) ॥ १४ ॥

सारस्वप्नैर्मनुपरिमितैः सूचितस्तस्य सूनुः
श्रीमान्नेमिर्गुणगणखनिस्तेजसां राशिरस्ति ।
यं द्वाविंशं जिनपतिमिह क्षोणिखण्डे प्रबुद्धा
दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिशन्ति ॥१५॥

सारस्वप्नैः ० चतुर्दशसंख्यैः उत्कृष्टस्वप्नैः सूचितः कथितः । तथागुणगणखानिः गुणसमूहनिधानं । तथातेजसां राशिः महसां पुञ्जः । हे मेघ ! प्रबुद्धाः विद्वान् सः इह क्षोणिखण्डे पृथिव्याम् यं श्रीनेमिनं द्वाविंशतितमं जिनपतिं दिशन्ति कथयन्ति कीदृशं यं—दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिव्यज्ञानस्य केवलज्ञानस्य अतिशयेनकलितं ज्ञातं अशेषं समग्रं वस्तुं जीवाजीवात्मकस्वरूपं येन स तम् ॥१५॥

उन समुद्र विजय के पुत्र, सर्वोत्तम चौदह स्वप्नों के द्वारा (अपने आगमन को) सूचित करने वाले, अपार तेज राशि से युक्त गुणों की खान, अपने अतिशय ज्ञान से संसार की सभी वस्तुओं को जानने वाले श्री नेमि विद्वानों के द्वारा बाइसवें तीर्थंकर के रूप में जाने जाते हैं ॥१५॥

यस्य ज्ञात्वा जननमनघं कम्पनादासनाना-
मास्यां तासांदिव न सहतां पूज्यपूजाक्षणेऽस्मिन् ।
दिक्कन्याः षट्शरपरिमिताः साङ्गजायाः सवित्र्याः
सम्यक् चक्रुः कनककदलीसद्मगाः सूतिकर्म ॥१६॥

यस्य ज्ञात्वा ० हे मेघ ! षट्शरपरिमिताः षट्पञ्चाशत् प्रमाणाः दिक्कन्यादि दिग्कुमारिका । आसनानां कम्पनाद् यस्य भगवतः श्रीनेमेः जननं ज्ञात्वा जन्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञाय । **साङ्गजायाः** सपुत्रायाः **सवित्र्याः** मातुः **सम्यक्** सम्यक्प्रकारेण **सूतिकर्म** प्रसवकर्म **चक्रुः** कृतवत्यः । कीदृशं **जननम् अनघं** निष्पापं । बन्दीकृतजनमोचनादि-पुण्यकार्यहेतुत्त्वात् । कीदृशानां आसनानां—**अस्मिन् पूज्यपूजाक्षणे** श्रीनेमिनः पूजासमये उत्प्रेक्ष्यते **तासां** कुमारिकाणां **आस्यां** उपवेशनं **न सहतामिव** अक्षममाणामिव । किंलक्षणाः दिक्कन्याः—**कनककदलीसद्मगाः** सुवर्णकदलीगृहं प्राप्ताः ॥१६॥

स्वर्णकदलीके घरोंमें रहने वाली छप्पन दिक्-कुमारियोंने पूज्यकी पूजा के इस अवसर पर कुमारियोंके बैठे रहनेको मानो सहन न कर सकने वाले आसनोंके कम्पनसे जिनके निष्पापजन्मको जानकर पुत्रके सहित माता का सूतिका कर्म भलीभाँति सम्पन्न किया ॥ १६ ॥

सूतिकाकर्म समाजमें प्रचलित एक महत्त्वपूर्ण कर्म है जो कि शिशुके जन्मग्रहणके तुरन्त बाद किया जाता है। स्वाभाविक रूपसे समाजमें यह कर्म दाई (एक विशेष जातिकी महिला) करती है पर चूंकि श्रीनेमि अद्वितीय बालक थे अतः इनका सूतिकाकर्म दिक्-कन्याओं ने किया। (ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक दिशा की एक कन्या होती है और कुल मिलाकर ५६ दिशाएँ कही गयी हैं, इस प्रकार ५६ दिक्-कन्याएँ भी हुईं)।

जन्मे यस्य त्रिजगति तदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
प्रोद्योतश्चाभवदतितरां भास्वतीवाभ्युदीते ।
अन्तर्दुःखोत्करमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
पारावारे विरससलिले स्वातिवारीव शुक्लाः ॥१७॥

जन्मे यस्य ० हे मेघ ! **यस्य** भगवतः श्रीनेमेःजन्मे जन्मनि **तदा** तस्मिन्प्रस्तावे **त्रिजगति** त्रिभुवने **ध्वान्तराशेर्विनाशः** अन्धकारसमूहस्य विध्वंसः । **च** पुनः **प्रद्योतः** प्रकाशः । **अतितरां** अतिशयेन **अभवत्** बभूव । कस्मिन्निव—**भास्वतीव** यथा भास्वति **सूर्येऽभ्युदीते** उदयंप्राप्तेसति ध्वान्तराशेर्विनाशः उद्योतश्चात्यर्थं भवति । हे मेघ ! **नारका** अपि यस्य भगवतोजन्मे **अन्तर्दुःखोत्करं** दुःखसमूहमध्ये **उरु** गरिष्ठं **सुखं** सौख्यं **अवापुः** प्रापुः । का इव—**शुक्ला इव** यथाशुक्ला शुक्लि जीवाः पारावारे समुद्रे **स्वातिवारि** स्वातिजलं प्राप्नुवन्ति । कीदृशे **पारावारेविरस सलिले** विरसं नीरसं सलिलं नीरं यस्यासौ तस्मिन् क्षारजले इत्यर्थः ॥१७॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार का विनाश होकर चारो तरफ प्रकाश फैल जाता है उसी प्रकार भगवान् नेमि के जन्म के समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीनों लोकों में अन्धकार समूह का विनाश होकर प्रकाश फैल गया। नरक वासियों ने दुःख के समूह में भी अपार सुख का अनुभव किया जैसे खार जल वाले समुद्र में रहने वाले हंस स्वाति के जल को पाकर सुखी होते हैं ॥१७॥

भक्तिप्रह्वा भवनपतयो विंशिनो व्यन्तरेन्द्रा
द्वात्रिंशच्चोपनवतिविषाधीशितारो रवीन्दू ।
सङ्गत्य स्वःशिखरिशिखरे ते चतुष्षष्टिरिन्द्राः
जन्मस्नात्रोत्सवमतिहरि स्वामिनो यस्य तेनुः ॥१८॥

भक्तिप्रह्वा ० हे मेघ **ते** प्रसिद्धाः **चतुःषष्टिः इन्द्राः सङ्गत्य** एकत्रमिलित्वा **स्वःशिखरिशिखरे** मेरुपर्वतशृंगे **अतिहरि** हरिकृतं इन्द्रकृतं यथा ज्ञायते तथा **यस्य स्वामिनः** श्रीनेमेः **जन्मस्नात्रोत्सवं तेनुः** चक्रुः । ते के—**विंशिनः** विंशतिभुवनपतयः, **द्वात्रिंशत्व्यन्तरेन्द्राः च** पुनः । **उपनव दश तिविषाधीशितारः** स्वर्गस्वामिनः वैमानिकेन्द्राः इत्यर्थः । **रवीन्दू** सूर्यचन्द्रमसौ । कीदृशाः ते—**भक्तिप्रह्वाः** भक्त्याप्रह्वा नम्रीभूता ॥१८॥

भक्ति से विनम्र बीस भुवनपति, तैंतीस व्यन्तरेन्द्र एवं दश स्वर्णाधीश तथा सूर्य एव चन्द्रमा इस प्रकार चौसठ इन्होंने श्रीनेमिनाथ के जन्मोत्सव को मेरु पर्वत शिखर पर एकत्र होकर इन्द्रोचित समारोह के साथ मनाया ॥१८॥

उच्चस्थानं दुदुवुरिव यं द्रष्टुकामा ग्रहास्तो
स्वस्यामान्तः करणकरणैः काममाशाः प्रसेदुः ।
रत्नस्वर्णप्रकरममराः सौधपूरं त्ववर्षन्
विश्वे लोकाः प्रमदमदधुस्य पुण्येऽवतारे ॥१९॥

उच्चस्थानं ० हे मेघ **यस्य** भगवतः श्रीनेमेः **पुण्ये** पवित्रे **अवतारे** जन्मनि **ते** प्रसिद्धाः **ग्रहाः** आदित्याद्याः **उच्चस्थानं दुदुवुः** जग्मुः । उत्प्रेक्ष्यते—**यं** भगवन्तं **द्रष्टुकामा** इव । अन्योऽपि यः किमपि द्रष्टुकामो भवति स उच्चस्थानमाश्रयति हे जलधर ! **आशाः** दिशः **स्वस्य** गोत्रिणः **अन्तःकरणकरणैः** मनः इन्द्रियैः अमा सह **कामं** अतिशयेन **प्रसेदुः** प्रसन्नीबभूवुः । तु पुनः **अमराः** देवाः **रत्नस्वर्णप्रकरं सौधपूरं** नृपमन्दिरपूरप्रमाणं **अवर्षन्** विवृष्ट । **विश्वे** जगति **लोकाः प्रमुदं** हर्षं **अदधुः** धारयामासुः । यस्य पुण्ये अवतारे इति सर्वत्र योज्यम् ॥१९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन भगवान् के पवित्र जन्म-ग्रहण पर सभी ग्रह अति उच्च स्थानों पर चले गये थे, जैसे मानो वे उन भगवान् को देखने की अभिलाषा से उच्च-स्थानों पर चले गये हों। दिशाएँ धूल और बादलों के न रहने से प्रसन्न हुईं तथा स्वजनों का चित्त एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हुईं। देवताओं ने रत्नों एवं स्वर्ण की तब तक वर्षा की जब तक खजाना पूर्ण न हुआ। इस प्रकार संसारके समस्त लोगोंने हर्ष धारण किया ॥१९॥

ये ये भावाः प्रियसुतकृते प्रतिक्रियन्त प्रसूभि-
स्तांस्तांस्तस्यातनिषत हरिप्रेरिता देव्य एव ।
नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्वीचयस्तां
देवा एवानिशमरमयन् केलिवापीषु भक्त्या ॥२०॥

ये ये भावाः ० हे मेघ। **प्रसूभिः** मातृभिः **प्रियसुतकृते** वल्लभपुत्रकृते **ये ये भावाः** अंङ्गप्रक्षालननेत्राञ्जनलवणोत्तरेणादयः **प्रक्रियन्ते** अतिशयेन क्रियन्ते। हे मेघ! **हरिप्रेरिताः** इन्द्रप्रेरिता **देव्य एव** तस्य भगवतः **श्रीनेमेस्तान्तान्** भावान् **अतनिषत** कृतवत्यः। हे मेघ **देवा एव केलिवापीषु** क्रीडावापिकाषु **भक्त्या** गौरवेण तं भगवन्तं **अनिशं** निरन्तरं **अरमयन्** रमयन्तिस्म। किंरूपाः देवाः—**हरिप्रेरिताः** तथा **नानारूपाः** नानाप्रकारं रूपं येषां ते तथा **सदृशवयसः** सदृशं समानं वयो येषां ते। किंवत्—**हंसवत्** यथा **वीचयः** कल्लोलाः हंसं रमयन्ति। कीदृशा वीचयः—नानारूपाः नानाप्रकारं लघुगुरुतररूपं यासां ताः **तथानानारूपाः** तथासदृशवयसः सदृशाः पतनोत्पतनादिनासमानाः वयसः पक्षिणो यासु ताः सदृशवयसः तथा हरिप्रेरिताः हरिणा वायुना प्रेरिता हरिप्रेरिताः ॥२०॥

अपने प्रियपुत्र के लिए माताएँ जिन जिन क्रियाओं को करती हैं उन सभी क्रियाओं को इन्द्रप्रेरित (इन्द्र की आज्ञा से) अप्सराओं ने पूर्ण किया तथा अनेक रूपधारी, समान उम्र वाले इन्द्रप्रेरित देवताओं ने क्रीडा-वापी में निरन्तर भक्तिपूर्वक उन भगवान् नेमिनाथ को उसी प्रकार रमाया आनन्दित किया) जैसे वायु से प्रेरित (हवा के झोकों से उठी) लहरें तालाबों में हंसों को रमाती (आनन्दित करती) हैं ॥२०॥

अस्नातोऽपि स्फटिकविमलोऽभूषितः कान्तरूपः
स्तन्यापायी प्रचितकरणोऽशास्त्रदृश्वा मनीषी ।
किं किं ब्रूमः शुचिरुचिरसौ शैशवेऽपि प्रकारे-
णापत्पोषं त्वमिव मरुता सर्वलोकोत्तरेण ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्नातोऽपि ० हे जलद ! वयं **किं किं ब्रूमः** किं किं जल्पामः । **असौ** श्री नेमिर्भगवान् **शैशवेऽपि** बाल्येऽपि **सर्वलोकोत्तरेण** सर्वलोकोत्कृष्टेन **प्रकारेणपोषं** पुष्टिं **आपत्प्राप** । किंरूपो असौ—**अस्नातोऽपि** निस्नातोऽपि **स्फटिकविमल** स्फटिकवन्निर्मलः तथा **अभूषितोऽपि** अनलङ्कृतोऽपि **कान्तरूपः** कमनीयमूर्तिः तथा **अस्तन्यपाय्येऽपि** स्तन्यपानरहितोऽपि **प्रचितकरणः** उपचितेन्द्रियः तथा **अशास्त्र-दृश्वाऽपि** शास्त्रंपश्यतीतिशास्त्रदृश्वा न शास्त्रदृश्वा अशास्त्रदृश्वा एवंविधोपि सन् । **मनीषी** विद्वान् तेषां **शुचिरुचिः** निर्मलकान्तिः । अस्नातत्त्वेनाऽपि स्फटिकवद्विमल-त्वात् अभूषितत्त्वेनाऽपिकान्तरूपत्वात् । अस्तन्यपायित्त्वेनाऽपि प्रचितकरणत्वात् । अशास्त्रदृश्वत्वेनाऽपि मनीषितत्त्वाच्चसर्वलोकोत्तरत्वंप्रकारस्य । क इव—**त्वमिव** । जलद यद्वा त्वं उत्तरेण उत्तरदिग् सत्केन **मरुता** वायुना पोषं प्राप्नोषि । किंरूप-स्त्वं—शुचिरुचिः श्रावणेरुचिर्यस्यासौ शुचिरुचिः ॥२१॥

हे मेघ ! क्या क्या कहें, बिना स्नान के ही स्फटिक सदृश धवल, बिना आभूषणों के ही अतिकान्तिशाली, बिना स्तनपान के ही मात्र इन्द्रियपान (यथा अङ्गुष्ठपान) से ही पुष्ट अङ्ग वाले, बिना शास्त्र-दर्शन के ही विद्वान् पवित्रकान्ति वाले उन भगवान् ने शैशव में ही सर्वोत्कृष्ट प्रकार से उसी तरह पुष्टि-प्राप्त की जैसे आषाढ़मास में रुचि वाले (शुचि-आषाढ़) तुम (मेघ) उत्तरदिशा से बहने वाली अथवा सर्वप्रधान वायु से पुष्टि को प्राप्त होते हो ॥२१॥

लोकातीतोल्लसितसुषमं यस्य बाल्येपि रूपं
तस्य स्थाम्नि श्वयति पुरुहे यौवने केन वर्ण्यम् ।
यस्यास्ताघं भवनमुदधस्तैषदिष्टेऽप्यतार्यं
तस्य ग्रैष्म तपति तपन केन शक्यं तरीतुम् ॥२२॥

लोकातीतो ० हे जलद **यस्य** भगवतः श्रीनेमेः **रूपं बाल्येऽपि लोकातीतोल्ल-सितसुषमं** वर्त्तते । लोकातीता लोकातिक्रान्ता उल्लसिता स्फुरिता सुषमा सातिशायीशोभा यस्य तत् । हे मेघ **तस्य** भगवतोरूपं **पुरुहे** प्रचुरे **स्थाम्नि** बले **श्वयति** प्रवर्द्धमानेपि **यौवने** यौवनसमये **केन वर्ण्यं** केन वर्णयितुंशक्यं अपितु न केनापि । अत्र दृष्टान्तः—**यस्य उदधेः** समुद्रस्य **भवनं** जलं **तैषदिष्टेऽपि** पौषमासकालेऽपि **अतार्यं** तरीतुमशक्यं । **तस्य** उदधेर्जलं **ग्रीष्मे** उष्णकाले **तपने** सूर्ये तपतिसति **केन तरीतुं शक्यं** अपितु न केनापि ॥२२॥

जिन भगवान् का रूप बाल्यकाल में भी अलौकिक परमशोभा से युक्त था, प्रभूत बलवृद्धि के होने पर उसका वर्णन कौन कर सकता है । जिस समुद्र के पवित्र जल को पौष मास (पौष मास में जल बहुत कम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है) में भी तैर कर नहीं पार किया जा सकता, ग्रीष्म के सूर्य के तपने पर उसमें कौनतैर सकता है ? (ग्रीष्म के ज्येष्ठ—आषाढ़ महीनों में बाढ़ आने से नदियों का जल अतिशय बढ़ जाता है ॥२२॥

पद्मं पद्भयां सरलकदलीकाण्ड ऊर्वोर्युगेन
स्ववाहिन्याः पुलिनममलं नेमिनः श्रोणिनैव ।
शोणो नाभ्याञ्चति सदृशतां गोपुरं वक्षसा च
द्रुद्रो शाखानवकिशलयो बाहुपाणिद्वयेन ॥२३॥

पूर्णेन्दुः श्रीसदनवदेननाब्जपत्रं च दृग्भ्यां
पुष्पामोदो मुखपरिमलैः रिष्टरत्नं च तत्वा ।
वर्ण्येऽर्थौघे वक्वचिदुपमितिं दद्युरेवं बुधाश्चे-
देतस्याङ्कैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥२४॥

पद्मं पद्भ्यां ० पूर्णेन्दुः श्री ० हे मेघ ! **बुधाः** विद्वांसः **क्वचित्** कस्मिंश्चित्प्रभावे **अर्थौघे** अर्थसमूहे **वर्ण्ये** सति वर्णनीयेसति **चेत्** यदि **एतस्य** श्रीनेमेः **अङ्गैः** सह **एवं** वक्ष्यमाणप्रकारेण **उपमितिं** उपमां **दद्युः** ददति **तथापि उपमाआधिक्यदोषः** उपमायाः अधिक दोषो भवति यथा राजा विभाति । किंलक्षणः—रुचा इन्द्रः भव्यो-राजा इन्द्रतुल्ये न भवति तथा अत्राप्येवंज्ञेयं । एवं किमिति—**पद्मं** कमलं नेमिनः श्रीनेमिनाथस्य **पद्भ्यां सह** चरणाभ्यां सह सदृशतां **अञ्चति** प्राप्नोति तथा **सर-लकदलीकाण्डः** अवक्रकेलिस्कन्धं नेमिनः **ऊर्वोयुगेन** सह सदृशतां अञ्चति तथा **स्ववाहिन्याः** गङ्गायाः **अमलं** निर्मलं **पुलिनं** तटं नेमिनः **श्रोणिनाः** कटितटेनसह सदृशतां अञ्चति । **एव** शब्दः पूर्णार्थः । **शोणी** ह्रदः नेमिनो **नाभ्यासह** सदृशतां अञ्चति तथा **गोपुरं** प्रतोलीद्वारं नेमिनः **वक्षसा** सह **च** पुनः **द्रुद्रोः** कल्पद्रुमस्य-शाखा **नवकिशलये** नेमिनः पाणिद्वयेनसह । **पूर्णेन्दुः श्रीसदनवदनेन** सह **अब्जपत्रं कमलपत्रं च** पुनः नेमिनः **दृग्भ्यांसह पुष्पामोदः** नेमिनो **मुखपरिमलैः** सह **च** पुनः **रष्टरत्नं** सिद्धान्तप्रसिद्धंनीलरत्नं नेमिनः **तन्वा** शरीरेणसह सदृशतां अञ्चति इति सर्वत्र योज्यं ।। २३-२४ युमम् ॥

कमल उनके चरणों के, कदलीस्तम्भ उनकी ऊरुओं के, गङ्गा का तट उनकी कटि के, शोण (महाह्रद) उनकी नाभि के, प्रतोलीद्वार (तोरण) उनके वक्ष के, कल्पवृक्ष की शाखा उनकी भुजा के और उसके किसलय उनके करों के, पूर्णचन्द्र उनके श्रीमुख के, कमलपत्र उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेत्रों के, पुष्प सुगन्ध उनके मुखामोद के और उत्तम रत्न उनके शरीर के शल्य हैं ॥२३॥

नेमि के सुन्दर वदन से पूर्णचन्द्र सदृशता प्राप्त करता है, नेमि के नेत्रों से कमल-दल सदृशता प्राप्त करता है, नेमि के मुखपरिमल से पुष्प-पराग सदृशता प्राप्त करता है, नेमि के शरीर से रिष्ट-रत्न सदृशता प्राप्त करते हैं। यदि विद्वज्जन कहीं भी वर्णनीय पदार्थ-समूहों की भगवान् के अङ्गों द्वारा उपमा देते हैं तो तो भी उपमा धिक्य दोष होता है ॥ २४ ॥

इस युग्मक श्लोक में दो बातें अवधेय हैं—पहली यह कि कवि-परम्परा में अङ्गों का वर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता है किन्तु यहाँ पर अङ्गों का वर्णन नीचे से ऊपर की ओर है। विद्वज्जनों के अनुसार अर्हंतों का रूप वर्णन चरणों की ओर से चढ़ता हुआ ऊपर की ओर किया जाता है। दूसरी बात है उपमाधिक्य दोष। जहाँ जहाँ उपमान उपमेय से अत्यधिक गुणों वाला होता है, जैसे—कमल भगवान् के चरणों के समान है। यहाँ कमलरूपी उपमेय से उपमान चरणों के अत्यधिक गुणवान् होने से उपमाधिक्य दोष है। प्रस्तुत सभी उपमाओं में इसी शैली का प्रयोग किया गया है।

भाण्डागारं गतभयममुं वीक्ष्य हृष्टः समस्तान्
धर्यौदार्यादिकगुणमणीनत्र वेधा न्यधत्त ।
तान् किं वक्तुं गणयितुमथ प्रेक्षितुं भूर्भुवः स्वः—
प्रष्ठा देवा मुखकरदृशां साक्षिणोऽधुः सहस्रम् ॥२५॥

भाण्डागारं ० हे जलधर ! **वेधा** ब्रह्मा अत्र श्रीनेमिनं **समस्तान् धैर्यौदार्यान् गुणमणीन् न्यधत्त** न्यस्तवत्। किंरूपो ब्रह्मा **अमुं पालमितंनतमय भाण्डागारं वीक्ष्य**-दृष्ट्वा हर्षितः। **किमित्युत्प्रेक्ष्यायां**—हे मेघ तान् **धैर्यौदिकगुणगणमणीन् वक्तुं** जल्पितुं **गणयितुं** संख्याकर्तुं अथ पुनः **प्रेक्षितुं** विलोकयितुं **भूभुवःस्वःप्रष्ठाः** पातालाकाशस्वर्गमुख्यादेवाः इन्द्राः **साक्षिणः** सन्तः **मुखकरदृशां** वदनहस्तनेत्राणां **सहस्रं अधुः इव** धृतवन्त इव ॥ २५ ॥

नेमिनाथरूपी निरापद कोश को देखकर प्रसन्न हुये ब्रह्मा ने समस्त धैर्य, औदार्यादि गुणरूपीमणियों को इसमें न्यास की तरह स्थापित कर दिया अर्थात् सुरक्षाहेतु रख दिया। उन गुण-मणियों के कहने, गिनने और देखने के लिये पाताल, भूमण्डल और स्वर्ग के मुख्य देवताओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(शेषनाग, सूर्य, और इन्द्र) ने क्रमशः सहस्रमुख, सहस्रकर और सहस्र-नेत्र धारण किये ।

इस श्लोक में श्रीनेमिनाथ के गुणों की अतिमहनीयता के बारे में कवि ने उत्प्रेक्षा को है कि शेषनाग ने नेमिनाथ प्रभु के गुणगान के लिये ही हजारों मुख धारण किये, गिनने के लिये ही सूर्य ने हजारों हाथ धारण किये एवं इन्द्र ने देखने के लिये हो हजारों आँखें धारण कीं ।। २५ ।।

व्योमव्याजादहनि कमनः पट्टिकां सम्प्रमृज्य
स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटोपात्रमादाय रात्रौ ।
रुग्लेखन्या गणयति गुणान् यस्य नक्षत्रलक्षा-
दङ्कांस्तन्वन्न खलु भवतेऽद्यापि तेषामियत्ताम् ।।२६।।

व्योमव्याजा ० हे मेघ ! **कमनो** ब्रह्मा **रुग्लेखन्या** कान्तिरूपलेखिन्या **यस्य** भगवतो **गुणान् गणयति** सख्यापरिमितान् करोति । किंकुर्वन्—**नक्षत्रलक्षात्** नक्षत्र-छलात् **रात्रौ अङ्कान्** एकद्वित्र्यादिरूपान् **तन्वन्** विस्तारयन् । किंकृत्वा—**व्योम-व्याजात् अहनिदिवसेपट्टिकां सम्प्रमृज्य** मार्जयित्वा । पुनः किंकृत्वा—**स्फूर्जल्ल-क्ष्मालकः शशिखटीपात्रमादाय स्फूर्जत्** चञ्चत् यल्लक्ष्मं लाञ्छनं तदेव अलकाः केशा यस्मिन् एवंविधं शशिखटीकापात्रंखटी भाजनं तत् आदाय गृहीत्वा । हे जलधर! **खलु** निश्चितं तेषां गुणानां इयत्तां सख्या अद्यापि **अयावदपि नभवते** नलभते । भूङप्राप्तौ इति धातोः प्रयोगः ।। २६ ।।

इस श्लोक में कवि ने दिन-रात की उत्प्रेक्षा प्रभु नेमिनाथ के गुणगणन में की है । दिन में आकाश स्वच्छ रहता है और रात्रि में तारों से पूर्ण रहता है । प्रकृति के इस स्वाभाविक नियम को कवि ने मनोरम ढंग से उत्प्रेक्षित किया है—

ब्रह्मा प्रतिदिन प्रभुनेमिनाथ के गुणगणन में ही व्यस्त रहते हैं । दिन में आकाशरूपी पट्टिका को मार्जित कर रात्रि में प्रकाशित चन्द्रमा की कलङ्करूपी स्याही और चन्द्रमारूपी दावात तथा उसकी किरणरूपी लेखनी से तारों रूपो अंकों के लिखने के ब्याज से प्रभु के गुणों को गिनते हैं, लेकिन आज भी उन गुणों की इयत्ता नहीं प्राप्त कर सके । [अभिप्राय यह है कि इस प्रकार लिखते-लिखते जब पट्टिका भर गयी और गुणों की गणना समाप्त नहीं हुई तो पुनः प्रातःकाल उसे मार्जित कर अर्थात् अंकों को मिटाकर, क्योंकि सूर्योदय होने पर तारे नहीं दिखाई पड़ते, पुनः रात्रि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में गुणों की गणना करते हैं। यही क्रम आज तक चल रहा है, परन्तु आज तक प्रभु के गुणों की गणना पूर्ण नहीं हुई] ॥ २६ ॥

यैस्तत्तुल्यं पुनरपि परं रूपमाप्नोति सत्तां
नूनं नान्तर्भुवनमणवः सन्ति ते क्वापि केऽपि ।
ते नो विज्ञा अपि गुणगणः स्तूयते यैरगण्यः
कारं कारं नवनवनवान् वास्तवांस्तस्य भर्तुः ॥२७॥

यैस्तत्तुल्यं ० हे जलधर ! **नूनं** निश्चितं **अन्तर्भुवनं** त्रिभुवनमध्ये । **ते अणवः** परमाणवः **क्वापि** कस्मिन्नपिप्रदेशे **केऽपि** कियन्मात्रा **सन्ति यैः** परमाणुभिः **पुनरपि तत्तुल्यं** तस्यश्रीनेमिनस्तुल्यं **परं** अन्यत्**रूपं सत्तां** विद्यमानतां **आप्नोति** प्राप्नोति । हे मेघ **ते विज्ञा अपि** विद्वांसोऽपि नो सन्ति **यैः** विद्वद्भिर्**तस्य भर्तुः** श्रीनेमिनः **गुणगणः स्तूयते** वर्ण्यते । किंरूपो गुणगणः—**अगण्यः** गणयितुमशक्यः । किंकृत्वा—**नवनवनवान्** अतिनूतनस्तवान् **कारंकारं** कृत्वाकृत्वा । किंरूपान्—नवनवनवान् **वास्तवान्** सत्यार्थान् ॥ २७ ॥

श्रीनेमि के रूप और गुणों की अनन्यता का कथन है—

निश्चित ही इस संसार में) वे परमाणु कहीं भी अल्प मात्रा में भी अवशिष्ट नहीं हैं, जिनसे उन (भगवान्) के सदृश अन्य रूप का पुनः निर्माण हो सके और न ही वैसे पण्डितगण ही (इस संसार में हैं जो प्रभु के असंख्य वास्तविक गुणसमूहों के सम्बन्ध में नवीन-नवीन स्तुतियों की रचना करें जिससे प्रभु की स्तुति की जावे ॥ २७ ॥

तत्सौभाग्यं तदतुलतरस्तज्जनानन्दि रूपं
तल्लावण्यं तदपरिमितं ज्ञानमन्यानवापम् ।
सा मैत्री सा धृतिरविचला ताः कृपाक्षान्तिकान्ति-
प्रज्ञावाचः परमपि शुभं लभ्यमत्रैव लभ्यम् ॥२८॥

तत्सौभाग्यं ० हे जलधर ! **तत्** सर्वोत्कृष्टं **सौभाग्यं** सुभगतात् **अतुलतरः** निरुपमबलं **तत्जनानन्दि** जनानन्दनशीलरूपं । **तत्लावण्यं** लवणिमा । **तत् अपरिमितं** असंख्यातं ज्ञानं । किंरूपं ज्ञानं—**अन्यानवापं** न विद्यते अवापः प्राप्तिर्यस्य तत् अनवापं । अन्यस्य मूर्खस्य अनवापं अन्यानवापं मूर्खदुरायमित्यर्थः : **सा मैत्री सा धृतिः** सन्तोषः । किंरूपा धृतिः—**अविचला** निश्चला **ताः कृपाक्षान्तिप्रज्ञावाचः** । हे मेघ **परमपि** अन्यदपि यत् **शुभं** रमणीयंवस्तु **लभ्यं** प्राप्यं वर्त्तते । तत् सर्वं अत्रैव-श्रीनेमिनाथे **एव लभ्यं** प्राप्तुं युक्तं ॥ २८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीनेमिनाथ के अनुपम व्यक्तित्व का वर्णन—

वह सौभाग्य, वह अतुलित बल, वह जनाह्लादक रूप, वह लावण्य, दूसरों को अप्राप्य वह असीमित ज्ञान, वह मैत्री, वह अडिगधैर्य, वे करुणा, क्षमा और कान्ति से युक्त बुद्धिमत्तापूर्ण, वचन तथा अन्य भी जो सम्भाव्य सर्वोत्कृष्ट गुण हैं वे सभी इन्हीं श्रीनेमिनाथ प्रभु में ही प्राप्त हो सकते हैं ॥ २८ ॥

अन्येद्युः स्वःसद इव दिवि क्रीडतःकामिनीडा-
क्रीडक्रोडे युवतिसमितान् वीक्ष्य वृष्णेः कुमारान्
तारुण्येनानुपमसुषमां बिभ्रतं तं प्रतीति
प्राकुर्वातां चतुरपितरौ प्रेरितौ प्रेमपूरैः ॥२९॥

अन्येद्यु ० हे जलद ! **अन्येद्युः** कस्मिंश्चित्प्रस्तावे **चतुरपितरौ** विचक्षणौ मातृजनकौ तं भगवन्तं श्रीनेमिनं प्रति इतिवक्ष्यमाणं **प्राकुर्वातां** अकथयताम् । किंकृत्वा—**दिवि** देवलोके **स्वःसद इव** देवानिव **वृष्णेः** यादवस्य **कुमारान् क्रीडतो वीक्ष्य** । **क्व कामिनीडाक्रीडक्रोडे** कामिनां कामितुरुषाणांनीडा अङ्गेसलकप्रायः यआक्रीडः । अन्तःपुरोचित्तक्रीडावनं तस्य क्रोडे उत्सङ्गे । किंरूपान् **कुमारान्-युवतिसमितान्** पत्नीसहितान् । तं किं कुर्वन्तं—**तारुण्येन** यौवनेन **अनुपमसुषमां** निरुपमसातिशायि शोभां **विभ्रतं** धरन्तम् । कीदृशौ पितरौ—**प्रेमपूरैः प्रेरितौ** नोदितौ ॥ २९ ॥

एक दिन स्वर्ग में देवताओं की तरह कामीजनों के निवास स्थान प्रमदवन में युवतियों (पत्नियों) के साथ क्रीड़ा करते हुये यदुकुमारों को देखकर भावविह्वल हुये नेमिनाथ के चतुर माता-पिता ने प्रेमपूर्ण वचनों से यौवन के कारण अनुपम शोभा को धारण करने वाले उन नेमिनाथ से इस प्रकार कहा ॥ २९ ॥

अस्मद्भाग्यैः सुरतरुरिवाभूर्वयस्थो विशिष्टः
शाणोन्मृष्टो मणिरिव महोलक्ष्मिपोषं तथापः ।
तत्त्वं काञ्चित्क्षितिपतिसुतां हैममुद्रामिवौजः-
स्फूर्जद्वर्णां गुरुहरिकुलापीड ! पाणौकुरुष्व ॥३०॥

अस्मद्भाग्यैः ० पितरौ तंप्रति इति प्राकुर्वातां, इतीति किम्—हे वत्स त्वं **अस्मद्भाग्यैः** कृत्वा **सुरतरुरिव** कल्पवृक्षइव **वयस्थः** तरुणः **अभूः** भूतः । किंरूपस्त्वं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टः प्रधानः । किंलक्षणः सुरतरुः—विभिः पक्षिभिः शिष्टः प्रशस्यः **विशिष्टः** । हे वत्स त्वं **तथा** पुनः **शाणोन्मृष्टो मणिरिव** निघर्षणो पलोद्घृष्टरत्नमिव । **महोलक्ष्मिपोषं** तेजोलक्ष्मि पुष्टिं **आपः** प्राप्तः । हे **गुरुहरिकुलापीड** गरिष्ठयादव-वंशमुकुटश्रीनेमिन् **तत्तस्मात्कारणाधृ त्वं काञ्चित्** कामेकां **क्षितिपतिसुतां** राजकन्यां **हैममुद्रामिव** स्वर्णसत्कमुद्रिकामिव पाणौकुरुष्व परिणय, यथा कश्चित् हैममुद्रां **पाणौ करोति** हस्ते परिदधातीत्यर्थः । किं रूपां क्षितिपतिसुतां—**ओजःस्फूर्जद्वर्णां** ओजसा तेजसा अथ बलेन स्फूर्जद्वर्णः क्षत्रियलक्षणः अथवा वर्णो यशो यस्याः सा ताम् । किंरूपां हैममुद्रां—ओजःस्फूर्जद्वर्णां ओजसा महसा स्फूर्जच्चिकचिकायमानो वर्णो पीतवर्णो यस्याः सा ताम् ॥ ३० ॥

मातापिता का नेमिनाथ से विवाह हेतु आग्रह—

प्रशस्त यदुकुल के मुकुट हे पुत्र ! हमारे भाग्य से तुम सम्पूर्ण गुणों से युक्त कल्पवृक्ष की तरह श्रेष्ठ तरुण हो चुके हो तथा शान पर खरादी गयी मणि की तरह अत्यन्त तेजयुक्त हो रहे हो अतः स्वर्णमुद्रा की तरह दीप्तवर्ण वाली किसी राजकन्या का पाणिग्रहण करो अर्थात् किसी राज-कन्या से शादी कर लो ॥ ३० ॥

आगृह्णानावुपयतिकृते कृत्स्नवात्सल्यखानी
पौनःपुन्यात्प्रकृतिसरलौ क्षीरकण्ठाविवैतौ ।
लप्स्ये लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं तद्विवक्ष्येऽ-
तीक्ष्णोक्त्येत्यागमयत कियत्कालमेषोऽप्यलक्ष्यः ॥३१॥

आगृह्णानो ० हे जलधर ! **एषोऽपि** श्रीनेमिरपि **एतौ** पितरौ इति कथ्यमान् प्रकारेण **अतीक्ष्णोक्त्या** सुकुमारवचनेन **कियत्कालं अगमयत्** अविलम्बयत् । इतीति किं—हे पितरौ **चेद्** यदि अहं एवंविधां कन्यां **कनीं** कन्यिकां **लप्स्ये** प्राप्स्यामि । **तद्विवक्ष्ये** तदा विवाहं करिष्यामि । कीदृशीं कनीं—**लोकम्पृणगुणखनी** लोकंपृणाश्च-लोकप्रीणकाश्चते गुणाश्च लोकंपृणागुणास्तेषांखनो खानिः लोकंपृणगुणखनीतां । किंरूप एषः —**अलक्ष्यः** अलक्षस्वरूपः । किं रूपौ **एतौ**—**उपयति कृते** परिणयनकृते **पौनःपुन्यात्** वारं वारं **आगृहणानौ** आग्रहं कुर्वाणौ । पुनः किं रूपौ—**वात्सल्यखानी** वात्सल्यानां हितानां खानो वात्सल्यखानो तौ तथा **क्षीरकण्ठाविव** बालकाविव **प्रकृतिसरलौ** स्वभावौ चक्रौ ॥३१॥

माता-पिता का नेमिनाथ से विवाह आग्रह—

समस्त वात्सल्य की खान, बालक की तरह अत्यन्त सरल स्वभाव वाले श्रीनेमिनाथ ने माता-पिता के पाणिग्रहण हेतु बारम्बार आग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर मधुर वाणी में यह कह कर उन लोगों से कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करवायी कि 'यदि मैं लोकप्रीतिकारिणी, शाम-मार्दव, सन्तोष आदि गुणों की खान के समान किसी कन्या को प्राप्त करूँगा तो उसी से विवाह करूँगा।'

[भगवान् श्रीनेमिनाथ के इस कथन का अभिप्राय यह था कि लोक-प्रीतिकारी गुणों से युक्त एकमात्र दीक्षा ही है। मैं समय आने पर उसीको ग्रहण करूँगा, परन्तु माता-पिता उनके इस अभिप्राय को नहीं समझ सके और कुछ दिन तक प्रतीक्षा किये।] ॥३१॥

स्वैरं भ्राम्यन् वनगज इव श्रीपतेरन्यदासौ
शस्त्रागारं न्यविशत लसच्चारुचक्रं सरोवत्।
तत्रापश्यत्कुटिलसरलां सर्वतः पुष्कराढ्यां
शस्त्रश्रेणीं विकचकमलां वीचिमालामिवाथ ॥३२॥

स्वैरं भ्राम्यन् ० हे जलद! **असौ** भगवान्नेमिः **अन्यदा** कस्मिंश्चित्प्रस्तावे **स्वैरं** स्वेच्छया **वनगजइव भ्राम्यन्** सन्। **श्रीपतेः** कृष्णस्य **शस्त्रागारं** आयुधशालां **सरोवत्** सरइव **न्यविशत्** प्रविष्टः। किंरूपं शस्त्रागारं—**लसच्चारुचक्रं** लसत् स्फुरत् चारु मनोज्ञं चक्रं चक्रनाम्नारत्नं यत्र तत्। किंरूपं सरः—लसच्चारुचक्रं लसन्तः स्फुरन्तः चरो वा मनोहराः चक्राः चक्रवाकाः, उपलक्षणत्वात् अन्येऽपि पक्षिणः यत्र तत्। हे जलद शस्त्रागारप्रवेशानन्तरं असौ श्रीनेमिः **तत्र** शस्त्रागारे **वीचि-मालामिव** कल्लोलपरम्परामिव **शस्त्रश्रेणीं अपश्यत्** ददर्श। किं लक्षणां शस्त्रश्रेणीं—**कुटिलसरलां** कुटिला च सरला च कुटिलसरला तां **तथा सर्वतः** समन्तात् **पुष्क-राढ्यां** पुष्करैः योगरैः आढ्यां पुष्कराढ्यां तां तथा **विकचकमलां** विकचा विकस्वरा **कमला** लक्ष्मीर्यस्याः सकाशात् सा ताम्। किंरूपां वीचिमालां-कुटिलसरलां अत्र **सदृशमेव** तथा पुष्करैः पानीयैः आढ्या पुष्कराढ्या तां तथा विकचानि विकस्वराणि **कमलानि** पद्मानि यस्यां सा ताम् ॥३२॥

किसी समय वे भगवान् श्री नेमि वनगज सदृश स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हुए चक्रवालों से सुशोभित सरोवर की तरह चक्र, आयुध (आदि) से सुसज्जित श्रीकृष्ण के शस्त्रागार में प्रविष्ट हुए। वहाँ चारों ओर जल से पूर्ण और विकसित कमलों वाली कुटिल, सरल तरंग माला की भाँति कुटिल—सरल आयुधों तथा तीक्ष्ण धार वाले बाणों से युक्त उत्कृष्ट शोभा वाली शस्त्रश्रेणी को देखा ॥३२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः पाञ्चजन्यं
शङ्खं प्रेक्ष्य श्रुतिसुखचिकीर्यावदादित्सतासौ ।
तावत्क्षत्ता जलशयमृते पूर्यते नायमन्यै-
रित्थं संज्ञुर्विनयविनमन्मौलिर्विज्ञप्तवांस्तम् ॥३३॥

तत्र प्रेक्षा ० हे जलधर ! असौ श्रीनेमिः **प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः** सन् प्रेक्षाकुतुकेन विलोकना कौतुकेन निहिते न्यस्ते प्रेक्षणे प्रकृष्टे नेत्रे येन स । **तत्र** शस्त्रश्रेणीमध्ये **पाञ्चजन्यं** पाञ्चजन्यंनामानं **शङ्खं** प्रेक्ष्य विलोक्य **यावत् आदित्सत्** ग्रहीतुमैच्छत । किंरूपोऽसौ—**श्रुतिसुखचिकीः** श्रुत्योः कर्णयोः सुखं विकीर्षति इति सुखचिकीः कर्णयोः सुखं कर्तुमिच्छन्नित्यर्थः । **तावत्क्षत्ता** शस्त्रागाररक्षकपुरुषः **विनयविनमन्मौलिः** विनयेनविनमन् नम्रीभवन् मौलिर्मस्तकं यथा स्यात् तथा **संज्ञुः** योजितपदाञ्जलिः सन् **इत्थं** अमुनाप्रकारेण तं भगवन्तं श्रीनेमिनं **विज्ञप्तवान्** । अमुना केन प्रकारणेत्याह—हे नेमे अयं पाञ्चजन्यं शङ्खं **जलशयं** नारायणं **ऋते** विना अन्यैः पुंभिः **न पूर्यते** न पूरयितुं शक्यात ॥३३॥

वहाँ शस्त्रागार में पाञ्चजन्य शंख को देखकर, कौतूहलवश शंख पर निहित दृष्टिवाले एवं कानों को सुख देने की इच्छा वाले अर्थात् शंख ध्वनि सुनने की इच्छा वाले श्री नेमिनाथ ने ज्यों ही उसे ग्रहण करना चाहा त्योंहीं द्वारपाल ने विनय पूर्वक पञ्चांगनमस्कारमुद्रा से युक्त (संज्ञुः) होकर उनसे कहा कि यह शंख श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा नहीं बजाया जा सकता ॥३३॥

तच्चाकर्ण्य स्मितसितमुखः सोदरस्तेजसांशो-
रभ्याशस्थैरनिमिषतमैर्बिस्मयाद्वीक्ष्यमाणः ।
आनन्त्यौजाः स लघु जलजं लीलयाऽधत्त हस्ते
भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं रोपयामास चास्ये ॥३४॥

तच्चाकर्ण्य ० हे जलधर ! च अन्यत् सः श्रीनेमिः लीलया लघु शीघ्रं जलजं शङ्खं हस्तेऽधत्त धृतवान् । च पुनः आस्ये मुखे आरोपयामास आरोपयतिस्म । किंरूपः सः—तत् क्षत्त्युक्तं **आकर्ण्य स्मितसितमुखः** स्मितेन हास्येन सितं उज्जवलंमुखं यस्य सः । पुनः किंरूपः—**तेजसा** महसा **अंशोः** सूर्यस्य **सोदरः** भ्रातृसमानः । पुनः किंरूपः—**अभ्याशस्थैः** समीपस्थैः पुरुषैः **अनिमिषतमैः** अत्यर्थं मेषोन्मेषरहितैः **सद्भिः विस्मयात्** आश्चर्यात् **वीक्ष्यमाणः** विलोक्यमानः तथा **आनन्त्यौजाः** आनन्त्यं अनन्तं ओजो बलं यस्य सः । किंरूपं **जलजं—भूरिस्फूर्जत् परिचितगुणं** भूरिः हैम्नः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्फूर्जच्चच्चत् परिचितो बद्धो गुणो दवरको यस्मिन् स तं । अन्योऽपि सूर्यस्य सोदरः । ऐरावतो गजः **जलजं** कमलं **हस्ते** शुन्डा दण्डे **धत्त** दधाति च पुनः **आस्ये** मुखे **रोपयामास** आरोपयति । किंरूपः ऐरावतः—सितमुखः अनिमिषतमैः प्रकृष्टदेवैर्विस्मयाद्वीक्ष्यमाणः तथा आनन्त्यौजाः किंरूपं जलजं कमलं—भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं भूरयो बहवः स्फुरन्तो लसन्तः परिचिताः परिचितिं प्राप्ताः गुणाः केसरलक्षणा यस्मिन् तत् ।।३४।।

प्रतीहार के (उन) वचनों को सुनकर मन्दहास्य से (दंतपंक्ति के दिखाई देने पर) श्वेत मुखवाले सूर्य के सहोदर सदृश तेजयुक्त, अनन्त बलशाली, समीपस्थ लोगों द्वारा आश्चर्य (एवं) अपलक दृष्टि से देखे जाते हुए (उन) श्री नेमिनाथ ने स्वर्णदीप्तियुक्त गुण वाले इस पाञ्चजन्य शंख को विनोदपूर्वक हाथ में धारण कर मुख में लगा लिया ।।३४।।

तेन स्निग्धाञ्जनघनघनाः सोऽतिशैलेयदध्ना
लोकेशो वाङ्मनसविषयं व्यानशे श्रीविशेषम् ।
ज्यौत्स्न्यामन्तःशरदममलं व्योम पूर्णेन्दुनेव
प्रत्यग्रो वाभ्युदयित इव त्वं बलाकाकुलेन ।।३५।।

तेन स्निग्धाञ्जन ० हे जलधर ! **स लोकेशः** लोकस्वामी श्रीनेमिः तेन कृत्वा **अवाङ्मनसविषयं श्रीविशेषं व्यापशे** प्राप । न विद्यते वाङ्मनसोः विषयो गोचरो यस्याऽसौ अवाङ्मनसविषयस्तं । किंरूपः सः—**स्निग्धाञ्जनघनघनः** स्निग्धं अरुक्षं यदञ्जनं कज्जलं घनो मेघस्तद्वद्घनं शरीरं यस्य सः । किंरूपेन तेन—**अतिशैलेयदध्ना** अतिक्रान्तशैलेयं शिलासमानं दधिस्तेन स अतिशैलेयदधिः तेन अतिशैलेयदध्ना अत्युज्ज्वलवर्णत्वात् । किमिव—व्योमेव यथा **अमलं** निर्मलं **व्योमं** आकाशं **अन्तःशरदं** शरदोमध्ये **ज्यौत्स्न्यां** पूर्णिमा रात्रौ **पूर्णेन्दुना** कृत्वा श्रीविशेषं व्यश्नुते प्राप्नोति । च पुनः हे **जलधर त्वमिव** यथा **त्वं प्रत्यग्रो** नवीनः **अभ्युदयितः** सन् उदयंप्राप्तः सन् **बलाकाकुलेन** श्रीविशेषं व्यश्नुषे ।।३५।।

शंख को मुँह में धारण करने पर श्रीनेमि प्रभु की अतिशय शोभा का वर्णन—

हे मेघ ! बर्फ से भी अधिक शुभ्र उस शंख को धारण करने से काले, घने मेघवर्ण की तरह शरीर वाले श्री नेमि वाणी और मन से अकथनीय विशेष शोभा से उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार शरद ऋतु की रात्रि में पूर्णचन्द्र से युक्त निर्मल आकाश अथवा वर्षारम्भकाल, (आषाढ़) में बगुला समूह से युक्त होकर तुम सुशोभित होते हो ।।३५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मिन्नीशे धमति जलजं छिन्नमूलद्रुवत्ते
शस्त्राध्यक्षाः सपदि विगलच्चेतनाः पेतुरुर्व्याम्
आश्वं चाशु व्यजयत मनो मन्दुराभ्यः प्रणश्य-
न्मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च ॥३६॥

तस्मिन्नीशे ० हे जलद ! तस्मिन् ईशे श्रीनेमिनि **जलजं** शङ्खं **धमति** सति पूरयन्ति सति इति सर्वत्र उक्तेरादौ योज्यं । **शस्त्राध्यक्षाः** शस्त्ररक्षकपुरुषाः **सपदि** शीघ्रं **उर्व्यां** धरित्र्यां **पेतुः** अपतन् । किं भूताः शस्त्राध्यक्षाः—**विगलच्चेतनाः** विगलंती चेतना येषां ते विगलच्चेतनाः । किंवत्—**छिन्नमूलद्रुमवत्** यथा छिन्नमूल-द्रुमाः वृक्षाः सपदि उर्व्यां पतन्ति । च पुनः **आश्वं** अश्वसमूहः **आशु** शीघ्रं **मन्दुराभ्यः** वाजिशालाभ्यः **प्रणश्यत्** पलायनं कुर्वन् **मनः** मनश्चित्तं **व्यजयत** जिगाय अतिकृतपलायनत्वात् । च पुनः **हास्तिकेन** हस्तिसमूहेन **चतुरोपाश्रयः** चतुरागज-शाला तद्रूपः उपाश्रयः स्थानं चतुरोपाश्रयं **अमुचत** त्यक्तः । **केनेव—मूढात्मेव** यथा मूर्खात्मना मूर्खेण चतुरोपाश्रयः दक्षस्थानं मुञ्चयति ॥३६॥

श्री नेमिनाथ द्वारा शंख बजाने के प्रभाव का वर्णन

श्रीनेमि प्रभु के शंख बजाते ही शस्त्राध्यक्ष, जड़ से कटे हुए वृक्ष की भाँति, संज्ञाशून्य होकर, तत्काल पृथ्वी पर गिर पड़े। अश्वशाला छोड़कर भागते हुए घोड़ों ने अपनी गति से मन को भी पराजित कर दिया, हाथियों ने भी गजशाला का उसी प्रकार त्याग कर दिया, जिस प्रकार मूर्ख, विद्वान् का आश्रय छोड़ देता है अर्थात् भयवश विद्वानों की सभा से चला जाता है ॥३६॥

हारावाप्तीरदधत हृदीवानने पौरनार्यो
योद्धुर्गुच्छच्छदवदपतन् फाल्गुनेऽस्त्राणि पाणेः ।
प्राकाराग्र्याण्यपि विजगलुर्गण्डशैला इवाद्रेः
पूच्चक्रे च प्रतिरुतनिभाद्भूरिभीरुज्जयन्तः ॥३७॥

हारावाप्ती० हे जलधर ! **पौरनार्यः** नगरवनिताः । **हृदीव** हृदयस्थल इव **आनने** मुखे **हारावाप्तः अदधत्** हारस्य अवाप्तयः प्राप्तयो हारावाप्तयः । ताः पक्षे हा इति रावस्य शब्दस्य आप्तयो हारावाप्तयः ताः । हे मेघ **योद्धुः** सुभटस्य **पाणेः** करात् **अस्त्राणि** अपतन् । किंवत्— **फाल्गुने** फाल्गुनमासे गुच्छस्य वृक्षस्य छदानि पर्णाः निपतन्ति । हे मेघ **प्राकाराग्र्याण्यपि** दुर्गाग्रविभागा अपि **अद्रेः** पर्वतस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण्डशैला इव विजगलुः अपतत्तित्यर्थः । अथवा इव शब्दस्य अप्यर्थत्वात् अद्रेः गण्डशैलाः अपि विजगलुः इति व्याख्येयं । **च** पुनः **उज्जयन्तः** श्रीरैवतकः **प्रतिरुत-निभात्** प्रतिशब्दमिषात् **पूच्चक्रे** पूत्कारं चकार । किंरूपः उज्जयन्तः— **भूरिभीः भूरिः** प्रचुरा **भीर्भयं** यस्य स तस्मिन् जलजं धमतीति सर्वत्र योज्यं ॥३७॥

नगर की स्त्रियों ने वक्षस्थल पर धारित हार की तरह मुख में हा-हा शब्द धारण किया अर्थात् वे हाहाकार करने लगीं । फाल्गुन मास में (गिरते हुए) वृक्षों के पत्तों की तरह सैनिकों के हाथों से अस्त्र गिरने लगे । पर्वतों की चोटियों की तरह महलों के शिखर ढहने लगे, शंख की ध्वनि से अति व्याकुल होकर रैवतक भी प्रतिध्वनि के बहाने नाद करने लगा अर्थात् शंख की प्रतिध्वनि उस पर्वत से आने लगी ॥३७॥

तस्थुर्वीराः क्षितिपतिसभे यद्भविष्या ह्रियैवा-
स्थानस्यान्तः किमिति चकितोऽधोक्षजः क्षोभमार्षीत् ।
किं वा कम्बोर्नगरवरणे मूर्च्छति प्रौढनादे
सर्वं पारिप्लवमिति तदा तथ्यतामाप वाक्यम् ॥३८॥

तस्थुर्वीरा० हे जलधर ! **वीराः** सुभटा **क्षितिपतिसभे** क्षितिपतेः सभा क्षिति-पतिसभं । तस्मिन् क्षितिपतिसभे राजसभायां **यद्भविष्याः**सन्तः दैवपराःसन्तः **ह्रियैव** लज्जयैव **तस्थुः** स्थितवन्तः । विधिर्यद्विधातोतत्करिष्यत्येव । किमर्थंहास्यार्थं त्रस्यात् । इति मत्वा स्थिताः इत्यर्थः । हे मेघ **अधोक्षजः** कृष्णः **आस्थानस्य** सभामण्डपस्य **अन्तर्मध्ये किमिति** अरेकिंजातं किंजातमिति **चकितः**सन् सभयःसन् **क्षोभं** आप प्राप । हे मेघ **वा** अथवा किं अधिकं उच्यते **कम्बोः** शङ्खस्य **प्रौढना-देन** प्रकृष्टशब्देन **नगरवरणे** नगरप्राकारे **मूर्च्छतिसति** गुमगुमायमानेसति **सर्वं पारिप्लवं** चञ्चलं **इति वाक्यं तदा** तस्मिन्नवसरे **तथ्यतां आप** सत्यतां प्राप ॥३८॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

शंख की गम्भीर ध्वनि से डरकर "अब जो होने वाला है वही होगा" इस भयाक्रान्त लज्जा के कारण ही वीर लोग राजसभा में ठिठके रह गये, 'यह क्या हो गया' इस प्रकार चकित होकर श्री कृष्ण व्याकुल हो उठे अथवा अधिक क्या कहा जाये, नगरों के परकोटों के हिलने से 'सब कुछ अस्थिर है' यह वाक्य चरितार्थ होने लगा ॥३८॥

जानंल्लोके स जलजतया क्लेशबीजं कृपालुः
कम्बुं हित्वाऽपि हि जलशयास्थानमार्षीदथेशः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेमीशोपक्रममिदमिति ज्ञातपूर्वी मुरारि-
र्योग्याभूमौ भुजबलपरीक्षार्थमाह्वास्त तं च ॥३९॥

जानँल्लोके० हे जलद ! अथ अनन्तरं **सः** ईशः श्रीनेमिनाथः **जलशयास्थानं** कृष्णसभामण्डपं डलयोरैक्यत्त्वात् **जलशयास्थानं** मुखस्थानं वा **आर्षीत्** प्राप । किं कृत्वा—**कम्बुं** शङ्खं **हित्वा** परित्यज्य । किंकुर्वन्–हि निश्चितं **लोके** जगति **जलजतया** जलोत्पन्नतया वा **क्लेशबीजं** अनर्थमूलं जानन्नपि । किंभूतः सः— **कृपालुः** करुणापरः । हे जलद **च** पुनः **मुरारिः** कृष्णः **योग्याभूमौ** मल्लखोटके **भुजबलपरीक्षार्थं** तं श्रीनेमिनं **आह्वास्तस्येर्द्धापूर्वकं** आकारयामास । किंरूपोमुरारिः– **इतिज्ञातपूर्वंपूर्वंज्ञातवान्** इतीति किं इति **नेमीशोपक्रमं** नेमीश एव उपक्रमं मूल-कारणं यस्य तत् । अत्रापिशब्दस्यायं भावः यद्जडजं अनर्थमूलं मत्त्वापि जडशया-स्थानं गत इति ॥३९॥

परमकृपालु श्री नेमिप्रभु उपर्युक्त सभी दुःखों का मूल उस शंख ध्वनि को जानकर, उसे त्यागकर श्रीकृष्ण को राजसभा में आ पहुँचे। यह प्रलयंकारी स्थिति इनका ही कार्य है, (यह) पहले से जानते हुए श्रीकृष्ण ने (उनके) भुजबल की परीक्षा हेतु मल्लभूमि में उनका आह्वान किया ॥३९॥

ध्यात्वा किञ्चिन्मनसि स विभुः श्रीपतिं स्माह बन्धोऽ-
न्योऽन्यं दोष्णोर्नमनविधिनैवावयोरस्तु सेयम् ।
साहस्राणामितरजमवन्नौत्तराधर्यवृत्तं
धत्तेऽभिख्यां निकषकषणं सन्मणीनामिवादः ॥४०॥

ध्यात्वा कि० हे जलधर ! **स विभुः** श्रीनेमि **मनसि** चित्ते **किञ्चित् ध्यात्वा** चिन्तयित्वा । **श्रीपतिं** कृष्णं **आहस्म** उवाच । हे **बन्धो** बान्धव **आवयोः** आत्मनोः **अन्योन्यं** परस्परं **दोष्णोः** भुजयोः **नमनविधिनैव** नम्रीकरणप्रकारेणैव **सा इयं** त्वया कथ्यमाना भुजबलपरीक्षा **अस्तु** भवतु । **साहस्राणां** सहस्रयोधिनां-पुरुषाणां **इतरजनवत्** सामान्यलोकवत् **अदः औत्तराधर्यवृत्तं** एतत् **औत्तः** योधाभाव सम्भव-चरित्रं **अभिख्यां** शोभां **न** धत्ते । केषामिव— **सन्मणीनामिव** यथा सन्मणीनां प्रधानरत्नानां **निकषकषणं** कषपट्टघर्षणं अभिख्यां न दधाति ॥४०॥

उस नेमिप्रभु ने मन में विचारकर श्रीकृष्ण से कहा हे बन्धु ! हजारों से लड़ने की क्षमता रखने वाले हम लोगों को सामान्य लोगों की तरह मल्ल युद्ध करना उसी प्रकार शोभा नहीं देता जैसे चन्द्रकान्त आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणियों को कसौटी पर रखना शोभा नहीं देता, अतः हम दोनों में कौन किसका हाथ मोड़ देता है, इसी से हम दोनों के बल की परीक्षा हो जाये ॥४०॥

ओमित्युक्त्वा स्थितवति पुरः केशवे संमुखीनः
स्वाम्यप्यस्थादतरलतनुर्योगनिद्रामवाप्तः ।
द्वावप्येतावथ दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्ती
बभ्रासाते इव नगपती सङ्गतावञ्जनाख्यौ ॥४१॥

ओमित्युक्त्वा० हे जलद ! **स्वाम्यपि** श्रीनेमिरपि **संमुखीनः** संमुखोऽस्थात् स्थितवान् । क्व सति—**केशवे** कृष्णे **ओम** इति भवतु **इत्युक्त्वा** पुरोऽग्रे **स्थितवति** सति । किंरूपः स्वामी—**अतरलतनुः** अतरला निश्चला तनुः कायो यस्य असौ अतरलतनुः क्षोभाभावात् । उत्प्रेक्ष्यते-**योगनिद्रां आप्त इव** प्राप्त इव । अथ एकत्र मिलनानन्तरं हे मेघ **एतौ द्वावपि** श्रीनेमिकृष्णौ **बभ्रासाते** शोभतेस्म । कीदृशौ एतौ-**दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्ती** दशधनुः प्रांशुः दशधनुरुच्चैस्तराष्टिांशुवत् सिद्धान्त प्रसिद्धनील रत्नवत्मूर्तिर्ययोस्तौ । किंभूतौ एतौ उत्प्रेक्ष्यते—**अञ्जनाख्यौ** अञ्जन-नामानौ **सङ्गतौ** एकत्रमिलितौ **नगपती इव** पर्वताविव ॥४१॥

"अच्छा ठीक है" इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण के खड़े होने पर योग-निद्रा को प्राप्त निश्चल शरीर वाले श्री नेमिप्रभु श्रीकृष्ण के सम्मुख खड़े हो गये। दस धनुष की ऊँचाई वाले नीलमणि की कान्ति से युक्त शरीर वाले दोनों श्रीकृष्ण और नेमिनाथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अञ्जन नाम के दो पर्वत ही एकत्रित हुए हों ॥४१॥

दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तराया
व्याप्तानन्ताः परिहृतगवोऽनिर्निमेषाक्षिलक्ष्याः ।
मर्त्यामर्त्याः समगमत तौ तत्र चित्रीयमाणा
रोदःखण्डे लघु निशमकाः स्थेयवन्निर्विशेषाः ॥४२॥

दूरापास्तस्फु० हे जलधर ! **मर्त्यामर्त्याः** मनुष्यदेवाः **रोदःखण्डे** भूमिव्योम्नो-रन्तराले **लघु** शीघ्रं **समगमत** मिलितवन्तः । किंरूपाः मर्त्यामर्त्याः—**तत्र** योग्याभूमौ **तौ** द्वौ नेमिकृष्णौ **निशमकाः** विलोकयितुकामाः । पुनः किंरूपाः—**चित्रीयमाणाः** आश्चर्यंकुर्वाणाः । पुनः किंरूपाः—**स्थेयवत् सम्यवत् निर्विशेषाः** पक्षपातरहिताः तथा **दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तरायाः** दूरे दूरप्रदेशे अपास्तास्त्यक्ताः स्फुटाः प्रकटाः रसाः शृंङ्गारादयः कलाः लेखितपचिताद्याः केलिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्दोलनादि क्रीडा कृत्यान्तराश्च कृत्यान्तराणां व्यवसायादिकार्याणां आयो लाभो यस्तदेव पक्षे। दूरेपास्त स्फुटरसकलाकेलिः प्रकटशृङ्गाररसकामस्यकृत्यानिकार्याण्येव अन्तराः विघ्नाः यैस्तैः। पुनः किंरूपाः—व्याप्तानन्ताः व्याप्ता अनन्ता पृथ्वी यैस्ते। देवपक्षे = व्याप्तं अनन्तं आकाशं यैस्ते तथा परिहृतगवो निश्चलाभ्यां परिहृता गौर्वाणी यैस्ते तथा अनिर्निमेषाक्षिलक्ष्याः निर्निमेषाभ्यां अक्षिभ्यां लक्ष्यं विलोकनं येषां ते। पक्षे-निर्निमेषे मेषोन्मेषरहिते अक्षिणी नेत्र लक्ष्यं चिह्नं येषां ते ॥४२॥

शृंगारादि रसों को उत्पन्न करने की कला, क्रीड़ा आदि को छोड़कर (अर्थात् अपने समस्त कृत्यों को छोड़कर) मनुष्य और देवगण श्रीकृष्ण नेमि (के बल परीक्षण को) पक्षपात रहित, आश्चर्य युक्त, अपलकदृष्टि से देखने हेतु चुपचाप पृथिवी और आकाश मण्डल में शीघ्र ही एकत्रित हो गये ॥४२॥

अग्रे भर्तुर्निजभुजमथो मत्तहस्तीव हस्तं
व्यातत्यास्थाद्यदुपरिवृढो दक्षिणं पुष्कराग्रम् ।
यस्य द्युम्नाम्बुधिपरतटं राजकान्यप्यवापुः
स्कन्धावारैः सह नहि परोलक्षसद्यानपात्रैः ॥४३॥

अग्रे भर्तु० हे जलद! अथ अनन्तरं यदुपरिवृढः कृष्णः भर्तुः श्रीनेमिनः अग्रे दक्षिणं निजभुजं व्यातत्य विस्तार्य अस्थात् स्थितवान्। क इव—मत्तहस्तीव, यथा मत्तहस्ती हस्तं शुण्डादण्डं व्यातत्य तिष्ठति। किंरूपं भुजं—पुष्कराग्रं पुष्करेणरेषारूप कमलेन उपलक्षणत्वात् अन्यैरपि ध्वजवज्रकुश शङ्खचक्रादिभिः सल्लक्षणैः अग्र्यः प्रधानो यः स तं। किंरूपं हस्तं = शुण्डादण्डं पुष्करेण अग्रविभागेन अग्र्यः प्रधानः पुष्कराग्र्यस्तं। हे जलधर राजकान्यपि राजसमूहा अपि हि निश्चितं स्कन्धावारैः सह महासैन्यैःसह यस्य कृष्णदक्षिणभुजस्य द्युम्नाबुधिपरतटं द्युम्नस्य बलस्य अम्बुधिः समुद्रस्तस्य परतटं पर पारं न अवापुः न प्रापुः। किंरूपैः स्कन्धावारैः—परोलक्षसद्यानपात्रैः परोलक्षानिलक्षातीतानि सन्ति शोभनानि यानानि सुखासनादीनि पात्राणि गजाश्वरथादीनांसमूहा येषु तानितैः। अन्येऽपि किल स्कन्धावारैः लोकप्रसिद्धमहाप्रवहणैः कृत्वा अम्बुधेः परतटं न प्राप्नुवन्ति। किं भूतैः स्कन्धावारैः परोलक्षानि सन्ति यानि पात्राणि लक्षप्रवहणानि येषु तैस्तैः ॥४३॥

श्रेष्ठ युद्ध साधनों से युक्त सेनाओं के द्वारा लाखों राजागण भी जिस भुजा के बल रूपी समुद्र को पार नहीं पा सकते, अपने उस दक्षिण हाथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को यदुकुल श्रेष्ठ श्रीकृष्ण श्रीनेमि के समक्ष फैलाकर उसी प्रकार खड़े हो गये जैसे मतवाला हाथी अपनो सूंड को फैलाता है ॥४३॥

हस्ते सव्ये स्पृशति किमपि स्वामिनोऽनेकपस्या-
नंस्तास्कन्धं हरिभुजलता सा स्वयं स्तब्धितापि ।
मेरुं दण्डं क्षितितलमथ च्छत्रमाधातुमीष्टे
यस्तस्यैतत्किमिति च सुरास्तत्र संप्रावदन्त ॥४४॥

हस्ते सव्ये० हे जलधर ! सा विस्तारिता **हरिभुजलता** कृष्णबाहुवल्ली **स्तब्धितापि** स्तब्धभावं प्रापिता । **स्वयं** स्वयमेव **आस्कन्धं** स्कन्धप्रदेशं यावत् **आनंस्त** नम्रीभूता । क्वसति—**स्वामिनः** श्रीनेमिनः **सव्येहस्ते** वामेकरे **किमपि** स्वल्पमपि **स्पृशतिसति** स्पर्शंकुर्वतिसति । किं भूतस्य स्वामिनः—**अनेकपस्य** अनेकान् बह्वन् पातीति रक्षतीति अनेपकस्तस्य न तु अनेपकस्यगजस्य **हस्ते** शुण्डादण्डे किमपि स्तोकमपि स्पृशति अन्यापि लतास्तब्धितापि स्वयमेव **आस्कन्धं** वृक्षस्य स्थुडं यावत् आनम्यते स्वयं नम्रीभवतीत्यर्थः । हे जलधर अथ भुजानमनानन्तरं **च** पुनः **तत्र** योग्याभूमौ **सुराः** देवाः इति **संप्रावदन्त** एकत्र मिलित्वाप्रौढस्वरेण इति अकथयंत । इतीति किम्—भो लोकास्तस्य भगवतः श्रीनेमेः एतत्किमुच्यते यो भगवान् **मेरुंदण्डं** क्षितितलं **छत्रं** च **आधातुं** कतुं **ईष्टे** समर्थो भवति ॥४४॥

सभी के रक्षक भगवान् नेमिनाथ के वाम हस्त से स्पर्श करते ही श्रीकृष्ण की अत्यन्त सुदृढ़ की हुई भुजलता कन्धे तक स्वयं ही झुक गई। इसको देखकर वहाँ देवताओं ने कहा कि जो मेरुपर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बना सकता है, उसके लिए यह श्रीकृष्ण की भुजा को झुकाना क्या है अर्थात् कोई बड़ी बात नहीं है ॥४४॥

मद्दोर्दण्डोऽप्यहह सहसा नागलक्षैरनम्यः
श्रीशैवेयं प्रति कथमसौ पद्मतन्तूयते स्म ।
यद्वा न्यायोऽजनि विधिवशात्काकतालीयकोऽसौ
तत्कृत्वाऽस्य प्रतिकृतिमहं तुल्यवीर्योऽप्यसानि ॥४५॥

मद्दोर्दंण्डौ ०आस्यच्छा० इति युग्मम् । हे जलधर ! **त्रैलोक्येशः** श्रीनेमिः **वामंबाहुं** दक्षिणेतरभुजं **आयंस्त** विस्तारयामास । किरूपं वामं बाहुं **तृणितकुलिशं** तृणितं तृणप्रायकृतं कुलिशं वज्रं येन स तं । कस्य किं कुर्वतः—**वामबाहुं** आयंस्त **देवकीनन्दनस्य** कृष्णस्य **आस्यच्छायैः** मुखविकारैः कृत्वा **इति निगदतः** सतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्यस्य मुखस्य छाया आस्यछायानियतैः आस्यछायैः अनेक विकल्पचिन्तनेन छायायाः विविधवर्णत्वात् बहुवचनं इति किं अहह इति खेदे अयं **मद्दोर्दण्डो** मद्भुजः **श्रीशैवेयंप्रति** श्रीनेमिनंप्रति कथं **पद्मतन्तूयते स्म** । किं पद्मतन्तुवदाचरितः । किंरूपो मद्दोर्दण्डः—**सहसा** शीघ्रं **नागलक्षैरपि** गजलक्षैरपि **अनम्यः** नमयितुमशक्यः यद्वा अथवा **विधिवशात् असौ काकतालीयकोन्यायः अजनि** जातः । तत्तस्मात्कारणात् **अहं अस्य** श्रीनेमेः **प्रति कृतं कृत्वा** कृतस्य प्रतिकरणं विधाय **तुल्यबीर्योऽपि असानि** समानबलोऽपि भवति । हे जलद **च** पुनः **एष भगवान्** श्रीनेमिः **तदा** तस्मिन् प्रस्तावे हस्तविस्तारणसमये अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य **कारुण्येन** दयाभावेन **आशु** शीघ्रं **हस्तावलम्बं** हस्ताधारं **वित्सुखि** दानमिच्छुरिव **अशुभत्** शुशुभे । **अन्तःपङ्कं** पङ्कमध्ये आकुलितः आशुकुलीभूतः **कलितश्च** आश्रितः **आतङ्को** भयो येन तस्य ॥४५-४६॥

अरे, लाखों हाथियों से भी अनम्य हमारी यह भुजा श्रीनेमि के समक्ष अकस्मात् कमलनाल सदृश कैसे हो गई ? अर्थात् कमलनाल की तरह कैसे झुक गई ? सम्भवतः "काकतालीय न्याय" अर्थात् दैवयोग से ही ऐसा हुआ है, तो (अब) मैं भी इनकी भुजा को झुकाकर क्यों न उनके तुल्य बलवाला हो जाऊँ ? ॥४५॥

आस्यच्छायैरिति निगदतो देवकीनन्दनस्य
त्रैलोक्येशस्तृणितकुलिशं वाममायंस्त बाहुम् ।
अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य दित्सुः
कारुण्येनाशुभदिव तदा चैष हस्तावलम्बम् ॥४६॥

मुखाकृति से ही श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्थात् मुखाकृति से ही नेमिप्रभु ने कृष्ण के भावों को जानकर, वज्र को भी तृण बना देनेवाले अपने वाम हस्त को श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा दिया । उस समय श्री नेमि ऐसे शोभित हो रहे थे मानो दलदल के बीच फँसकर भय से काँपते हुए (किसी) प्राणी को दयावश हाथ का सहारा दे रहे हों ॥४६॥

पूर्वं पाष्णौं तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठा-
दुच्चैर्नीत्वा भुजबलचयीः पीडयन् सर्वदेहम् ।
अत्यायस्यन्नपि [illegible]भापाणि नानीनमत्तां
वाहामब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्रामिवेभः ॥४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वं पार्ष्णी० हे जलद ! हरिः कृष्णः **उभापाणि** उभाभ्यांपाणिभ्यां **कृत्वा** तां भगवद्विस्तारितांबाहां **न अनीनमत्** न नमयतिस्म । हरिः किं कुर्वन्—**अति आयस्यन्नपि** अत्यर्थं आयासं कुर्वन्नपि तथा **सर्वदेहंपीडयन्** । किं कृत्वा—**पूर्वं** प्रथमं **पार्ष्णी तदनु** पश्चात् **सकले** सम्पूर्णे **गोहिरे** पादतले **भूमिपीठात् उच्चैर्नीत्वा** ऊर्ध्वीकृत्य । किंरूपो हरिः—**भुजबलचयी** भुजबलचयं इच्छतीति भुजबलचयीः । क इव—इभ इव । इभो गजः **अब्धिप्रसृतहिमवत् दीर्घदंष्ट्रा** न नमयति । **अब्धौ** समुद्रे प्रसृता विस्तारं प्राप्ता हिमवन्नाम्न पर्वतस्य दीर्घा सरला दंष्ट्रा दाढा ताम् ॥४७॥

पहले पैरों की एड़ी को तत्पश्चात् समस्त पाद मूलभाग को उठाकर अपनी भुजाओ में बल संग्रह करने की इच्छा करते हुए सारे शरीर को झकझोरते हुए दोनों हाथों से अत्यन्त प्रयास करने पर भी श्रीकृष्ण उन श्रीनेमि की भुजा उसी प्रकार नहीं झुका पाये जिस प्रकार समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण हुए हिमालय की दीर्घ चोटी को हाथी नहीं झुका पाता है ॥४७॥

अद्रेः शाखां मरुदिव मनाक्चालयित्वा सलीलं
स्वामी बाहां हरिमिव हरिं दोलयामास विष्वक् ।
तुल्यैर्गोत्राज्जयजयरवोद्घोषपूर्वं च मुक्ताः
सिद्धस्वार्थं दिवि सुमनसस्तं तृषेवाभ्यपप्तन् ॥४८॥

अद्रेः शाखां ०हे जलधर ! **स्वामी** श्रीनेमिनाथ **बाहां सलीलं** यथा भवत्येवं **मनाग्** ईषत् **चालयित्वा** कम्पयित्वा **हरिमिव** मर्कटमिव **हरिं** कृष्णं **विष्वग्** समन्तात् **दोलयामास** हि चालयामास । क इव—**मरुदिवे**, यथा मरुद् वायुः **अद्रेः** वृक्षस्य **शाखां** मनाग् चालयित्वा हरिं दोलयति । हे जलद **च** पुनः **सुमनसः** पुष्पाणि **दिवि** आकाशे तं श्रीनेमिनं अभि प्रति **अपप्तन्** पेतुः । उत्प्रेक्ष्यते—**तृषेव** तृष्ण्येव अपप्तन् । किं रूपं तं—**सिद्धस्वार्थं** सिद्धो निष्पन्नः स्वार्थः आत्मार्थो भुजनश्रीकरणलक्षणो यस्य स तं । किं विशिष्टाः सुमनसः—**गोत्रात् तुल्यैर्नभिः** समानैः एतावता सुमनोभिः देवैः**जयजयरवोद्घोषपूर्वं** जयजयशब्दपतनपूर्वंमुक्ताः अन्येपि किल गोत्रात् तुल्यैः एतावता गोत्रिभिरेव **मुक्ताः** निष्कासिता सन्तः सिद्धस्वार्थं पुरुषंप्रति पतन्ति गच्छन्ति सिद्धो निष्पन्नः स्वार्थोयस्मात् तम् ॥४८॥

जिस प्रकार वायु वृक्ष की शाखा को हिलाकर उस पर बैठे हुए बन्दर को भी कम्पित कर (झकझोर) देता है उसी प्रकार श्रीनेमि प्रभु ने क्रीड़ापूर्वक अपनी बाहु को थोड़ा सा हिलाकर श्रीकृष्ण को झकझोर दिया। उस समय आकाश में जय जयकार पूर्वक देवताओं द्वारा प्रक्षिप्त पुष्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीनेमि के पास उसी प्रकार आ गिरे जैसे अपने गोत्र से निष्कासित मनुष्य स्वार्थसिद्धि हेतु आश्रयदाता की शरण में, जयकार करते हुए जाता है ॥४८॥

वीक्षापन्नोऽप्यधिहसमुखो दोषमुन्मुच्य दोष्मा-
नङ्कोपालिं दददिति हरिः स्वामिनं व्याजहार ।
भ्रातः ! स्थाम्ना जगति भवतोऽजय्यनेवासमद्य
प्रद्युम्नाग्नी इव मधुनभःश्वाससाहायकेन ॥४९॥

वीक्षापन्नो ० हे जलधर । **हरिः** कृष्णः **स्वामिनं** श्रीनेमिनं प्रति इति **व्याजहार** इत्युवाच । हरिः किं कुर्वन्—**दोष** श्रीनेमि भुजं **उन्मुच्य** परित्यज्य **अङ्कोपालिं** आलिङ्गनं ददत् । किंरूपो हरिः—**वीक्षापन्नोऽपि** विलक्षोऽपि **अधिहसमुखः** अधि अधिको हसो हास्यं मुखे यस्य सः । पुनः किं रूपो—**दोष्मान्** बलवान् इतीति किं—**हेभ्रातः** हे बन्धो **अद्य** अहं **जगति** विश्वे **भवतः** तव **स्थाम्ना** बलेन **अजय्य एव** अजेय एव **आसं** अभवं । काविव—**प्रद्युम्नाग्नीइव**, यथा कामः वैश्वानरो मधुनभः—**श्वाससाहायकेन** चैतमास पवनसान्निध्येन एव अजय्यो भवतः ॥४९॥

बलिष्ठ श्रीकृष्ण श्रीनेमि की भुजा को मुक्त कर उनका आलिंगन करते हुए बोले हे भाई ! संसार में बसन्त ऋतु की सहायता से काम और हवा की सहायता से अग्नि जिस प्रकार अजेय हो जाते हैं उसी प्रकार आज आप भी हमसे अजेय हुए हैं ॥४९॥

तेनात्यन्तं किमपि हलिनालोच्य सौभ्रातृभाजा
सर्वस्वेच्छाललनविषयेऽभ्यर्थितोऽत्यादरेण ।
भ्राजिष्णुश्रीरथ स विदधन्नर्मकर्माणि जिष्णोः
शुद्धान्तेऽप्यस्खलितगतिकोऽद्वेषरागश्चिखेल ॥५०॥

इति श्रीजैनमेघदूतमहाकाव्ये
प्रथमः सर्गः
॥ १ ॥

तेनात्यन्तं ०हे जलधर ! अथ अनन्तरं सः श्रीनेमिः **जिष्णोः** कृष्णस्य **शुद्धान्तेऽपि अन्तःपुरेऽपि अस्खलितगतिकःसन्** गमनःसन् **चिखेल** क्रीडितवान् । किंरूपः सः—तेन जिष्णुना **हलिना** बलभद्रेण सह **किमपि** अत्यन्तमालोच्य अत्यादरेण **सर्वस्वेच्छाललनविषये अभ्यर्थितः** सर्वया **स्वेच्छया** आत्मेच्छया **ललने** क्रीडने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रार्थितः । किंरूपेण तेन—**सौभ्रातृभाजा** : किंरूपः सः—**भ्राजिष्णुः** श्री शोभनशील विभुषः । किं कुर्वन्—**नर्मकर्माणि** हास्यकर्माणि **विदधत्** कुर्वन् । **पुनः** किं रूपः—**अद्वेषरागः** रागद्वेषरहितः ॥५०॥

इति श्री विधिपक्ष मुख्याभिधान श्रीमदञ्चलगच्छेश्वर श्री जय कीर्तिसूरि शिष्य पण्डित महौमेरुगणि विरचितायां मेघदूतमहाकाव्य बालावबोधवृत्तौ नेमीश्वरबालकेलिवर्णनोनाम प्रथमः सर्गः ॥

बलदेव के साथ कुछ गुप्त मन्त्रणा कर मोहभाव से युक्त श्रीकृष्ण द्वारा (श्रीनेमि) अत्यन्त आदर से खेलने के लिए आमन्त्रित किये गये। देदीप्यमान शोभावाले राग-द्वेष से रहित श्रीनेमि प्रभु ने श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में अबाधगति से (निर्विघ्न) हास्यक्रीड़ा को अर्थात् खेले ॥५०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयः सर्गः

एवं दिष्टे व्रजति जनयन्नध्वनीनाङ्गनानां
विश्वस्तत्वं यमनियमभीदायको व्याप्तविश्वः ।
विश्वाधीशं प्रति रतिपतेरभ्यमित्रीणतस्तं
प्रादुर्भूतः सुरभिरभितः किं नु नासीरवीरः ? ॥१॥

एवं दिष्टे ०हे जलधर **एवं** अमुना प्रकारेण **दिष्टे** काले **व्रजतिसति सुरभिः** वसन्तः **अभितः** समन्तात् **प्रादुर्भूत** प्रकटीबभूव । किंरूपः सुरभिः—नु इति उत्प्रेक्ष्यते—**रतिपतेः** कामस्य **किं नासीरवीरःइव** अग्रेसरवीरः इव सुरभिः । किं कुर्वन्—**अध्वनीनाङ्गनानां** पथिकस्त्रीणां **विश्वस्तत्वं जनयन्** उत्पादयन् । पुनः कीदृशः–**यमनियमभीदायकः** यमः द्वादशव्रतानि नियमाः सचित्तनिषेधाद्याः अभिग्रहाः तेषां भियं भयं ददातीति यमनियमभीदायकः **तथा व्याप्तविश्वः** व्याप्ता विश्वा धरित्री येन सः । किं विशिष्टस्य रतिपतेः—**तं विश्वाधीशं** श्रीनेमिनं **प्रति अभ्यमित्रीणतः** संनह्य सम्मुखमागच्छतः । अन्योऽपि किल **अग्रेसरवीरः** पथिकाङ्गनानां विश्वासतां उत्पादयति । नियमवत् कालवत् । नियमेन बन्धनविषये भयं ददाति विश्वं व्याप्नोति च ॥१॥

इस प्रकार विविध क्रीडाओं के द्वारा समय बीतने पर, जगदीश्वर श्री नेमिनाथ को जीतने के लिए, यम नियम को धारण करने वाले तपस्वियों (व्रतियों) को भय देने वाला, कामदेव का सेनानी वसन्त ऋतु पथिकों की स्त्रियों के विश्वास को जाग्रत करता हुआ सभी ओर (हर जगह) उत्पन्न हुआ अर्थात् वसन्त ऋतु का आगमन हुआ । [वसन्त के आने पर तपस्विजन भयभीत हो जाते हैं कि हमारी तपस्या में कहीं विघ्न न आ जाय ? दूर गये परदेशी लोगों की स्त्रियों के मन में विश्वास हो जाता है कि वसन्त ऋतु में मेरा पति अवश्य आएगा ।] ॥१॥

वानस्पत्याः कलकिशलयैः कोशिकाभिः प्रवालै-
स्तस्याराजन्निव तनुभृतो रागलक्ष्मीनिवासाः ।
उद्यन्मोहप्रसवरजसा चाम्बरं पूरयन्तोऽ-
भीकाभीष्टा मलयमरुतः कामवाहाः प्रसस्रुः ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वानस्पत्याः ० ये वृक्षाः पुष्पैर्विना फलन्ति ते **वानस्पत्याः** उच्यन्तेवटोदुंबरप्लक्षादयः । हे जलद वानस्पत्याः **कलकिलशयैः** मनोज्ञकुंपलैः **कोशिकाभिः** टीसिकाभिः **प्रवालैः** पल्लवैः कृत्वा **अराजन्**, शुशुभिरे । कीदृशाः—उत्प्रेक्ष्यन्ते—**तस्य** कामस्य **तनुभूतो** मूर्तिमन्तः **रागलक्ष्मीः निवास इव** । हे जलद **च** पुनः **मलयमरुतः** मलयाचलपवनाः **प्रसस्तुः** अप्रसरन् । किंरूपा मलयमरुत —**उद्यन्मोहप्रसवरजसा अम्बरं** आकाशं **पूरयन्तः उद्यन्** उदयं प्राप्नुवन् मोह ममता येषु एवं विधानि प्रसवानि पुष्पाणि तेषां रजसा रागेण आकाशं व्याप्नुवन्तः । **पुनः** किंरूपाः—**अभीकाभीष्टा** अभीकानां कामिनां अभीष्टा वल्लभाः अभीका तथा **कामवाहाः** स्वेच्छाचारिणः अथ च कामवाहाः कन्दर्पाश्वाः प्रसस्रुः । कीदृशाः कामवाहाः—उद्यन् मोहस्य मूर्छायाः प्रसव उत्पत्तिर्यस्मादेवंविधेन रजसा रेणुना अम्बरं पूरयन्तः तथा अभीकानां निर्भयानां अभीष्टाः अभीका ॥२॥

वसन्त के आने पर नये-नये कोपलों एवं सुन्दर-सुन्दर पत्तों से मुक्त वृक्ष राग पराग रूपी लक्ष्मी के साक्षात् निवास की तरह शोभित हो रहे थे। मन में राग (काम) को उत्पन्न करनेवाले फूलों की रज (अर्थात् पुष्प-पराग कणों) से आकाश को व्याप्त करती हुई कामियों के लिए प्रिय, मलयाचल की हवायें स्वेच्छापूर्वक बह रही थीं अर्थात् ऐसा लग रहा था कि कामदेव के घोड़े स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हुए काम (मोह) रूपी फूलों के राग (पराग) रूपी धूल से पूरे आकाशमण्डल को व्याप्त कर रहे हैं ? ॥२॥

रेजुः क्रीडौपयिकगिरयो राजतालीवनाढ्याः
श्यामाः कामं किञ्शलितनगा निष्कमोचापरीताः ।
सन्नह्यन्तः स्मरनरपतेः केतनव्रातकान्ताः
सिन्दूराक्ता इव करटिनो वर्ण्यसौवर्णवर्णाः ॥३॥

रेजुः क्रीडौ ० हे जलद **क्रीडौपयिकगिरयः रेजुः** शुशुभिरे । क्रीडायाः औपयिकाः योग्याः क्रीडौपयिकाः गिरयः पर्वताः क्रीडौपयिकाश्चतेगिरयश्च क्रीडौपयिकगिरयः । कीदृशाः — **राजतालीवनाढ्याः** राजतालीनां तालवृक्षाणां वनैः काननैः आढ्याः समृद्धाः तथा **कामं** अत्यर्थं **किंशलितनगाः** पल्लवितवृक्षाः तथा **निष्कलेन** सुवर्णकदलीवेष्टिताः । उत्प्रेक्ष्यन्ते—**सन्नह्यन्तः** सज्जीभूतः स्मर **नरपतेः** कामनरेश्वरस्य **करिटिन इव** गजा इव । किंरूपा गजाः—**केतनव्रातः** वैजयन्ती समूहमनोज्ञाः तथा सिन्दूराक्ता सिन्दूरस्वरडिताः तथा **वर्ण्यं सौवर्णवर्णाः** वर्ण्यावर्णयितुं योग्याः सौवर्णाः सुवर्णमय्यो वर्णो गुडियेषां ते **वर्ण्यसौवर्णवर्णाः** ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत श्लोक में कवि ने क्रीड़ा योग्य पर्वतों की उत्प्रेक्षा युद्ध के लिए तैयार कामदेव के हाथियों से की है—

वसन्त के आने पर वनों के कारण काले दीखने वाले क्रीड़ायोग्य पर्वत, कामरूपी राजा के युद्ध के लिए तैयार हाथियों की तरह शोभित हो रहे थे। पर्वतों पर उगे ताड़ के वृक्ष ही उनकी ध्वजायें थीं वृक्षों के नवीन लाल-लाल पत्ते ही उनके शरीर पर लिप्त सिन्दूर एवं वर्णनीय सुनहले केलों की पंक्तियाँ ही उनके दाँतों पर मढ़ा हुआ सोना था ॥३॥

कासारान्तः शुचिखगरुचिः स्मेरराजीवराजी
रेजे राजप्रतिमकमनस्यातपत्रावलीव ।
शोभां भेजुः कुसुमिततमाः कुन्दशालासु गुल्मा
वातोद्धूता मरकतमहादण्डसच्चामराणाम् ॥४॥

कासारान्तः ० हे जलद **कासारान्तः** सरोमध्ये **स्मेरराजीवराजी** विकस्वर-कमलश्रेणिः **रेजे** शुशुभे। किंरूपाः स्मेरराजीवराजी—**शुचिखगरुचिः** शुचौ निर्मले खगे सूर्ये रुचिः इच्छा यस्याः सा अथवा शुचिना निर्मलेन खगेन सूर्येण रुचिः कान्तिः यस्याः सा। पुनः किंरूपा-उत्प्रेक्ष्यते—**राजप्रतिमकमनस्य** राजसमान-कामस्य **आतपत्रावलीव**। किंरूपा—शुचिखगरुचिः शुचिखगवत् राजहंसवत् रुचिः कान्तिर्यस्याः सा अथवा शुचिना सूर्येण खगा आकाशगामिनीरुचिः कान्तिः यस्याः सा। हे जलद **कुन्दशालासुगुल्मा** गुच्छकाः **मरकतमहादण्डसच्चामराणां शोभां भेजुः** आश्रितवन्तः। मरकतस्य नीलरत्नस्य महान्तोदण्डो येषु ते मरकतमहादण्डो। महादण्डाश्चते सच्चामराश्चप्रधानचामराश्च मरकतमहादण्डसच्चामरास्तेषां। किंरूपाः **गुल्माः**—कुसुमिततमाः अत्यर्थं पुष्पिताः तथा **वातोद्धूताः** पवन-चालिताः ॥ ४ ॥

तालाबों में खिले कमल समूह, कामरूपी राजा के छत्र की तरह शोभित हो रहे थे, तथा कुन्द के वृक्षों की शाखाओं पर खिले हुए फूलों के गुच्छे, वायु से प्रकम्पित (हिलने पर) होने से रत्नजटित दण्ड वाले श्रेष्ठ चामर की तरह शोभित हो रहे थे ॥४॥

संक्रीडन्तः सुषममभितो राजहंसाः सरस्सु
प्राक्रीडन्त प्रति परपुरं कम्बवो नु प्रवेश्याः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूताच्चूतान्तरमभियती रक्ततुण्डायताली
लीलां दध्रे वलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्नः ॥५॥

संक्रीडन्तः ० हे जलद **सरस्सु** सरोवरेषु **अभितः** समन्तात् **राजहंसाः प्राक्रीडन्तः** अरमन्तः । कीदृशाः राजहंसाः—**सुषमं** सातिशायिशोभं यथा भवति तथा **संक्रीडन्तः** अव्यक्तशब्दं कुर्वन्तः । किंलक्षणाः उत्प्रेक्ष्यन्ते—**प्रतिपरपुरं** शत्रुपुरं प्रति अथवा परस्य पुरं शरीरं प्रति प्रवेश्याः प्रवेशयोग्या अर्थात् कामराजस्य **कम्बव इव** शङ्खा इव । हे जलधर चूताच्चूतान्तरं सहकारान्तरं अन्यं सहकारान्तरं **अभजत्** आश्रयन्ती **रक्ततुण्डायताली** रक्ततुण्डानां शुकानां आयता दीर्घा आली श्रेणिः **वलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्नः** पत्रपल्लवरचितवन्दनमालायाः **लीलां** विच्छित्तिं **दध्रे** सदृशतां प्राप्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

मनोहर कूजन (शब्द) करते हुए राजहंस तालाबों में चारों तरफ खेल रहे थे, जो काम रूपी राजा के द्वारा शत्रु नगरी में प्रवेश के समय बजाये जाने वाले शंखों की तरह लग रहे थे तथा एक आम्रवृक्ष से दूसरे आम्रवृक्ष पर जानेवाली (फुदकने वाली) तोतों की पंक्तियाँ नये-नये पत्तों से बाँधी गई वन्दनवार की शोभा को धारण कर रही थी ॥५॥

उच्चैश्चक्रुः प्रतिदिशमविस्पन्दमाकन्दनाग-
स्कन्धारूढाः कलकलरवान् कोकिलाः कान्तकण्ठाः ।
संनह्यन्तं त्रिभुवनजये कामराजं जिगीषून्
नग्नप्रष्ठा इव यतिभटान् धीरमाह्वानयन्तः ॥६॥

उच्चैश्चक्रुः ० हे जलद **कोकिलाः प्रतिदिशं** दिशं-दिशं प्रति **उच्चैः** अतिशयेन **कलकलरवान्** कलकलशब्दान् **चक्रुः** अकुर्वन् । किं लक्षणाः कोकिलाः—**अविस्पन्दाः** निश्चलाः **ये माकन्दाः** सहकारनागाः नागकेसरास्तेषां उपरि तनुविभागे **आरूढाः** चटिताः **तथा कान्तकण्ठाः** कान्ता मनोज्ञ, कण्ठो येषां ते । पुनः किंरूपाः—उत्प्रेक्ष्यन्ते **यतिभटान्** यतेन्द्रियभटान् **धीरं** यथा स्यात्तथा **आह्वानयन्तः** आकारयन्तः । **नग्नप्रष्ठा इव** नगारिण इव । किंविशिष्टान् यतिभटान्—**त्रिभुवनजये** त्रैलोक्यजयविषये **संनह्यन्तं** सज्जीभवन्तं **कामराजं जिगीषून्** जेतुमिच्छन् ॥ ६ ॥

काम आदि को जीतने की इच्छा से व्रती लोग तपस्या करते हैं, वसन्त के आने पर यतियों को डर लगने लगता है कि मेरी तपस्या में विघ्न आ जायेगा 'वसन्त तपस्वियों को भय देने वाला होता है' इसकी सूचना सर्ग के प्रथम श्लोक में दी गई है। कामदेव कोकिलों की कूक रूपी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुन्दुभि से यतियों को ललकार रहा है इसी की उत्प्रेक्षा प्रस्तुत श्लोक में है—

निश्चल आम्रवृक्ष की डालियों पर बैठे मधुर कण्ठ वाले कोकिल पक्षी (कोयल) सभी दिशाओं में उच्च स्वर से ध्वनि कर रहे (कूक रहे) थे, जैसे तीनों लोकों के विजय के लिए तैयार कामदेव को जीतने की इच्छा वाले यतिसमूह रूपी योद्धाओं को युद्ध में दुन्दुभि बजाने वाले कामदेव के श्रेष्ठ चारण युद्ध के लिए ललकार रहे हों कि अब कामदेव आ रहे हैं युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ॥६॥

किञ्चित्प्रेक्ष्या दरविकसितेष्वार्तवेषु प्रसूने-
ष्वंन्तर्गूढाः शुशुभुरभितः पिञ्जराः केसराल्यः ।
शाखोच्चण्डेष्विव तनुभुवो वीरतूणीरकेषु
क्षिप्ता दीप्ता विशिखविसरः कान्तकल्याणपुङ्खाः ॥७॥

किञ्चित्प्रेक्ष्या ० हे जलधर **आर्तवेषु** वसन्तसम्बन्धिषु **प्रसूनेषु** पुष्पेषु **केसराल्यः अभितः** समन्तात् **शुशुभुः** रेजुः । किंरूपाः केशरालयः—**किञ्चित्** स्तोकं **प्रेक्ष्याः** विलोक्याः । किंरूपेषु पुष्पेषु—**दरविकसितेषु** । किंरूपाः केशरालयः—**पिञ्जराः** पीतवर्णाः तथा पुनः किंरूपाः, उत्प्रेक्ष्यन्ते—**तनुभुवः** कामस्य **वीरतूणीरकेषु** सुभट-भस्त्रकेषु **क्षिप्ता विशिखविसरा इव** बाणसमूहा इव । किंभूतेषु वीरतूणीरकेषु—**शाखोच्चण्डि** तेषु अवलम्बितेषु । किंरूपाः विशिखविसराः—**दीप्ताः** सुवर्णवर्णत्वात् **तथा** कान्ताः मनोज्ञाः कल्याणस्य सुवर्णस्य पुङ्खा येषां ते **कान्तकल्याणपुङ्खाः** ॥७॥

वसन्त में खिलने वाहे अर्ध विकसित (अधखिले) फूलों के भीतर दिव्पी हुई तथा कुछ-कुछ दीखने वाली पीली पीली केसरा वाली, कामदेव के कन्धों पर बाँधे हुए तरकसों में रखे हुए, दीप्त (चमकीली) तथा सुन्दर स्वर्णमुख वाले वाणों के समान सुशोभित हो रही थी ॥७॥

अग्रे तीक्ष्णं क्रमपृथु ततो नीलपत्रैः परीतं
पुष्पव्रातं दधुरभिनवं केतकीनां कलापाः ।
कोशक्षिप्तं कनककपिशं पत्रपालासिपुत्रो-
प्रख्यास्त्राणां समुदयमिवानङ्गराजस्य जिष्णोः ॥८॥

अग्रे तीक्ष्णं ० हे जलधर **केतकीनां कलापाः** समूहाः **अभिनवं** नूतनं **पुष्पव्रातं** पुष्पसमूहं **दधुः** धृतवन्तः । कीदृशं पुष्पव्रातं—**अग्रे** अग्रविभागेतीक्ष्णं तथा क्रमेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिपाद्या पृथु विस्तीर्णं ततो अनन्तरं नीलपत्रैः परीतं वेष्टितं। पुनः कीदृशं उत्प्रेक्ष्यते—अनङ्गराजस्य कामस्य कोशक्षिप्तं प्रतीकारक्षिप्तं पत्रपालासिपुत्रीप्रख्यास्त्राणां पटकशस्त्रिकाप्रमुखशस्त्राणां समुदयमिव। किंरूपं समुदयं—कनकवत् सुवर्णवत् कपिशं पीतवर्णं किंरूपस्य कामराजस्य—जिष्णोः जयनशीलस्य ॥८॥

नीले-नीले पत्तों से वेष्टित (लिपटे) आगे से पतले तथा क्रमशः स्थूल होते गये नये-नये केतकी (केवड़ा) के फूल, कामदेव के म्यान में रखी हुई स्वर्ण वर्णवाली कटार एवं छुरी की तरह शोभित हो रहे थे अर्थात् केतकी के पत्तों रूपी म्यान में पुष्प रूपी कटार या छुरी शोभित हो रही थी ॥८॥

मौलौ मूले सरलशिखरिस्कन्धमाश्लिष्टवत्यो
मध्ये पुष्पस्तबकविनताः पौरकेषु व्रतत्यः।
आमोदेनायतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः
प्रापुः पूर्णां सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठाम् ॥९॥

मौलौ मूले ० हे जलधर पौरकेषु बाह्योद्यानेषु व्रतत्यो वल्ल्यः पूर्णां सम्पूर्णां सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठां प्रापुः सशरं शरसहितं मदनेन कामेन अधिज्यं प्रत्यञ्चमेधिकृतं यत् धन्वन् धनुस्तस्य प्रतिष्ठां शोभां। किंरूपाः व्रतत्यः—मूले मूलप्रदेशे मौलौ उपरितनुप्रदेशे सरलशिखरिणां प्रलम्बवृक्षाणां स्कन्धं स्कुटं आश्लिष्टवत्यः। पुनः कीदृशाः—मध्ये अन्तराले पुष्पस्तबकैः पुष्पगुल्मकैः विनताः विशेषेणनताः नम्रीभूताः तथा आमोदेन परिमलेन आयताभिः दीर्घाभिः मधुकर मधुकराणां श्रेणिभिः श्रीयमाणाः आश्रियमाणाः ॥९॥

नगर के बाहरी बागों में, मूल में तथा शिखर भाग में सीधे वृक्षों की तनों से लिपटी हुई मध्य भाग में फूलों के गुच्छों से लदी हुई तथा अपने उत्कट परिमल गन्ध के कारण भौरों के समूह से घिरी लताएँ, धनुष और बाण चढ़ाए हुए कामदेव को पूर्ण शोभा को प्राप्त हो रही थीं ॥९॥

मूर्ध्नि श्लिष्टभ्रमरपटलैः क्लृप्तशीर्षण्यरक्षाः
शाखावाहाविधृतफलकाः कङ्कटद्वल्कवेष्टाः।
पत्राङ्कुरैः पुलकिततमाः सारधर्मप्रकाण्डाः
कीरारावैः किलिकिलिकृतो भ्रेजिरे जर्णयोधाः ॥१०॥

मूर्ध्नि श्लिष्ट ० जर्णा वृक्षा एव योधाः सुभटाः भ्रेजिरे शुशुभिरे। कीदृशाः—मूर्ध्निमस्तके श्लिष्टभ्रमरपटलैः लीनमधुकरसमूहैः क्लृप्तशीर्षण्यरक्षाः कल्पिताः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचिताः शीर्षण्यरक्षाः टोपरक्षारूपा यैस्ते तथा शाखा एव बाहा हस्तैः विधृत-फलका विधृतानि फलकानि फलानि खेटकानि वा यैस्ते शाखाबाहाविधृतफलकाः तथा कङ्कटत् इव कवच इव आचरन् वल्काणां वलकानां वेष्टो वेष्टनं येषां ते कङ्कटवल्कवेष्टाः तथा पत्राङ्कुरैः कृत्वा पुलकिततमाः अतिपुलकिताः तथा सार-धर्माणि उत्कृष्टस्वभावानि प्रकाण्डो निश्छुडानि अथवा साराः प्रधानाः धर्माः धनूंषि प्रकाण्डो बाणाश्च येषां ते सारधर्मप्रकाण्डाः तथा कीरारावैः शुकशब्दैः किलि-किलिकृतः किलकिलीतिशब्दं कुर्वाणाः अन्योऽपि योधा एवंविधो भवन्ति। रचितशीर्षण्यरक्षाः बाहाविधृतफलकाःसन्नाह वेष्टिताङ्गाः पुलकिताः प्रधान-धनुर्बाणाः ॥१०॥

शिखर (पुनगी) पर घिरे हुए भ्रमर समूहरूपी शिरस्त्राण (फौलादी टोपी) रूपी बाहों में फल रूपी ढालों को धारण किये बल्कल (छाल) रूपी कवच को पहने हुए, पत्तों के अंकुरण रूपी मुस्कान एवं शुकों (तोतों) के शब्द रूपी किलकिलाहट से युक्त वृक्ष, धनुष-बाण से युक्त उत्कृष्ट योद्धा की तरह शोभित हो रहे थे ॥१०॥

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न ।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत् ॥११॥

मन्दं मन्दं ० हे जलधर इति वक्ष्यमाणं कर्तृपदं नचित्रीयते चित्रं आश्चर्यं न कुरुते इतीति किं यत् विषमविशिखस्य कन्दर्पस्य प्रतापः पोषं प्रापत् प्राप। क्वसति—तपनस्य सूर्यस्य आतपे मन्दं-मन्दं तपतिसति ननुतापवान् तापाश्रये पोषं प्राप्नोति प्रकृष्टतापवान् भवति तत्किमाश्चर्यं। तु पुनः एतत्चित्रं यत् शीतरश्मेः चन्द्रमसः बिम्बं रागं अपूपुषत् सामस्त्येन पोषयतिस्म। किंरूपं मण्डलं-अमलतां निर्मलतां भजत् आश्रयत्। कीदृशं रागं— यूनां तरुणपुरुषाणां अन्तःकरणमेव चित्तमेव शरणमाश्रयो यस्य स तं अन्तःकरणशरणं ॥११॥

सूर्य के प्रकाश में धीरे-धीरे तपता हुआ कामदेव का प्रताप (प्रभाव) यदि पुष्टि को प्राप्त हुआ (पुष्ट हुआ) तो कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि तापवान् तापाश्रय के कारण अधिक तापवाला हो जाता है, जैसे सूर्य-कान्त मणि में सूर्य के प्रकाश के कारण अग्नि उत्पन्न हो जाती है. उसी प्रकार कामदेव भी दिन में वसन्त की शोभा से युक्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाता है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं, पर आश्चर्य तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह है कि शीतल किरणोंवाला निर्मल चन्द्रमण्डल भी वसन्त ऋतु में युवकों के हृदय में राग (कामभाव) को बढ़ाता है अर्थात् वसन्त ऋतु में कामदेव रात को भा उसीप्रकार प्रभावशाली रहता है जैसे दिन में ॥११॥

इत्थं तत्र प्रभवति मधौ बर्कराबद्धचेतः
प्रीतिः सान्तःपुरपरिजनोऽन्येद्युरुद्यानदेशम् ।
सर्वात्मद्धर्याधिकरुचिरगात् सिन्धुरस्कन्धमध्या-
रूढेनामा भुवनपतिना नेमिना तार्क्ष्यलक्ष्मा ॥१२॥

इत्थं तत्र० हे मेघ **तार्क्ष्यलक्ष्मा** कृष्णः **नेमिना** सह **अन्येद्युः** कस्मिंश्चित्प्रस्तावे **उद्यानदेशं** वनप्रदेशं **अगात्** जगाम । क्वसति–**इत्थं** पूर्वोक्तरीत्या **तत्र** तस्मिन् **मधौ** वसन्ते **प्रभवति** सति प्रबले भवति सति । कीदृशः विष्णुः–**बर्कराबद्धचेतःप्रीतिः** बर्करायां क्रीडायां आबद्धा रचिता चेतः प्रीतिर्येन सतद्यः **सान्तःपुरपरिजनः** अन्तःपुरपरिवारसहितः तथा **सर्वात्मद्धर्यं** सर्वया आत्मद्धर्या कृत्वा **अधिकरुचिः** अधिककान्तिः । किंरूपेण नेमिना– **सिन्धुरस्कन्धमध्यारूढेन** आश्रितेन गजपृष्ठि-विभागेनेत्यर्थः तथा **भुवनपतिना** त्रिभुवनस्वामिना ॥१२॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) जब वसन्त अपने पूर्ण यौवन पर था तभी एक दिन क्रीड़ा की इच्छा से सभी परिजनों के साथ सभी प्रकार की समृद्धि से युक्त होने कारण अधिक रुचि (कान्ति) वाले श्रीकृष्ण हाथी पर बैठे हुए जगत्पति श्री नेमिनाथ के साथ उद्यान (क्रीडावन) की ओर गये ॥१२॥

तत्रापाचीपवनलहरीलोलमौलिप्रदेशान्
नानासालान् सरसविकसन्मञ्जरीपिञ्जराग्रान् ।
नेमेर्नव्ये वयसि वशितां वीक्ष्य चित्रस्मितास्यान्
संधुन्वानानिव परि शिरस्तौ क्षणं प्रैक्षिषाताम् ॥१३॥

तत्रापाची० हे जलद **तौ** नेमिकृष्णौ **तत्र** वने **नानासालान्** नवनववृक्षान् **क्षणं** क्षणमात्रं **प्रैक्षिषाताम्** अविलोकयताम् । किंरूपान् नानासालान्–**अपाचीपवन-लहरीलोलमौलिप्रदेशान्** दक्षिणदिग्पवन लहरीभिर्लोलाश्चञ्चलामौलिप्रदेशाः अग्र-विभागो येषां ते तान् तथा **सरसविकसन्मञ्जरी पिञ्जराग्रान्** सरसाः या विक-सन्त्यो मञ्जर्यास्ताभिः पिञ्जराग्रात् पीताग्रप्रदेशान् । पुनः किंरूपान्, उत्प्रेक्ष्यन्ते– **नव्ये** नूतने **वयसि** तारुण्ये **नेमेः** श्रीनेमिनाथस्य **वशितां** जितेन्द्रियतां **वीक्ष्य** विलोक्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परि सामस्त्येन शिरो मस्तकं सन्धुत्वानामिव धूनयत इव। पुनः किरूपान् चित्रस्मितास्यान्—चित्रेण आश्चर्येण स्मितं विकस्वरं आस्यं मुखं येषां ते तान् ॥१३॥

उस उद्यान में श्रीकृष्ण और श्री नेमिनाथ ने दक्षिण दिशा से आने वाली वायु के झोकों से हिलते हुए शिखरोंवाले तथा सरस विकसित मञ्जरियों के कारण पोले मुखवाले वृक्षों को देखा। हिलते हुए वृक्ष ऐसे लग रहे थे मानो युवावस्था में ही नेमिनाथ की जितेन्द्रियता को देखकर आश्चर्य से सिर पीट रहे हों ॥१३॥

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम्।
वल्ल्यो लोलैः किशलयकरैर्लास्यलीलां च तेनु-
स्तद्भक्त्येति व्यरचयदिव प्रेक्षणं वन्यलक्ष्मीः ॥

वाता वाद्यध्वनि ० हे जलधर वन्यलक्ष्मीः वनसम्बन्धिश्रीः इति वक्ष्यमाण-प्रकारेण तद्भक्त्या तयोर्द्वयोर्नेमिकृष्णयोः भक्त्या प्रेक्षणं नृत्यं व्यरचयदिव अकरोदिव इतीति किंवाता—वायवः वाद्यध्वनिं वादित्रशब्दं अजनयन् अकुर्वन्, भृङ्गाः भ्रमराः वल्गु मनोज्ञं अगायन् परभृतगणाः कोकिलसमूहः तालान् दध्रे, कीचकाः सच्छिद्रवंशाः वंशकृत्यं तेनुः विस्तारयामासुः च पुनः वल्ल्यः लोलैश्चञ्चलैः किशलयकरैः पल्लवहस्तैः लास्यलीलां नृत्यलीलां तेनुः ॥१४॥

उस समय वन की शोभा ऐसी लग रहा थी मानो वन्यलक्ष्मी ने उन दोनों (श्रीकृष्ण और श्री नेमिनाथ) की सेवा में नृत्यगीत का आयोजन किया हो। जिसमें वायु वाद्य-यन्त्रों को बजा रहा है, भौंरे सुमधुर गीत गा रहे हों, कोयलों का समूह ताल दे रहा हो छिद्रयुक्त बाँस, वंश वर्णन कर रहे हैं तथा लताएँ अपने हिलते हुए पत्तों से नृत्य कर रही हैं ॥१४॥

ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवद्दीर्घिकास्या
किञ्चिद्धास्यायितसितसुमा शुङ्किकाव्यक्तरागा।
ताभ्यां तत्र प्रसवजरजः कुङ्कुमस्यन्दलिप्ती
नानावर्णच्छदनिवसना प्रैक्षि वानेयलक्ष्मीः ॥१५॥

ताराचारि ० हे मेघ ताभ्यां नेमिकृष्णाभ्यां तत्र वने वानेयलक्ष्मीः वनोद्भवाश्रीः प्रैक्षि दृष्टा। किंरूपा वानेयलक्ष्मीः—ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवद्दीर्घिकास्या तारा-चारिणः कनीनिकावत् आचरन्तो भ्रमरा येषु तानि ताराचारिभ्रमराणि एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधानि नयनन् नयवदाचरन्ति, पद्मानि कमलानि तैर्वत् संयुक्तादीर्घिका खलो खलिका एव आस्यं मुखं यस्याः सा तथा **किञ्चत्** ईषत् **हास्यायितानि** हास्यमिवाचरितानि **सितसुमानि** श्वेतपुष्पाणि यस्याः सा तथा **शुङ्गिकाः** टीसिका एव **व्यक्तः** प्रकटो **रागाः** यस्याः सा तथा **प्रसवजरजः** प्रसवोत्पन्नोरजः परागः स एव **कुङ्कुमस्यन्दः** कुङ्कुमद्रवः तेन **लिप्ती** ईषत् लिप्ता तथा **नानावर्णानि** शुक्लपीतरक्तकृष्णवर्णानि **छदानि** एव पत्राणि एव **निवसनानि** वस्त्राणि यस्याः सा ॥१५॥

भ्रमररूपी पुतलियों वाले कमल ही जिसके नेत्र हैं, कमलों से युक्त वापियाँ ही जिसके मुख हैं, उज्ज्वल पुष्प ही जिसकी मुस्कुराहट है, फूलों की कली ही जिसका प्रकट अनुराग है, फूलों से गिरता हुआ पुष्परज ही जिसका कुङ्कुमलेप है और नाना प्रकार के पत्ते ही जिसके वस्त्र हैं, इस प्रकार की वनलक्ष्मी को उन दोनों श्रीकृष्ण और श्री नेमिनाथ ने उस उद्यान में देखा ॥१५॥

रत्याक्षिप्तो मुररिपुरथान्दोलनादौ सदेशे
वीरे बन्धौ स्थितवति तथा काममुत्तिष्ठते स्म ।
वीरोत्तंसः स्मितमति तथा दृब्धहल्लीसकस्थाः
श्रीसूनुस्ता निजभुजबलं गापयामास गोपीः ॥१६॥

रत्याक्षिप्तो ० हे वारिद अथ अनन्तरं **मुररिपुः** कृष्णः **तथा** तेनप्रकारेण **अन्दोलनादौ** काममतिशयेन **उत्तिष्ठतेस्म** उद्यमं करोतिस्म । किंरूपो मुरारिः— **रत्याक्षिप्तो** रत्या क्रीडया आक्षिप्तः प्रेरितः । क्वसति-श्रीनेमिनि **बन्धौ** बान्धवे **सदेशे** समीपे स्थितवतिसति **यथा** प्रकारेण **श्रीसूनुः** कामः प्रसिद्धाः गोपीः **निजभुजबलं** स्वभुजपराक्रमं **गापयामास** । किंविशिष्टाः **गोपीः-स्मितमति** हास्यमति **यथा** स्यात्तथा **दृब्धहल्लीसकस्थाः** दृब्धं कर्तुं आरब्धं यत् हल्लीसकं स्त्रीनाटकं तत्र तिष्ठन्तीति दृब्धहल्लीसकस्थाः ॥१६॥

इसके बाद क्रीड़ा की इच्छा से युक्त श्रीकृष्ण, वीरबन्धु श्री नेमि के साथ क्रीड़ा करने में अत्यन्त व्यस्त हो गये, तब कामदेव ने, हल्लीसक (स्त्रियों का नृत्य विशेष) में प्रवृत्त उन हंसती हुई गोपियों से अपने भुजबल का गान कराया ॥१६॥

प्रेमाधिक्यात्प्रतितरु हरिः पुष्पपूरप्रचायं
कृत्वा नेमिं स्वयमुपचरन् सत्यभामादिभार्याः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रूविक्षेपं समदमनुदत्तत्र कृत्ये तदानीं
श्रेयोदृष्टिं हिमरुचिरिवानेहसं प्रेयसोः स्वाः ॥१७॥

प्रेमाधिक्यात् ० हे जलद **हरिः** कृष्णः **प्रतितरु** तरुं-तरुं प्रति **पुष्पपूरप्रचायं-कृत्वा** पुष्पसमूहचुंटनंकृत्वा **प्रेमाधिक्यात् स्वयं** स्वयमेव **नेमिं उपचरन्** सत् कुर्वन् सन् तत्र कृत्ये श्रीनेमिसत्करणरूपे भ्रूविक्षेपं भृकुटिप्रेरणं यथा भवति **समद** यथा भवति तथा **सत्यभामादिभार्या अनुदत्** नोदयति स्म । **तदानीं** तस्मिन्प्रस्तावे प्रथमं योज्यं । किंरूपं नेमिनं—**श्रेयोदृष्टिं** श्रेयसि मोक्षे दृष्टिर्यस्य स तं । क इव—**हिमरुचिरिव** यथा **हिमरुचिश्चन्द्रमाः** स्वयं **अनेहसं** कालं उपचरन् **तत्रकृत्ये** तस्मिन्नुपचरणकृत्ये कार्ये **स्वाः** स्वकीयाः **प्रेयसीः** रोहिण्याद्याः तारिकाः न उदयति । किंरूपं अनेहसं–श्रेयोदृष्टिं श्रेयसो मङ्गलस्य दृष्टिर्दर्शनं यस्मात् स तं ॥१७॥

प्रेमाधिक्य से श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रत्येक वृक्ष से फूलों को तोड़कर (उन्हें) श्री नेमिनाथ के सिर तथा वक्षस्थल (छाती) पर सजाते हुए उन कल्याण दृष्टिवाले श्रीनेमिनाथ का सम्मान किया । इतना ही नहीं प्रमोद-युक्त हो उस कार्य के सम्पादन के लिए ही उन्होंने अपनी पत्नियों (सत्य-भामा आदि) को भी उसी प्रकार प्रेरित किया जिस प्रकार चन्द्रमा कल्याणसूचक काल के सम्मान में रोहिणी आदि अपनी भार्याओं को प्रेरित करता है ॥१७॥

ताश्चानङ्गं पशुपतिदुतं गूढमार्गे शयानं
सख्यू राज्ये जयति पुरुहे चास्त्रजातेऽपि जाते ।
तत्राजय्ये त्रिभुवनपतावप्रभूष्णुं दृशैवो-
पाजेकृत्वा लघु ववलिरे जिष्णुपत्न्योऽभि नेमिम् ॥१८॥

ताश्चानङ्गं ० हे पर्जन्य च पुनः ताः **जिष्णुपत्न्यः** विष्णुभार्याः**अभिनेमिं** नेमिनंप्रति **लघु** शीघ्रं **ववलिरे** वलिताः । किंकृत्वा– **पशुपतिदुतं** ईश्वरोतापितं अनङ्गं दृशैव दृष्ट्या एव **उपाजेकृत्वा** भग्नसन्धानंकृत्वा । किंरूपं अनङ्गं—**गूढ-मार्गेशयानं** चित्ते स्वपन्तं अन्योऽपि भग्न्यः गुप्तमार्गे शेते । क्वसति—**पुरुहे** प्रचुरे **सख्युः** मित्रस्य वसन्तस्य **राज्ये जयतिसति च पुनः अस्त्रजातेऽपि** शस्त्रसमूहेऽपि जाते उत्पन्नेसति । किंरूपं—तत्र तस्मिन् **त्रिभुवनपतौ** श्रीनेमिनि **अप्रभूष्णुं** असमर्थं । किंरूपे तत्र—त्रिभुवनपतौ **अजय्ये** जेतुमशक्ये ॥१८॥

श्रीकृष्ण की सत्यभामा आदि पत्नियाँ, काम के सखा वसन्त के अत्यन्त वैभव के दिनों में अस्त्र (पुष्प) समूह से सुसज्जित, शिव से पीड़ित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा मन में निवास करनेवाले अजेय तथापि त्रिभुवनपति श्री नेमि को जोतने में असमर्थ काम को, अपने नेत्रों से परास्त कर शीघ्र ही श्री नेमि नाथ के चारों ओर घिर आईं ॥१८॥

काचिच्चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां
मालां बालारुणकिशलयैः सर्वसूनैश्च क्लृप्ताम् ।
नेमेः कण्ठे न्यधित स तया चाद्रिभिच्चापयष्ट्या
रेजे स्निग्धच्छविशितितनुः प्रावृषेण्यो यथा त्वम् ॥१९॥

काचिच्चञ्चत्प ० हे जलधर **काचित्** बाला विष्णुपत्नी श्रीनेमिनाथस्य **कण्ठे** गले **मालां न्यधित** निक्षिप्तवती । किंरूपां माला—**चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां** चञ्चत्परिमलेनमिलन्तीलोला चञ्चला रोलम्बानां भ्रमराणां मालाश्रेणिर्यस्याः सा तां । पुनः किंरूपां मालां—**अरुणकिशलयैः** च पुनः **सर्वसूनैः** सर्वपुष्पैः **क्लृप्तां** ग्रथितां । हे मेघ **च** पुनः श्रीनेमि **तया** मालया कृत्वा **रेजे** शुशुभे । क इव—**त्वमिव यथा प्रावृषेण्यो** वर्षासमुद्भवः त्वं **अद्रिचापयष्ट्या** इन्द्रधनुषा राजसे । किंसनेमिः—**त्वं च स्निग्धच्छविशितितनुः** स्निग्धा अरूक्षा छविः कान्तिर्यस्याः सा स्निग्धच्छवि एवं विधाशितिः कृष्णा तनुकायो यस्याः सा ॥१९॥

श्रीकृष्ण की पत्नियों ने श्री नेमिनाथ के साथ किसप्रकार की क्रीड़ा की इसका वर्णन निम्न श्लोकों में है—

किसी कृष्ण पत्नी ने, सभी प्रकार के फूलों एवं नये-नये लाल पत्तों से गुँथी, जिस पर भौरों का समूह मडरा रहा हो ऐसी माला को श्रीनेमि के गले में पहना दी। उस माला से युक्त वे उसी प्रकार शोभित हुए जिस प्रकार वर्षाऋतु में सुन्दर कृष्णवर्ण तुम (मेघ) इन्द्रधनुष से सुशोभित होते हो ॥ १९ ॥

श्रीखण्डस्य द्रवनवलवैर्नर्मकर्माणि विन्दु-
र्बिन्दून्न्यासं वपुषि विमले पत्रवल्लीर्लिलेख ।
पौष्पापीडं व्यधित च परा वासरे तारतारा-
सारं गर्भस्थितशशधरं व्योम संदर्शयन्ती ॥ २० ॥

श्रीखण्डस्य ० हे जलधर ! **च** पुनः अन्या काचित् कृष्णवल्लभा प्रस्तावात् नेमेः **विमले** निर्मले **वपुषि** शरीरे **पत्रवल्लीः लिलेखः** । किंकृत्वा—**श्रीखण्डस्य** चन्दनस्य **द्रवनवलवैः** रसनूतनलवैः **बिन्दून्न्यासं** बिन्दून् रचयित्वा । किंरूपां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परा—नर्मकर्माणि विन्दुः जानती च पुनः हे मेघ **पौष्पापीडं** पुष्पमुकुटं अर्थात् नेमेः शिरसि **व्यधित** न्यस्तवती । कीदृशी **परा**, उत्प्रेक्ष्यते—**वासरे** दिवसे एवंविधं **व्योम संदर्शयन्तीव** प्रेक्ष्ययन्तीव । किंरूपं व्योम—**तारतारासारं** ताराभिः मनोज्ञाभिः ताराभिस्तारिकाभिःसारमुत्कृष्टं यत्तत् तथा **गर्भस्थितशशधरं** मध्यस्थितचन्द्रम्॥२०॥

एक अन्य कृष्ण पत्नी ने नर्मकर्म की पण्डिता थी—चन्दन रस के नये नये लवों से श्रीनेमि के सुन्दर शरीर पर विन्दुविन्यास पूर्वक पत्रवल्ली की रचना की। फिर उनके सिर पर फूलों के मुकुट को रखकर दिन में ही चन्द्र एवं ताराओं से युक्त, आकाश को दिखलाने लगी अर्थात् श्रीनेमि का शरीर श्याम वर्ण होने से आकाश तुल्य था, पत्रावली ताराओं के सदृश थी तथा फूलों का मुकुट चन्द्रमा की तरह लगता था ॥ २० ॥

अन्या लोकोत्तर ! तनुमता रागपाशेन बद्धो
मोक्षं गासे कथमिति ? मितं सस्मितं भाषमाणा ।
व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध ॥ २१ ॥

अन्या लोकोत्तर ० हे जलधर **अन्या** काचित् विष्णुपत्नी **तं** श्रीनेमिनं **काञ्ची-व्याजात्** मेखलामिषात् **व्यक्तं** स्पष्टं यथा भवति तथा **रक्तोत्पलविरचितेनैव रक्त-**पद्मग्रथितेनैव दाम्ना मालया कटीरे प्रदेशे **बबन्ध** । किंरूपा अन्यामितं स्तोकं सस्मितं सहास्यं यथा भवति तथा **इति भाषमाणा** इतीति किं हे **लोकोत्तर** हे सर्वोत्कृष्ट हे श्रीनेमिन् त्वं **तनुमता** मूर्त्तिमता **रागपाशेन बद्धः** सन् **मोक्षं** कथं **गासे** कथं गच्छसि । क इव—**प्रकृतिरिव** यथा प्रकृतिः कर्मव्यापारः **चेतनेशं** आत्मानं बध्नाति ॥ २१ ॥

एक दूसरी कृष्ण की पत्नी ने हँसते हुए संक्षेप में यह कहते हुए कि —हे लोकोत्तर ! तुम मूर्तिमान् रागपाश से बँधे होने पर मोक्ष को कैसे प्राप्त करोगे ?—लाल कमलों की माला को मेखला (करधनी) के बहाने श्रीनेमि के कटिप्रदेश में ऐसे बाँध दिया जैसे प्रकृति आत्मा को बाँध लेती है ॥ २१ ॥

काचिद्वामा जलद ! पिदधे चन्दनस्यन्दसिक्तैः
पंक्तिन्यस्तैः सरसकुसुमैर्दक्षमुख्यस्य वक्षः ।
कामोन्मुक्तैरिव जगदुरो विध्यमानैरखण्डैः
काण्डैर्भेत्तुं तदलमनलंभूष्णुभावाद्बहिःस्थैः ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काचिद्वामा ० हे जलद काचिद्वामा दक्षमुख्यस्य श्रीनेमेः वक्षः उरस्थलं सरसकुसुमैः कृत्वा पिदधे आच्छादयामास । किरूपैः कुसुमैः—चन्दनस्यन्दसिक्तैः श्रीखण्डद्रवलिप्तैः तथा पंक्तिन्यस्तैः पङ्क्त्या परिपाट्या न्यस्तानि पंक्तिन्यस्तानि तैः पुनः । किरूपैः सरसकुसुमैः, उत्प्रेक्ष्यन्ते—तत् वक्षः भेत्तुं विदारयितुं अनलंभूष्णुभावात् असमर्थभावात् बहिस्थैः बाह्यप्रदेशेस्थितैः । जगदुरो विध्यमानैः अखण्डैः सम्पूर्णैः कामोन्मुक्तैः काण्डैरिव बाणैरिव ॥२२॥

हे मेघ ! किसी अन्य कृष्ण पत्नी ने चन्दन रस से भिगोये हुए तथा पक्तियों में रखे हुए सरस फूलों से श्री नेमिनाथ के वक्षःस्थल को ढक दिया । छाती पर सजाये गये फूल ऐसे लग रहे थे मानो संसार के हृदय को छेदने के लिए काम द्वारा छोड़े गये अखण्डित बाण भगवान् श्री नेमि के हृदय को बींधने में असमर्थ होकर बाहर ही रह गये हैं ॥२२॥

पौष्पापीडः शितिशतदलैः कल्पितकर्णावतंसः
कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी सलीलम् ।
तत्केयूरो बकुलवलयः पद्मिनीतन्तुवेदी
रेजे मूर्त्तात्प्रति मम पतिः पुष्पितात्पारिजातात् ॥२३॥

पौष्पापीडः ० हे जलधर मम पतिः श्रीनेमिः मूर्त्तात् मूर्त्तिमतः पुष्पितात्पारिजातात् प्रतिरेजे पुष्पितकल्पवृक्षसदृशः शुशुभे । अत्र यतः प्रतिनिधि प्रतिदाने प्रतिना इति सूत्रेण पञ्चमी । किरूपः मम पतिः—पौष्पापीडः पौष्पः पुष्पसम्बन्धी आपीडः मुकुटो यस्य स तथा सलीलं यथा भवति तथा कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी कण्ठात् कण्ठप्रदेशात् न्यञ्चन्तीं नीचैर्गच्छन्ती विचकिलस्य लुलंतीयामाला स्रग् तां बिभर्तीति कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी तथा तत्केयूरः तस्यैव बकुलस्यैव केयूरो अंगदो यस्य स तथा बकुलवलयः बकुलवलये कङ्कणे यस्य स तथा पद्मिनीतन्तुवेदी पद्मिन्यातन्तवा पद्मिनीतन्तवः तेषां वेदी मुद्रिका यस्य सः ॥२३॥

हे मेघ ! मेरे पति श्री नेमिनाथ फूलों के मुकुट को पहने हुए, नीलकमल के दलों का कर्णावतंस (कर्णाभूषण) धारण किये हुए, गले में नीचे तक लटकती हुई चमेली की माला को पहनते हुए, चमेली का ही बाजूबन्द पहने हुए मौलसिरी के कङ्कड़ और कमलिनी (कुँई) की अँगूठी को धारण किये हुए ऐसे सुशोभित हुए मानो साक्षात् पुष्पित परिजात ही हो ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन्या मन्ये जलधर ! हरेरेव भार्याः स याभि-
र्दृष्टो दृग्भिः परिजनमनश्छन्दवृत्त्यापि खेलन् ।
कस्माज्जज्ञे पुनरियमहं मन्दभाग्या स्त्रिचेली
या तस्यैवं स्मरणमपि हा ! मूर्छनाप्त्या लवे न ॥२४॥

धन्या मन्ये ० हे **जलधर हरेरेव** कृष्णस्यैव **भार्याः धन्यामन्ये, याभिः** हरि-भार्याभिः स मम पतिः **परिजनमनश्छन्दवृत्त्यापि** परिकरमनोऽभिप्रायवृत्त्यापि **खेलन्** क्रीडन् **दृग्भिः** लोचनैःदृष्टः। हे जलद पुनः अहं इयं **मन्दभाग्या कस्मात्** कारणात् **जज्ञे** जन्मिता । किंभूताऽहं—**स्त्रिचेली** निन्द्यास्त्री । या अहं **एवं** पूर्वोक्त-प्रकारेण **हा** इति खेदे **मूर्च्छनाप्त्या** मूर्च्छां प्राप्त्या **तस्य** श्रीनेमिः **स्मरणमपि** न **लेभे** न प्राप्नोमि ॥२४॥

हे मेघ ! मैं उन कृष्ण पत्नियों को धन्य मानती हूँ जिन्होंने परिवार के सदस्यों की इच्छा से (अर्थात् परिवार जनों के साथ) खेलते हुए उन मेरे पति को अपनी नजरों से देखा। पता नहीं मैं अभागिन स्त्री कहाँ से पैदा हो गई जो मूर्च्छा आ जाने के कारण उनका स्मरण (याद) भी नहीं कर पाती हूँ ॥२४॥

जल्पन्त्येवं पुनरपि नवीभूतशोकाब्धिमग्ना
तूष्णींभावं स्वतनुममुचत् साऽऽप्तनन्दीमुखीव ।
तन्त्र तावत् किमपि निगदच्चन्दनाम्भश्छटाभिः
सेचं सेचं खरुमिव गुरुर्वाग्भिराबूबुधत्ताम् ॥२५॥

जल्पन्त्येवं ० अथ कविः प्राह हे लोका **सा** राजीमती एवं पूर्वोक्तं **जल्पन्ती सती तूष्णीभावं** मौनभावं यथा भवति तथा **स्वतनुं** स्वदेहं **अमुचत्** मुमोच । किंरूपा **सा**—पुनरपि **नवीभूतशोकाब्धिमग्ना** पुनः कीदृशी, उत्प्रेक्ष्यते—**आप्तनन्दीमुखीव** प्राप्तनिद्रेव । **तावत् तन्त्र** परिकरः **चन्दनच्छटाभिः** चन्दनजलधाराभिः **सेचं-सेचं** सिक्त्वा-सिक्त्वा तां राजीमतीं **अबूबुधत्** बोधयतिस्म, सचेतनं चकारेत्यर्थः । किंरूपं **तन्त्रं**—किमिति रे किंजातं किं जातमिति **निगदत्** । क इव—**गुरुरिव** यथा **गुरुः** धर्माचार्यः **वाग्भिः खरुं** निषद्वैकरुचिं पुरुषं बोधयति यथा नाममालायां 'निषद्वैकरुचिं खरः' ॥ २५ ॥

इस प्रकार बातें करती हुई तथा (स्मरण के कारण) नये शोक सागर में डूबी वह राजीमती मौनभाव से सोई हुई सी मूच्छित हो गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब उसकी सखी ने अरे क्या हो गया ? यह कहते हुए चन्दन के जल से सींच सींच कर उसे उसी तरह जगाया जैसे कुमार्ग में प्रवृत्त शिष्य को गुरु अपने उपदेशों से सचेत करता है ॥ २५ ॥

अर्धोक्तायाः स्वचरिततते: स्वप्नवत्साऽथ सद्यः
संजानत्यप्यनवहितधीर्व्युष्टसुप्तोत्थितेव ।
संपश्यन्ती विरहविवशा शून्यमाशाः कदाशा-
पाशामुक्ता मुदिरमुदितं पर्यभाषिष्ट भूयः ॥२६॥

अर्धोक्तायाः ० **अथ** मूर्च्छागमनानन्तरं **सा** राजीमती **सद्यः** तत्कालं **उदितं** उदयं प्राप्तं **मुदिरं** मेघं **भूयः** पुनरपि पर्यभाषिष्ट प्रत्युवाच । किंरूपा सा— **अर्द्धोक्तायाः** अर्द्धकथितायाः **स्वचरिततते:** निजचरित्रश्रेण्याः **स्वप्नवत्** संजानती संस्मरन्ती अपि अत्र अर्द्धोक्तं स्वचरिततति संजानतीति ज्ञातव्यं यतः 'स्मृत्यर्थ-कर्मणीति' सूत्रेण षष्ठी । पुनः किंरूपा-**अनवहिता** असावधाना **धीः** बुद्धिः यस्याः सा । पुनः कीदृशी, उत्प्रेक्ष्यते—**व्युष्टसुप्तोत्थितेव** व्युष्टे विभाते सुप्तोत्थितेव । पुनः किंरूपा—**विरहविवशा** वियोगविह्वलासती **शून्यं** यथा भवति तथा **आशा-दिशः संपश्यन्ती** विलोकयन्ती । पुनः कीदृशी—**कदाशापाशामुक्ता** कुत्सिता आशा कदाशा एव पाशः कदापाशस्तेन आमुक्ता बद्धा ॥ २६ ॥

इसके बाद प्रातःकाल सोकर उठी हुई सो, असावधान बुद्धि वाली विरह से व्याकुल कुत्सित आशा बन्धन से बंधी हुई तथा सभी दिशाओं को शून्य सी देखती हुई वह राजीमती अपनी आधी कही हुई कथा का स्मरण करती हुई मेघ से पुनः बोली ॥ २६ ॥

हंहो ! मोहस्खलितवचनां मेघ ! मा मामुपेक्षा-
पात्रं कार्षीर्न हि यदधरेवास्म्यनभ्याशमित्यां ।
दुःस्थावस्थां विधिविलसितैः प्रापिता या विशेषात्
श्रोतव्याऽसौ तव मम कथा विश्वविश्वोपकर्तुः ॥२७॥

हंहो ! मोह ० **हंहो** इत्यामन्त्रणे, हे मेघ त्वं **मां उपेक्षापात्रं** अवगुणानांभाजनं **मा कार्षीः** मा कृथाः । किंरूपा मां—**मोहस्खलितवचनां** मोहेन मूर्च्छया स्खलित-वचनं यस्याः सा तां **यद्यस्मात्कारणात्** अहं **हि** निश्चितं **अधरा इव** हीनवादिनी इव **अनभ्याशमित्या** समीपोपवेशनयोग्या नोस्मिन्वार्त्ते । हे मेघ **तव** त्वया असौ **प्रारब्धा मम कथा विशेषात् श्रोतव्या** आकर्णनीयाः । किंलक्षणायाः—**मम विधि-**

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

विलसितैः दैवचेष्टितैः **दुःखावस्थां** निन्दनीयदशां **प्रापितायाः**। किंरूपस्य—**तव विश्वविश्वोपकर्तुः** विश्वं सम्पूर्णं यत् विश्वं जगत् तस्य **उपकर्तुः** उपकारिणः ॥ २७ ॥

हे मेघ मोह या मूर्च्छा के कारण स्खलित वचन वाली मुझे अपनी उपेक्षा का पात्र मत बनाओ। भाग्य के प्रभाव से इस दुःखावस्था को प्राप्त मैं हीन वादिनी स्त्री (जिसके पास न जाया जा सके) नहीं हूँ। सम्पूर्ण संसार का उपकार करने वाले आपको मेरी बात विशेष रूप से सुननी ही चाहिए ॥२७॥

वासन्तीं तां श्रियमुपवने साधु निर्विश्य कान्तां
लोकम्प्रीणानणुगुणभृदप्यर्दितस्तस्य सख्या ।
क्लृप्ताकल्पस्तदिषुभिरुदाच्छिद्य रोषादिवात्तै-
र्विष्वक्सेनो न्यविशत पुरीं द्वारकां नेमिदृष्टिः ॥२८॥

वासन्तीं तां ० हे मेघ **विष्वक्सेनो** नारायणः **द्वारकां पुरीं न्यविशत्** प्रविवेश। **उपवने** क्रीडाकानने **तां** पूर्ववृत्तवर्णितां **वासन्तीं** वसन्तोद्भवां **कान्तां** कमनीयां **श्रियं साधु** मनोज्ञा यथा स्यात् तथा **निर्विश्य** उपभुज्य अन्योपि किल उपवने **कान्तां** पत्नीं उपभुज्य पुरीं प्रविशति। किंरूपो विष्वक्सेनः—**लोकम्प्रीणानणुगुणभृदपि** लोकम्प्रीणान् लोकाह्लादकान् अनणून् गुरून् गुणान् बिभर्तीति **लोकम्प्रीणानणुगुणभृत** एवंविधोऽपिसन् **तस्य** वसन्तस्य **सख्या** मित्रेण कन्दर्पेण **अर्दितः** पीडितः। किंरूपः—**तदिषुभिः तस्य** कामस्य सरन्या **इषुभिः** बाणैः एतावता पुष्पैः **क्लृप्ताकल्पः** क्लृप्तोरचितः आकल्पो शृङ्गारो येन सः। किंभूतैः इषुभिः, उत्प्रेक्ष्यते—**रोषात्** कोपात् उद्दाल्य आत्तैरिव गृहीतैरिव। पुनः कीदृशो—विष्वक्सेनः **नेमिदृष्टिः** नेमिनि श्रीनेमिनाथे दृष्टिर्यस्य सः ॥ २८ ॥

महान् गुणों को धारण करने वाले लोकप्रिय श्री कृष्ण ने उस उपवन में मनोहारिणी वसन्त की शोभा का भरपूर आनन्द लिया वाच्यान्तर—अपनी प्रिया लक्ष्मी का उपभोग कर, वसन्त सखा काम से पीड़ित होते हुए मानो उसी से जबरदस्ती छीने गये पुष्पों से शृङ्गार करके श्रीनेमि पर दृष्टि रखते द्वारका नगरी में प्रवेश किया ॥ २८ ॥

सख्युर्दोषात्कुसुमधनुषः शान्तमत्रोरनिष्टे
तस्येशस्य स्वयमपसृते पुष्पकाले ह्रियेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगास्तेव स्वफलमुपदोकर्तुमात्मोपशाय-
स्थायी भृत्यः समयगतिवित् सप्रतापस्तपोऽपि ॥२९॥

सख्युर्दोषात् ० हे मेघ **तपोऽपि** ग्रीष्मऋतुरपि **आगास्त** आगतः। किं कर्तुं, उत्प्रेक्ष्यते—**स्वफलं उपदोकतुं इव** ढौकनिकां विधातुं इव। किंरूपः तपः—**आत्मनः** आत्मीयस्य **उपशाये** वारके **स्थायी** निश्चलशीलो **भृत्यः** सेवकः तथा **समयगतिवित्** समयस्य कालस्य गतिं वेत्तीति समय गतिवित् तथा **सप्रतापः** प्रकृष्टतापसहितः अन्योऽपिस्थायी भृत्यः ढौकनिकां कर्तुं आयाति सोऽपि समयगतिवत् भवति। समये प्रस्तावे गतिं गमनावसरं जानाति सप्रतापः प्रतापसहितो भवति तपोऽपि आगास्त परं। क्वसति—**पुष्पकाले** वसन्ते **स्वयं** स्वयमेव **अपसृते-सति** अपगतेसति, उत्प्रेक्ष्यते—**ह्रियेव** लज्जयैव। किंरूपे पुष्पकाले—**कुसुमधनुषः** कामस्य **सख्युः** मित्रस्य दोषात् अपराधात् **तस्य ईशस्य** श्रीनेमिनः **अनिष्ट** अप्रिये। किंरूपस्य-तस्य **शान्तशत्रोः** शान्ता उपशमिताः शत्रवो यस्य स तस्य ॥ २९ ॥

शान्त जनों के शत्रु काम का मित्र होने कारण जो स्वयं भी दोषी और नेमि का अप्रिय था, ऐसे वसन्त[1] के मानो लज्जा के कारण स्वयं चले जाने पर समय की गति को जानने वाला प्रतापी ग्रीष्म (ऋतु) स्वामी-सेवाशील भृत्य की तरह अपने फल का उपहार देने के लिए आ पहुंचा ॥ २९ ॥

तेजोवीर्यं पुरु रुचिपतेरुत्तरामेव काष्ठां
श्रेयः पुष्टां परि विचरतः प्राप्तमैधिष्ट शश्वत् ।
तापोत्तप्तानपि तनुमतः प्रीणयन्ती तुषारै-
र्वर्तिर्ज्यायिन प्रतिदिनमगाद्यामिनी तत्तु चित्रम् ॥३०॥

तेजोवीर्यं ० हे जलद **रुचिपतेः** सूर्यस्य **उत्तरां एव** उत्तरनाम्नी **काष्ठां** दिशं **प्रति विचरतः** प्रतिगच्छतः सतः **शश्वत्** निरन्तरं पुरु प्रभूतं **तेजोवीर्यं** महोबलं **प्राप्तं** युक्तमेव **ऐधिष्ट** वर्द्धतेस्म। किंभूतां उत्तरकाष्ठां—**श्रेयःपुष्टां** श्रेयसा मङ्गलेन पुष्टा श्रेयः पुष्टा तां अन्योऽपि यः किल उत्तरां सर्वोत्कृष्टां काष्ठां क्रियाविशेषंप्रति विचरतिस्यात् तस्य तेजो बलं युक्तमेव वर्द्धते। हे मेघ **च** पुनः **तच्चित्रं** तदाश्चर्यं **यत् यामिनी** रात्रिः **तुषारैः** शीतलवातैः पवनैः कृत्वा **तापोत्तप्तान्** तापसन्तापितान्

---

१. भगवान् श्री नेमिशान्त हैं और काम शान्त शत्रु है इसलिए शान्तशत्रु का मित्र होने के कारण वसन्तऋतु भी सापराध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तनुमतः प्राणिनः **प्रीणयन्ती अपि** आनन्दयत्यपि **प्रतिदिनं** प्रत्यहं **ग्लानिं हानिं अगात्** प्राप्ता । यः कोऽपि परसन्तापितान् जीवान् प्रीणाति स किल **हानिं न** प्राप्नोति एषा तु हानिं प्राप्ता तदाश्चर्यं ॥ ३० ॥

यह तो ठीक ही है कि सर्वोत्कृष्ट दिशा अर्थात् उत्तर दिशा की ओर जाते हुए सूर्य का प्रताप तो और अधिक बढ़ा, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि धूप में आतप्त मनुष्यों को अपने शीतल वायु से आनन्दित करने वाली रात्रि प्रति दिन क्षीण होने लगी, अर्थात् गर्मी में सूर्य का प्रताप (गर्मी) बढ़ने लगा और शीतलता दायिनी रात्रि छोटी होने लगी। जो दूसरों को सुख दे उसे तो बढ़ना चाहिए परन्तु रात्रि सुख देते हुए भी घटने लगी ॥ ३० ॥

वृद्धिं भेजे दिवसमनिशं स्वप्रतापेन सत्रा
शीतत्वेनापि च तलिनतां वासतेयी विवेश ।
नैतन्नोद्यं विमलरुचयः प्रायशो हि श्वयन्ति
क्षीयन्ते चाभ्यधिगततमः स्तोमभावाः स्वभावात् ॥३१॥

वृद्धिं भेजे ० हे जीमूत यत् दिवसपतिः कर्तृपदं **स्वप्रतापेन सत्रा** सार्धं **अनिशं** निरन्तरं **वृद्धिं भेजे** आश्रितवान् अपि च पुनः यत् **वासतेयी** रात्रिः **शीतत्वेन** सत्रा सह **तलिनतां** कृशतां **विवेश** आश्रिता । **एतत् न नोद्यं** न आश्चर्यं **हि** यस्मात्कारणात् विमलरुचयः पदार्थाः **प्रायशः** स्वभावेनैव **श्वयन्ति** वर्धन्ते[1] च पुनः **अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः** पदार्थाः **स्वभावात् क्षीयन्ते** क्षयंप्राप्नुवन्ति अभ्यधिगतसामस्त्येन प्राप्तः तमः स्तोमसमूहो यैः तैः अभ्यधिगततमःस्तोमाः अभ्यधिगततमः स्तोमाश्च ते भावाः पदार्थाश्च अभ्यधिगततमःस्तोमभावाः अयमत्रभावः । **ये किल विमलरुचयो** भवन्ति ते वर्धन्ति ततो दिवसं विमलरुचित्वात् वृद्धं ग्रीष्मे दिनवृद्धित्वात् ये च किल आश्रित तमःस्तोमा भवन्ति ते क्षीयन्ते ततो रात्रिराश्रित तमःस्तोमत्वात् क्षयं गता ग्रीष्मरात्रेः हीनत्वादिति ॥ ३१ ॥

दिन निरन्तर अपने प्रताप के साथ बढ़ता रहा पर रात्रि अपनी शीतलता के कारण घटती ही गई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि निर्मल स्वभाव वाले लोग प्रायः उन्नति करते हैं और मलिन स्वभाव वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. वृधु वर्धने धातु के आत्मने पद होने से वर्धन्ते प्रयोग होना चाहिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रोतस्विन्याः सिकतिलतटेनाग्निमिन्धेन भानो-
र्भासां स्पर्शादपि पथि चरद्देहिनो देहिरे धिक् ।
यद्वाऽऽसक्तः प्रकृतिकुटिलास्वाचरेन्निम्नगासु
प्रायोऽश्रेयो मृदुरपि न कः स्वल्पमप्यूष्मयोगे ॥३२॥

श्रोतस्विन्याः ० हे जलद **श्रोतस्विन्याः** नद्याः **सिकतिलतटेन** वालुकासंयुक्त-पुलिनेन कर्तृणां **पथिमार्गे चरद्देहिनो** चलत्प्राणिनः **धिक्** इति खेदे **देहिरे** दिग्धाः । किंरूपेण सिकतिलतटेन—**भानोः** सूर्यस्य **भासां स्पर्शादपि अग्निमिन्धेन** अग्निवत् ज्वलता **यद्वा** अथवा **कः** पुमान् **मृदुरपि** सुकुमारोऽपि **निम्नगासु आसक्तः** सन् **प्रायः** स्वभावो येन **अश्रेयो विरूपं न आचरेत्** अपितु सर्वः कोऽपि आचरति । किंरूपासु निम्नगासु—**प्रकृतिकुटिलासु** । क्वसति—**स्वल्पमपि** स्तोकमपि **ऊष्मयोगे** सति तापमेलापके सति ननु यः स्वल्पमपि ऊष्मयोगे सति प्रतापयोगे सति स्वभाव-वक्रासु **निम्नगासु** नीचगामिनीषु स्त्रीषु आसक्तः सन् (स्यात्) यस्य अश्रेयसः समाचरणे किमाश्चर्यं । अतः इदमपि तटं यदि तदासक्तं तद्रूपंवत् देहिनो दहति तर्हि आश्चर्यं इति भावः ॥ ३२ ॥

बालू से भरे नदी के तट ने सूर्य की किरणों के स्पर्श से गर्म होकर मार्ग में चलने वाले पथिकों (राहगिरों) को जो जलाया यह धिक्कार है । स्वभाव से ही कुटिल स्त्रियों में आसक्त कौन ऐसा भद्रपुरुष है जो थोड़ी-सी भी गर्मी पाकर (अर्थात् स्त्रियों का साथ मिलने पर) अनुचित कार्य नहीं करता ? ॥ ३२ ॥

लब्ध्वा तेजः खरतरकरैर्गोपतिः पीडयित्वा
तोयस्थानान्यतिघनरसानाददानः प्रतापी ।
निन्ये हानिं स्वजननलिनास्थानरूपाणि लोके
प्राप्तैश्वर्यं रमयति यतो गृद्धिबुद्धिर्विशेषात् ॥३३॥

लब्ध्वा तेजः ० हे मेघ **गोपतिः** सूर्यः **तेजो लब्ध्वा** प्राप्य **तोयस्थानानि** सरोवरादीनि **हानिं** विनाशं **निन्ये** प्रापयतिस्म । किंकृत्वा—**खरतरकरैः** अतिकठोर-किरणैः **पीडयित्वा** । गोपतिः किंकुर्वाणः—**अतिघनरसान्** अन्वर्थं जलानि **आददानः** गृह्णानः । किंरूपाणि तोयस्थानानि—**स्वजननलिनास्थानरूपाणि** स्वजनप्रायकमल-निवासरूपाणि अन्योऽपि गोपतिः राजा तेजो लब्ध्वा स्वजनस्थानानि निजलोक-निवासान् खरतरकरैः कठोरकरग्रहैः पीडयित्वा हानिं नयति इत्युक्तिलेशः । हे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघ ! यतो यस्मात् कारणात् लोके लोकमध्ये गृद्धिबुद्धिः सलोभधीः विशेषात् प्राप्तैश्वर्यं प्राप्तसमृद्धि पुरुषं रमयति सलौल्यं करोति ॥ ३३ ॥

तेज को प्राप्त कर प्रतापी सूर्य ने अपनी प्रखर उष्ण किरणों से जल को खींचते हुए अपने ही परिवार (कुटुम्ब) वाले कमलों के निवास स्थान (तालाब) को पीड़ित कर हानि पहुँचायी अर्थात् सुखा दिया[1]। यह सच ही है कि संसार में लोभ में आसक्त बुद्धि ऐश्वर्य को प्राप्त किये व्यक्ति को विशेष रूप से अपने अधीन कर लेती है ॥ ३३ ॥

तापव्यापाकुलितजनतपञ्चशाखे तुषारान्
संवर्षद्भिः पवनलुलितैस्तालवृन्तैर्विरेजे ।
घर्तुः शैत्योन्नततरुभिदे वर्ष्मलक्षाणि घर्म-
व्यालस्येव स्रुतमदकणैः कर्णतालैर्विलोलैः ॥३४॥

तापव्यापा ० हे जलद ! तापव्यापाकुलितजनतापञ्चशाखे तापव्यापाकुलीभूतः जनसमूहहस्ते तालवृन्तैः व्यजनकरैः विरेजे राजितं। किरूपैः तालवृन्तैः—तुषारान् जलकणान् संवर्षद्भिः। पुनः किरूपैः—पवनलुलितैः पवनचालितैः। पुनः कीदृशैः, उत्प्रेक्ष्यन्ते—घर्मव्यालस्य घर्म एव व्यालो दुष्टगजस्तस्य कर्णतालैरिव कर्णपर्पटकैरिव। किरूपैः विलोलैः—चञ्चलैः तथा स्रुतमदकणैः क्षरितदानजलकणैः। किरूपस्य घर्मव्यालस्य—शैत्योन्नततरुभिदे वर्ष्मलक्षाणि धर्तुधारकस्य। शैत्यमेव उन्नतं उच्चैस्तरोयस्तरु वृक्षस्तस्य भिदे भेदाय वर्ष्मलक्षाणि शरीरचिह्नानि धर्तुः ॥ ३४ ॥

ग्रीष्म में ताप के विस्तार से पीड़ित लोगों के हाथों में जलकण वर्षा एवं वायु के लिए डुलाये जा रहे पंखे ऐसे शोभित हो रहे थे मानो शीतलता रूपी बड़े वृक्ष को तोड़ने के लिए लाखों शरीर धारण करने वाले घाम (धूप) रूपी मतवाले हाथी के मदकण टपकाने वाले चञ्चल कान हों ॥ ३४ ॥

संतापाढ्यः प्रखरकरभोर्जातदोषोदयेच्छ-
स्तृष्णापात्रं जडकृतरतिर्दीर्घनिद्राभिलाषी ।

---

१. जैसे कोई प्रतापी राजा अपने ऐश्वर्य में मत्त होकर कठोर कर लेकर अपनी प्रजा का शोषण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजन्वत्यप्यवनिवलयेऽदभ्रदाहे निदाघे-
ऽबोभूयिष्टानलसविलसद्धर्मशर्माऽपि लोकः ॥३५॥

संतापाढ्यः ० हे मेघ ! **निदाघे** उष्णकाले **अवनिवलये** पृथ्वीमण्डलेराजन्वत्यपि सति शोभनराजयुक्तेऽपि सति **अनलसविलसद्धर्मशर्माऽपि** अनलसेन आलस्याभावेन विलसन् प्रसरन्, धर्मशर्म च यस्यासौ एवंविधोऽपि सन् ईदृशः **अबोभूयिष्ट** अत्यर्थं बभूव । किंरूपो जनः—**संतापाढ्यः** संतापेन क्लेशेन आढ्यः संतापाढ्यः **तथा प्रखरकरभीः** प्रखरेण तीक्ष्णेन करेण राजदेयभागेन भीः भयं यस्य स प्रखरकरभीः तथा **जातदोषोदयेच्छः** जाता उत्पन्ना दोषस्य परावगुणस्य उदये इच्छा अभिलाषो यस्य सः । **तृष्णापात्रं** तृष्णायाः लौल्यतायाः पात्रं भाजनं तृष्णापात्रं तथा **जडकृतरतिः** जडे मूर्खे कृता रतिः संतोषो येन स तथा **दीर्घनिद्रां** मरणं **अभिलषतीत्येवंशीलो** दीर्घनिद्राभिलाषी इति विरोधः । अथ विरोधपरिहारमाह—सम्यक्तापेन घर्मणा आढ्यः प्रभूरैः कठोरैः किरणैः भीः भयं यस्य **जातदोषोदयेच्छः** राज्युदये इच्छा यस्य स तथा **तृष्णापात्रं जडकृतरतिः जलयोरैक्यत्वात्** जले पानीये कृता रतिर्येन स तथा दीर्घनिद्रां प्रचुरांनिद्रां अभिलषतीति दीर्घनिद्राभिलाषी । किंविशिष्टे निदाघे—तीव्रदाहे ॥ ३५ ॥

उत्साह पूर्वक अपना धर्म-कर्म करते हुए सुखशान्ति वाले लोग, देश में श्रेष्ठ राजा के रहते हुए भी अत्यधिक ताप वाले ग्रीष्म काल में सन्तप्त (सूर्य की) प्रखर किरणों से डरने वाले, (कठोर कर से डरने वाले) रात्रि होने की इच्छा वाले (ईर्ष्या द्वेषादि दोषों वाले) प्यासे जल के इच्छुक (लोभी) मूर्खों के प्रेमी अधिक निद्रा चाहने वाले हो गये ॥ ३५ ॥

ऊष्मोत्कर्षान्न सुखमपुषत् सौधमाध्यन्दिनोर्वी
लूकास्तोकोदयदरतितः सौधमूर्धाधिवासः !
दूरीकृत्य द्वयमिति जले केलिकामः सनेमिः
शौरिर्लीलोपवनमसरत्तूरसंहूतपौरः ॥३६॥

ऊष्मोत्कर्षात् ० हे मेघ ! **सौधमाध्यन्दिनोर्वी** नृपमन्दिरमध्यस्थितभूमिका **ऊष्मोत्कर्षात्** घर्माधिक्यात् **सुखं न अपुषत्** न पुपोष तथा **लूकास्तोकोदयदरतितः** लूकायाः अस्तोकाप्रचुरा उदयन्ती या अरतिः असमाधिः तस्याः **सौधमूर्धाधिवासः** धवलगृहोपरितनप्रदेशः सुखं न अपुषत् । हे मेघ ! **शौरिः** कृष्णः इति पूर्वो **द्वयं दूरीकृत्यजले केलिकामः सनेमिः** नेमिनाथसहितः सन् **लीलोपवनं** क्रीडावनं **असरत्**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगाम । किंरूपः तूरसंहूतपौरः—तूरैर्वादित्रैः संहूताः प्रेक्षणार्थं आकारिताः पौर-नागरिका येन सः ॥३६॥

गर्मी की अधिकता से महल के मध्य की भूमि सुख नहीं दे रही थी और महल का उपरी भाग अत्यधिक लू चलने से कष्ट दे रहा था, अतः श्रीकृष्ण इन दोनों (अर्थात् महल को) को छोड़कर अपनी शंख ध्वनि से नगर वासियों को बुलाकर श्रीनेमि के साथ जल में विहार करने की इच्छा से लीला उपवन में गये ॥३६॥

ज्येष्ठं कृत्वा पुर इव भुजन्नम्रसालै रसालैः
सालैर्ग्रीष्मः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे ।
पुञ्जीभूता भुवि विगलनाद्भारतार्धत्रिलोकी-
लीलापत्योः स्वफलपटली प्राभृतेऽचीकरच्च ॥३७॥

ज्येष्ठं कृत्वा ० च पुनः उत्प्रेक्ष्यते—**ग्रीष्मः** उष्णकालः **भारतार्धत्रिलोकी-लीलापत्योः** कृष्णनेम्योः **रसालैः** सहकारैः **सालैः** वृक्षैः **स्वफलपटलीः** निजसमूहान् **प्राभृते** ठौकने **अचीकरदिव** कारयतिस्मेव । किंकृत्वा—**ज्येष्ठं** ज्येष्ठमासं **पुरः** अग्रे **कृत्वा** । क्वसति—**प्रमदवनभूमध्यदेशे** प्रविशति सति क्रीडावनभूमध्यदेशप्रवेशे सति । किंरूपैः रसालैः—**भुजन्नम्रसालैः** भुजन्त्यो भुजइवाचरन्त्यो नम्रा नमनशीलाः शालाः शाखा येषांते तैः । किंरूपाः स्वफलपटलीः—**विगलनात् भुवि** पृथिव्यां **पुञ्जीभूता** राशीभूताः अन्योऽपि किल ज्येष्ठं वृद्धं जनं अग्रे स्वफलानि स्वामिनो ठौकने कारयति ॥३७॥

गर्मी के दिनों में आम्रवृक्ष पके हुए फलों से लदकर झुक जाते हैं तथा पके हुए आम जमीन पर भी फैल जाते हैं इसी प्राकृतिक दृश्य को कवि ने उत्प्रेक्षित करते हुए कहा है कि ग्रीष्म उन दोनों का स्वागत कर रहा है ।

श्रीकृष्ण और नेमिनाथ के उस प्रमदवन में प्रवेश करने पर ग्रीष्म ऋतु ने ज्येष्ठमास को आगे कर (जैसे किसी विशिष्ट व्यक्ति के आने पर घर का मुखिया स्वागत करता है । उसी प्रकार गर्मी का मुखिया ज्येष्ठ मास) रसदार फलों से युक्त आम्रवृक्ष को नम्रीभूत शाखा रूपी भुजा से एवं पृथिवी पर गिरे हुए आम्र फलों से उन दोनों का स्वागत किया ॥३७॥

दर्शं दर्शं फलितफलदान् पाकिमं पीतलत्वं
बिभ्रद्बभ्रुः सरसमकृशं वानशालाटवान्यत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्जद्गर्जः फलमथ ललौ लीलयाऽनाश्रवार्थं
सारग्रन्थान् कविरिव सुधीः सद्गुणं सूक्तजातम् ॥३८॥

दशं दशं ० हे जलद ! **अथ** वनप्रवेशानन्तरं **बभ्रुः** कृष्णो **लीलया फलं ललौ**, जातित्त्वादेकवचनं फलानिललावित्यर्थः । किंकृत्वा —**फलित फलवान्** फलितवृक्षान् **दशं दशं** दृष्ट्वा फलं किं कुर्वत् । पाकिमं पीतलत्वं बिभ्रत् पाकेन निवृत्तं निष्पन्नं पाकिमं एवं विधं पीतलत्वं पीतवर्णत्वं धरत् । कीदृशं सरसं—रससहितं अकृशं स्थूलं । पुनः कीदृशं—वानशालाटवान्यत् वानं शुष्कं शालाटवं अपक्वसमूहः ततो-अन्यत् पृथुक् किंरूपो—**बभ्रुः**—गर्जद्गर्जः गर्जत्गर्जारवं कुर्वन् गर्जो गजो यस्य सः । क इव—**सुधीः कविरिव**, यथा सुधीः विद्वान् कविः सारग्रन्थान् प्रशस्य-शास्त्राणि दशं दशं सूक्तजातं सुभाषितस्य समूहं लाति । किंरूपं सूक्तजातं—अनाश्रवार्थं अदोषार्थं । पुनः किंरूपं—सद्गुणं माधुर्यादिकाव्यदशगुणसहितम् ॥३८॥

इसके बाद गर्जना करते हुए हाथी वाले श्रीकृष्ण ने फले हुए वृक्षों को देख-देख कर पीले-पीले पके हुए रसीले बड़े-बड़े फलों को ऐसे तोड़ लिया जैसे विद्वान् कवि सारग्रन्थों के निर्दोष अर्थ वाले सूक्ति-समूह को ग्रहण कर लेता है ॥३८॥

त्यक्त्वा नागं दृढितपरमप्रेम हस्तेन हस्तं
बद्ध्वा बन्धोर्गज इव गजस्यैष बम्भ्रम्यमाणः ।
वीक्षाञ्चक्रे सरससरसीः सस्मितं पाणिपद्मै-
राम्भोनर्भानिव कलरुतान् पत्रिणः खेलयन्तीः ॥३९॥

त्यक्त्वा नागं ० हे मेघ ! स एषः कृष्णः **सरससरसीः** सजलसरोवराणि **वीक्षा-ञ्चक्रे** अद्राक्षीत् । किंविशिष्टः एषः—**नागं त्यक्त्वा** गजं परित्यज्य **दृढितपरमप्रेम** यथा भवति दृढीकृतं प्रधानस्नेहं यथा भवति तथा **बन्धोः** बान्धवस्य श्रीनेमेः **हस्तेन हस्तं बद्ध्वा** गज इव **बम्भ्रम्यमाणः** अत्यर्थं भ्रमन् । किंरूपाः सरसीः—**पाणिपद्मैः** समानानि पद्मानि तै हस्तरूपकमलैः सस्मितं सहास्यं यथा स्यात् तथा **पत्रिणः** पक्षिणः **खेलयन्तीः** क्रीडयन्तीः । किंरूपान् पत्रिणः—**आम्भोन्** अम्भः सम्बन्धिनः **अर्भानिव** बालकानिव यथा **कलरुतान्** मधुरशब्दान् अन्या अपि स्त्रियः पाणिपद्मैः सस्मितं यथा भवति तथा अर्भकान् खेलयन्ति ॥३९॥

हे मेघ ! उन श्रीकृष्ण ने हाथी के हाथ (सूँड़) को छोड़कर अपने प्रेम को और दृढ़ करते हुए, श्रीनेमि के हाथ से हाथ मिलाकर घूमते हुये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हँसते हुए तालाबों को देखा जिसमें हवा के झोंकों से हिलते हुए कमलों के साथ कलरव करते हुए जलपक्षी खेल रहे थे। वे ऐसे लग रहे थे जैसे तालाब रूपी माँ कमलरूपी हाथों से रोते हुए बच्चों की तरह शब्द करते हुए पक्षियों को खिला रही हो ॥३९॥

तत्रान्यत्रोत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु चैष
क्रीडां कर्तुं रतिवशवशावृन्दवर्ती सुगात्रः ।
मृद्नन् पदभ्यां नलिननिकरं नीरपूरं करेणो-
दस्यन् पश्यन्नधिमदमुपाक्रंस्त हस्तीव शस्तः ॥४०॥

तत्रान्यत्रो ० हे जलद ! **च** अन्यत् **एषः** कृष्णः **तत्र** तासु पूर्वदृष्टासु सरसीषु **अन्यत्र** अन्यस्मिन्नपि **उत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु** उत्तराकाष्टाः सरयो निर्झराणि सरितो नद्यः वापिः वापिका तासां तोयेषु जलेषु **क्रीडां कर्तुं उपाक्रंस्त** उपक्रमञ्चकार ! **किंरूपः एषः—रतिवशवशावृन्दवर्ती** रतेः कामभार्यायाः क्रीडायाः वावशायाः आयत्तायाः वशाःनार्यः तासां वृन्दे समूहे वर्ती वर्त्तनशीलः । पुनः **किंरूपः—सुगात्रः** शोभनकायः **पद्भ्यां नलिननिकरं** कमलसमूलं **मृद्गन्** मर्दयन् तथा **अधिमदं** अधिकमदं यथा भवति **तथा करेण** हस्तेन **नीरपूरं उदस्यन्** उत्क्षिपन् । पुनः कीदृशः—**शस्तः** प्रधानः । **क इव—हस्तीव** यथा सरिसद्विपितोयेषु क्रीडां कर्तुं उपक्रमते उपक्रमं करोति । किंरूपो **हस्ती**रतिवशवशावृन्दवर्ती रते वशायाः आयत्तायाः वशाः हस्तिन्यः तासां वृन्दे **वर्त्तनशीलः** तथा **सुगात्रः** सुष्ठुं शोभनं गात्रं अग्रप्रदेशो यस्य सः तथा पदमां पद्मनिकरं मृद्गन्, करेण शुण्डादण्डेन नीरपूरं उदस्यन् नश्यन् ॥४०॥

उन तालाबों एवं अन्य प्रधान सरित्, वापियों में कामानुरक्त स्त्रियों के बीच में स्थित सुन्दर शरीर वाले श्रीकृष्ण हाथों से जल समूह को उलोचते हुए तथा मदभरी दृष्टि से कामानुरक्त स्त्रियों को देखते हुए उसी प्रकार क्रीड़ा करने लगे जिस प्रकार श्रेष्ठ तथा उत्तम अग्रभाग (मन) वाला हाथी तालाबों के बीच में प्रवेश कर रतिवशा हथिनियों के बीच में पैरों से कमलों को कुचलता हुआ तथा सूँड़ से पानी को उछालता हुआ तथा मतवाली आखों से (उन रतिवशा हथिनियों को) देखता हुआ क्रीड़ा करता है ॥४०॥

नाडीं क्वापि क्वचन घटिका याममेकं क्वचिच्च
द्वित्रान् क्वापि क्वचिदपि दिनं पक्षिणं गर्भकं च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थायं स्थायं सलिलनिलये तीव्रतापोपशान्त्यै
शौरिर्मग्नोऽपि हि रतिरसे दीर्घिकायां ममज्ज ॥४१॥

नाडीं क्वापि ० हे मेघ ! **शौरिः** कृष्णो **हि** निश्चितं **रतिरसे** क्रीडारसे **मग्नोऽपि दीर्घिकायां ममज्ज** मग्नवान् सस्तौ इत्यर्थः । **किमर्थं—तीव्रतापोपशान्त्यै** दुःतापोपशमनार्थं **क्वापि सलिलनिलये** जलस्थाने **नाडीं** एकघटिकां **स्थायं स्थायं** स्थित्वा स्थित्वा, **क्वचित् द्वित्राः** घटिकाः स्थायं स्थायं, **क्वचित् एकयामं** प्रहरं स्थायं स्थायं, च पुनः **द्वित्रान्** यामान् स्थायं स्थायं, **क्वचिदपि दिनं** एकदिवसं स्थायं स्थायं, च पुनः **पक्षिणं** स्थायं पक्षितुल्याभ्यां वेष्टितो यो दिवसः सः पक्षी तं **पक्षिणं, क्वचित् गर्भकं** रजनीद्वन्द्वं स्थायं स्थायं ॥४१॥

श्रीकृष्ण प्रेमरस में मग्न होते हुए भी अपने तीव्र ताप को शान्त करने हेतु उन जल स्थानों में कहीं एक घड़ी, कहीं अनेक घड़ी, कहीं एक पहर, कहीं दो तीन पहर, कहीं पर एक दिन, कहीं पर एक पक्षी, (दो दिन और एक रात्रि) और कहीं दोरात्रि पर्यन्त रुक कर उन दीर्घिकाओं में मज्जन किया ॥४१॥

तस्यां श्रोणिद्वयसपयसि स्मेरपङ्केरुहायां
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसोपानकायाम् ।
हर्षात् खेलन् सह सहचरीरत्नवारेण तारा-
चक्रेणेवाभ्रमदुडुपतिर्मेरुमन्वेष नेमिम् ॥४२॥

तस्यां श्रोणि ० हे जलद ! **एषः** कृष्णः **सहचरीरत्नवारेण सह** स्त्रीरत्नसमूहेन सह **नेमिं** अनु श्रीनेमिनाथं परितः **अभ्रमत्** बभ्राम । एषः किं कुर्वन्—**तस्यां** वापिकायां **हर्षात् खेलन्** क्रीडन् । किंरूपायां तस्यां—**श्रोणिद्वयसपयसि** श्रोणिद्वयसं कटीतटप्रमाणं पयो जलं यस्यां सा तस्यां तथा **स्मेरपङ्केरुहायां** विकस्वरकमलायां तथा **रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसोपानकायां** रत्नानां श्रेण्या खचितानि जटितानि निचितानि दृढानि स्वर्णस्य सोपानकानि चरणनिवेशस्थानानि यस्या सा तस्यां । क इव—उडपतिः इव, यथा **उडुपतिः** चन्द्रमा **ताराचक्रेण सह मेरुं** अनुभ्रमति ॥४२॥

कटि भाग पर्यन्त जलवाली, खिले कमलों वाली, रत्नजटित दृढ़ स्वर्ण सीढ़ियों वाली उस दीर्घिका 'बावली' में श्रेष्ठ सुन्दरी समूह के साथ हर्ष से खेलते हुए श्री नेमि का श्रीकृष्ण ने उसी प्रकार एक चक्कर लगाया जैसे चन्द्रमा तारा समूह के साथ मेरु का चक्कर लगा रहा हो ॥४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्याकूतं यदुपतिगृहाः संविदाना मदाना-
माद्यं बीजं निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्याः ।
दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥४३॥

पत्याकूतं ० हे जलद ! **यदुपतिगृहाः** विष्णुपत्न्यः तं प्रभुं श्रीनेमिनं **परीयुः** प्रदक्षिणीचक्रुः । किंरूपाः यदुपतिगृहाः—**पत्याकूतं** पत्यभिप्रायं **संविदानाः** संजानन्त्यः । पुनः किंरूपाः—**मदानामाद्यं बीजं** अत्राविष्टलिङ्गत्वादेकत्वं नपुंसकत्वं च तथा **निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्याः** निवसितानि परिहितानि सितानि शुभ्राणि श्लक्ष्णानि सुकुमाराणि पत्तोर्णानि श्वेतवस्त्राणि यानि तैः वर्ण्याः वर्णयितुंयोग्याः तथा **दृक्कोणेन** नेत्रविभागनिरीक्षणेन **त्रिभुवनमपि** त्रिजगदपि **क्षोभयन्त्यः** चालयन्त्यः तथा **कर्मापेक्षाः** कर्मणां हास्यादि कार्याणां अपेक्षा वाञ्छा यासां ताः तथा **मोहसेनाः** मोहस्य सेनारूपायाः ताः । किंरूपं तं—**परमपुरुषं** प्रधानपुरुषं, अन्यापि कर्मापेक्ष्या मोहसेनाः परमपुरुषं आत्मानं परियन्ति । किंरूपा मोहसेनाः—कर्मणा मोहनीयादीनां अपेक्ष्या यासां ताः ॥४३॥

यदुपति श्रीकृष्ण की पत्नियों ने जो श्वेत तथा कोमल साड़ियों को पहनने के कारण प्रशंसनीय थीं, तथा अपने कटाक्षों से सारे जगत् को भी हिला देने वाली थीं, विलासकर्म की और भी अधिक अपेक्षा करते हुए अपने पति के संकेत को जानकर मदों के मूलकारणरूप उन प्रभु श्रीनेमि को उसी प्रकार घेर लिया जैसे कर्म की अपेक्षा रखने वाली मोहसेना आत्मा को घेर लेती है ॥४३॥

तासां लीलोल्ललनजनिता गुन्दलन्ति स्म तोय-
ध्वाना वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः साध्वनृत्यन् ।
श्रोत्रापेयं मधुकरकुलैर्गीयते स्मातिरक्तं,
तस्येत्यासीदिव नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः ॥ ४४ ॥

तासां लीलो० हे जलधर ! उत्प्रेक्ष्यते—**तस्य** श्रीनेमेः **इति नवरसाशुद्धसङ्गीतरीतिः** नवाः नूतनाः रसाः शृङ्गारादयो यस्यां सा एवंविधा शुद्धा निर्दोषा सङ्गीतस्य नाट्यस्य आसीदिव इति, इति किं—**तोयध्वानाः** जलशब्दाः **गुन्दलन्तिस्म** मृदङ्गशब्दवत् आचरन्तिस्म ! किंरूपाः तोयध्वानाः—**तासां** यदुपत्नीनां **लीलोल्ललनजनिताः** लीलया उल्ललनं ऊर्ध्वोत्पत्तनं तेन जनिताः निर्मापिताः । हे मेघ !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीचिप्रचलनलिनीनर्तिकाः कल्लोलचपलापद्मिनी नद्यः **साधु** मनोज्ञं यथा भवति तथा **अनृत्यन्** नृत्यं अकुर्वन् । हे मेघ ! **मधुकरकुलैः अतिरिक्तं** अधिकं **श्रोत्रापेयं** श्रोत्रैः कर्णैः आपेयं अत्यन्ताकर्ण्यनयोग्यं **गीयतेस्म** ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण की पत्नियों से घिरे हुए भगवान् श्रीनेमि ऐसे लग रहे थे मानो नवरसों से युक्त नाटक कर रहे हैं । जिसमें उन रमणियों द्वारा उछाले गये जलसे उत्पन्न ध्वनि ही मृदङ्ग की ध्वनि थी लहरों के झोकों से हिलती हुई कमलिनी ही अच्छी प्रकार से नृत्य करने वाली नर्तकी थी एवं भ्रमरों का गुञ्जार ही कानों को प्रिय लगने वाला उस नाट्यका गीत था ॥ ४४ ॥

पूरं पूरं सुरभिसलिलैः स्वर्णभृङ्गाणि रङ्गात्
सारङ्गाक्ष्यः स्मितकृतममुं सर्वतोऽप्यभ्यषिञ्चन् ।
धारा धाराधर ! सरलगास्ताश्च वारामपाराः
स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसारा विरेजुः ॥ ४५ ॥

पूरं पूरं सुरभि० हे मेघ ! **सारङ्गाक्ष्यः** यदुपत्न्यः **अमुं** श्रीनेमिं **सर्वतोऽपि** समन्ततः **अभ्यषिञ्चन्** अवर्षन् । किं कृत्वारङ्गात् **सुरभिसलिलैः स्वर्णभृङ्गाणि पूरं पूरं** पूरयित्वा । किंरूपं अमुं—**स्मितकृतं** स्मितं हास्यं करोतीति स्मितकृतम् । **हे धाराधर** हे जलधर च पुनः **तां वारां** पानीयानां **धाराः स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसारा** विरेजुः स्मरस्य इमे स्मराः अमुष्य श्रीनेमेः अङ्गं अदोङ्गं प्रति प्रसृमराः प्रसरणशीलाः शरासारवत् बाणाः वेगवती दृष्टिः इव साराः प्रधानाः शुशुभुः । किंभूताः धाराः—**सरलगाः** अकुटिलगामिन्यः तथा **अपाराः** पाररहिताः बहवः इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सारङ्गाक्षी उन रमणियों ने अपनी अपनी स्वर्णिम पिचकारियों को सुरभित जलों के रङ्गों से भर कर मुस्कुराते हुए उन भगवान् श्रीनेमि को सराबोर कर दिया । हे मेघ ! सीधी जाती हुई जल की वे अपार धाराएं भगवान् श्रीनेमि के अङ्गों की ओर चलाए गये काम के बाणों की वृष्टि सी शोभित हो रही थीं ॥ ४५ ॥

नित्योन्निद्रं पुरुपरिमलं राजतेजोविराजि
स्पष्टश्रीकं वदनकमलं देव ! ते सेवतेऽदः ।
स्थानभ्रष्टं जितमिति वदन्त्येव कर्णावतंसी-
चक्रे काचिद्दशशतदलं लीलयोल्लूय तस्य ॥ ४६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्योन्निद्रं० हे जलद ! **काचित्** वामा **दशशतदलं** सहस्रपत्रकमलं **लीलया उल्लूय** छेदयित्वा **तस्य** श्रीनेमेः **एककर्णावतंसीचक्रे** एककर्णाभरणं चकार इत्यर्थः । काचित् कुर्वती—**इति वदन्ती**, इति किम्—हे **देव ! अदः** कर्णावतंसीकृतकमलं **ते** तव **वदनकमलं** मुखपद्मं सेवते । किंरूपं वदनकमलं—**नित्योन्निद्रं** सदाविकस्वरं तथा **पुरुपरिमलं** भूरिसौरभं तथा **राजतेजोविराजि** राजमहोविराजि तथा **स्पष्ट-श्रीकं** स्पष्टाश्रीका शोभा यस्य तं तत् । किंरूपं अदः—**स्थानभ्रष्टम्** अतएव **जितं** ॥ ४६ ॥

किसी रमणीने एक सहस्रदलकमलपुष्प को लीला पूर्वक तोड़कर यह कहते हुए कि हे देव ! यह कमल परास्त होकर अन्य के मुखकमल की सेवा कर रहा है'' उसे भगवान् श्रीनेमि के कान में पहना दिया। कमल का भगवान् के मुखकमल से पराजित होने का कारण यह है कि श्रीनेमि का मुख कमल नित्य खिला रहता है पर यह कमल केवल दिन में ही खिलता है, श्रीनेमि के मुखकमल में प्रभूत सुगन्ध है पर कमल में अल्प मात्रामें ही सुगन्ध है श्रीनेमि का मुख कमल राजतेज से युक्त है पर कमल में चन्द्रमा का तेज नहीं है। श्रीनेमि के मुखमण्डल में कान्ति है पर कमल में वैसी कान्ति नहीं है। कमल उखाड़े जाने के कारण स्थानभ्रष्ट भी है। इन्हीं कारणों से पराजित होकर यह कमल आपके मुख कमल की सेवा में प्रवृत्त हुआ है।

स्पर्धध्वे रे ! नयननलिने निर्मले देवरस्य
स्मित्वेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती ।
कन्दोत्खातान् धवलकमलान् कामपाशप्रकाशान्
नाशाशास्यानुरसि सरसाऽहारयत् स्वामिनोऽन्या ॥ ४७ ॥

स्पर्धध्वे० हे जलद ! **अन्या** काचित् वामा **धवलकमलान्** श्वेतपद्मानि **स्वामिनः** श्रीनेमेः **उरसि** हृदये **अहारयत्** हारं अकरोत् । किंविशिष्टान् धवल-कमलान्—**कन्दोत्खातान्** कन्दोच्छिदितान् तथा **कामपाशप्रकाशान्** कामपाशः काम-बन्धनं प्रकाशयन्ती कामपाशप्रकाशाः तान् तथा **नाशाशास्यान्** नाशिकया आशा-स्यान् आघ्राणयोग्यान् । किंरूपा सा—**सरसा** सशृङ्गाररसाः । किं कुर्वती—**इति एवं स्मित्वा** हसित्वा, **शिततरतिरःकाक्षकाण्डान्** अतितीक्ष्ण तिर्यग् कटाक्षबाणान् **किरन्ती** विक्षिपन्ती । इतीति किं ? रे कमलाः । यूयं **देवरस्य** श्रीनेमेः **निर्मले नयननलिने** नेत्रकमले **स्पर्धध्वे** ताभ्यां सह स्पर्धां कुरुध्वे इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अन्य श्रीकृष्ण की पत्नी ने मुस्कराकर अपने तीक्ष्ण कटाक्षरूपी वाणों को चलाते हुए, जड़ से उखाड़े गये नासिका के सूँघने योग्य हार में गूथे गये काम के पाश की तरह श्वेत कमलों को यह कहकर श्रीनेमि के गले में पहना दिया कि ऐ— तू मेरे देवर के निर्मल नेत्रों से स्पर्धा कर रहा है ॥ ४७ ॥

क्रीडां हेमद्युतिहरिवधूबन्दितो बान्धवस्य
प्रीत्यै तन्वन् प्रतिकृतशतैरप्सु हर्षैकहेतुः ।
श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारश्चकाशे
विद्युन्मालापरिगतवपुर्वल्गु वर्षन्निव त्वम् ॥ ४८ ॥

क्रीडां हेमद्युति० हे जलद ! **स्वामी** श्रीनेमिः **चकाशे** शुशुभे । किं कुर्वन्— **अप्सु** पानीयेषु **प्रतिकृतशतैः** कृतस्य प्रतिकरणशतैः **बान्धवस्य** कृष्णस्य **प्रीत्यै** प्रीत्यर्थं **क्रीडां तन्वन्** विस्तारयन् कुर्वन् इत्यर्थः । किंरूपः स्वामी—**हेमद्युतिहरिवधूबन्दितः** हेमद्युतिः इव सुवर्णकान्तिः इव हरिवधूभिः बन्दितो बन्दीकृतो वेष्टितो इत्यर्थः **तथा हर्षैकहेतुः** आनन्दस्य अद्वितीयकारणं तथा **श्यामः** कृष्णवर्णः तथा **चिकुर-विगलद्वारिधारः** चिकुरेभ्यः केशेभ्यः विगलन्ती पतन्ती वारिधारा यस्य सः । क इव—हे जलद ! **त्वम् इव** यथा त्वं राजसे । किंरूपस्त्वं—**विद्युन्मालापरिगतवपुः** विद्युन्मालाभिः तडितश्रेणीभिः परिगतं वेष्टितं वपुः शरीरं यस्य सः **तथा वल्गु** मनोज्ञं यथा भवति तथा **वर्षन्** वृष्टिं कुर्वन् ॥ ४८ ॥

स्वर्णिम कान्ति से युक्त उन श्रीकृष्ण की पत्नियों से घिरे हुए, हर्ष के एक मात्र हेतु, तथा जिनके बालों से जल धाराएं बह रही हैं ऐसे श्याम वर्ण वाले श्रीनेमि अपने बन्धु श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए जलमें श्रीकृष्ण की पत्नियों को भिगोते हुए खूब जल क्रीड़ा की । उस समय वे ऐसे शोभित हो रहे थे मानो विद्युत से घिरे हुए तुम (मेघ) सुन्दर वर्षा करते हुए शोभित होते हो ।

अश्रान्तोऽपि श्रममिव वहन् व्यक्तमुक्तायिताम्भो-
बिन्दू रक्तोत्पलदललवामुक्तरक्ताङ्कुराढः ।
श्रीमान्नेमिर्जलपतिकफत्पुण्डरीकप्रकाण्डो
वारांराशेरिव सुरकरी पुष्करिण्या निरैयः ॥ ४९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अश्रान्तोऽपि० हे जलधर ! **श्रीमान्नेमिः पुष्करिण्या** वाप्या **निरैयः** निर्गतः । **अश्रान्तोऽपि** अखिन्नोऽपि **श्रममिव वहन्** धारयन् तथा **व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः** व्यक्तं स्पष्टं मुक्तायिता मुक्ताफलवदाचरिता अम्भसो जलस्य बिन्दवो यस्य सः तथा **रक्तोत्पलदललवामुक्ताङ्कराढः** रक्तोत्पलदललवै रक्तकमलपत्रखण्डैः आमुक्ता रचिता रक्ताङ्कस्य प्रवालस्य राढा शोभा यस्य स तथा **जलपतिकफत्पुण्डरीक प्रकाण्डः** जलपतिकफत् समुद्रफेनानि इव आचरन्तः पुण्डरीकानां श्वेतकमलानां प्रकाण्डास्थुडा यस्य सः । क इव—**सुरकरी इव** यथा सुरकरी ऐरावणः **वारांराशेः** समुद्रात् निर्गच्छति । सोऽपि अश्रान्तोऽपि श्रममिव वहति मुक्ताफलसहितः प्रवाल-युतश्च समुद्रफेनसहितश्च भवति ॥ ४९ ॥

इति विधिपक्षमुख्याभिधानश्रीमदञ्चलगच्छेश्वरश्रीजयकीर्तिसूरिशिष्य
पण्डितमहीमेरुगणिविरचितायां बालावबोधवृत्तौ श्रीनेमीश्वर-
वसन्तकेलिवर्णनोनाम द्वितीयः सर्गः ॥

न थकने पर भी थकान प्रकट करने वाले श्रीनेमिनाथ जल क्रीड़ाकर उस दीर्घिका (बावली) से निकले, उनके शरीर पर जल बिन्दुएँ थीं जो मोती को तरह लग रही थीं, उनके वक्षःस्थल पर शोभित श्वेतकमल की माला फेन की तरह लग रही थी एवं लालकमल मूँगे की तरह लग रहे थे । उस समय श्रीनेमि ऐसे लग रहे थे मानो ऐरावत जलक्रीड़ाकर समुद्र से निकला हो उसके शरीर पर मूँगे, मोती एवं फेन लगे हो ।

इति श्रीजैनमेघदूतमहाकाव्ये
द्वितीयः सर्गः
॥ २ ॥

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयः सर्गः

तस्योत्तंसीकृतशतदले तोयबिन्दून् वमन्ती
बभ्रासाते विरुतनिरतालोलरोलम्बचुम्ब्ये ।
हा ! त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः स्पर्धनादेनसां नौ
वृत्ते पात्रं प्ररुदित इतीवानुतप्ते सशब्दम् ॥१॥

तस्योत्तंसी ० हे जलधर ! **तस्य** श्रीनेमेः **उत्तंसीकृतदले** कर्णपूरीकृतशतपत्रकमले **बभ्रासाते** शोभते स्म । शतदले किं कुर्वती—**तोयबिन्दून् जललवान् वमन्ती** उद्गिरन्ती । किं रूपे शतदले—**विरुतनिरतालोलरोलम्बचुम्ब्ये** विरुतेषु शब्देषु निरता आसक्ता आलोलाः चञ्चलाः ये रोलम्बाः भ्रमराः तैः चुम्ब्ये चुम्बनीये । पुनः किंरूपे, उत्प्रेक्ष्यते—**इति** कारणात् **अनुतप्ते** पश्चात्तापयुक्ते सती **सशब्दं** यथा स्यात् तथा **प्ररुदित इव** अत्यर्थं रोदनं कुरुत इव । इतीति किं **नौः** आवां **त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः** श्रीनेमिनेत्रयोः **स्पर्धनात्** स्पर्धाकरणात् **एनसां** पापानां **पात्रं** भाजनं **वृत्ते** प्रवृत्ते । नौ इति प्रथमाद्विवचनान्तं पदं ज्ञेयं । यतो वामनौ इत्यादयः आदेशाः प्रथमादीनां भवन्ति । यथा, रघुकाव्ये—'गेये को नु विनेता वां' तथा च कृष्णक्रीडितग्रन्थे—'हृतमुत्फलुत्यविशाववेश्मनौ' इत्यादि ॥१॥

जलक्रीडा कर निकले हुए उन भगवान् श्रीनेमि के कर्णाभूषण बने हुए कमल, जलबूदों को टपकाते हुए एवं गुञ्जार करते हुए भ्रमरों से युक्त होकर ऐसे लग रहे थे, मानो वे रोते हुए पश्चात्ताप कर रहे हों कि 'हाय मैं प्रभु के नेत्रों की स्पर्धा करने के कारण पाप का पात्र बन गया हूँ ।'

[भगवान् की आँखों की कमल से उपमा दी जाती है, या लाल-लाल कमल पर काले भौंरे पुतलियों की तरह एवं उनसे टपकते हुए जलबिन्दु अश्रुओं की तरह लगते हैं ॥१॥]

दानश्च्योती द्विप इव झरन्निर्झरो वाञ्जनाद्रिः
पिण्डीभूतं वियदिव मनाक् शारदं वर्षदब्दम् ।
निन्ये सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पोऽञ्जनाभः
श्रीमान्नेमिः सपरिवृढतां फुल्लकङ्केल्लिमूलम् ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दानइच्योती ० हे जलधर ! **सः श्रीमान्नेमिः फुल्लकङ्केल्लिमूलं** पुष्पिताशोकमूलप्रवेशं **परिवृढतां** स्वामितां **निन्ये** प्रापयामास । किंरूपो नेमिः—**सर्वांपघननिपतन्मेघपुष्पः** सर्वेभ्यः शरीरावयवेभ्यः निपतत् पतत् मेघपुष्पं जलं यस्य सः **तथा** अञ्जनाभः अञ्जनवत् कज्जलवत् आभा कान्तिः यस्य । पुनः किं लक्षणः, उत्प्रेक्ष्यते—**दानइच्योती** मदस्रावी द्विप इव गज इव तथा **झरन्निर्झरः अञ्जनाद्रिः इव** अञ्जनगिरिः इव तथा **पिण्डीभूतं शारदं** शरत्कालसम्बन्धं **वियदिव** आकाशमिव । किंरूपं वियत्—**मनाक् स्तोकं अब्दं** मेघं **वर्षत्** ॥२॥

भगवान् श्रीनेमि एक पुष्पित अशोक के वृक्ष की मूल में (नीचे) बैठ गये श्यामवर्ण वाले श्रीनेमि के प्रत्येक अङ्ग से जलस्राव हो रहा था, ऐसा लग रहा था मानो कोई मदस्रावी गज हो अथवा ऐसा अञ्जन पर्वत हो जिससे झरने बह रहे हों या शरद् ऋतु में थोड़ा-थोड़ा जल बरसाने वाले एकत्रित मेघों से युक्त आकाश हो ॥२॥

गोप्तुं शक्ते अपि गुणवती नैव सङ्गाज्जडानां
गुह्यं भर्तुस्तदलमनयोः सेवयत्येष तूर्णम् ।
इच्योतत्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी वातिसक्ते
अप्यत्याक्षीत् परिहितचरे वाससी श्वासहार्ये ॥३॥

गोप्तुं शक्ते ० हे मेघ ! **एषः** भगवान्नेमिः **तूर्णं** शीघ्रं **परिहितचरे** पूर्वं परिहिते **वाससी** वस्त्रे इति कारणात् **अत्याक्षीत्** तत्याज । किंरूपे वाससी—**अतिसक्ते अपि** अत्यर्थं लग्नेऽपि । पुनः किंरूपे, उत्प्रेक्ष्यते—**इच्योतत्पाथः पृषतमिषतः** क्षरज्जलकणनिभतः **साश्रुणी वा** अश्रुयुक्ते वा । पुनः किंरूपे वाससी—**श्वासहार्ये** निःश्वासहरणीये अति स्वच्छत्त्वात् । इतीति किं—इमे वाससी **गुणवती अपि जडानां** मूर्खाणां **सङ्गात् भर्तुः** स्वामिनः **गुह्यं गोप्तुं** रक्षितुं **नैव शक्ते** नैव समर्थो । **तत्** तस्मात् कारणात् **अनयोः** वाससोः **सेवया अलं** पूर्यताम् । ननु अन्योऽपि यो गुणवान् ते अपि जडानां मूर्खाणां सङ्गात् भर्तुः गुह्यं गोप्तुं समर्थाः न भवन्ति, तान् भर्ता त्यजति । तैः च सेवां न कारयति इति श्लेषार्थलेशः ॥३॥

मेरे ये वस्त्र गुणवान् (तन्तुवान्) होते हुए भी जल के सम्बन्ध (भींगने) के कारण गुह्य अङ्गों को छिपाने में असमर्थ हैं अतः अब इनकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा सोचकर टपकते हुए जल बिन्दुओं के व्याज से अश्रु बहाने वाले तथा शरीर से अत्यधिक चिपटे हुए अपने उन भींगे वस्त्रों को श्रीनेमि ने उसी प्रकार त्याग दिया जिस प्रकार अत्यन्त स्वामिभक्त एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुरक्त भृत्य किसी मूर्ख के बहकावे में आकर अपने स्वामी के रहस्य को छुपा नहीं सकने पर, स्वामी द्वारा त्याग दिया जाता है ॥३॥

मूर्त्तो मूर्त्यानुपममहसा गीयसे शम्बरस्या-
रातिस्तत्तत्परिचितिरनौचित्यमाविर्विधत्ते ।
इत्यूचाना निजशुचिसिचा भीष्मजोन्मृज्य वर्ष्मांऽऽ-
नैषीधे ते स शशिविशदे वाससी पर्यधत्त ॥४॥

मूर्त्तो मूर्त्या ० हे पयोद ! **सः** श्रीनेमिः **ते वाससी** वस्त्रे **पर्यधत्त** परिहितवान् । ये वाससी **भीष्मजा** रुक्मिणी **आनैषीत्** आनिनये । किंरूपे वाससी—**शशिविशदे** चन्द्रवत् निर्मले । किं लक्षणा भीष्मजा—**निजशुचिसिचा** स्वकीयपवित्रवस्त्रेण **वर्ष्म** श्रीनेमेः शरीरं **उन्मृज्य** रुक्षयित्वा **इत्यूचाना** इति उक्तवती । इतीति किं—श्रीनेमिन् ! त्वं **मूर्त्या** कृत्वा **मूर्त्तो** मूर्त्तिमान् **शम्बरस्य अरातिः** शत्रुः कन्दर्पो **गीयसे** कथ्यसे । किंरूपया मूर्त्या—**अनुपममहसा** निरुपमान् तेजसा । **तत्** तस्मात्कारणात् **तत् परिचिति** तस्य शम्बरस्य परिचितिः सम्पर्कः **अनौचित्यं** अयोग्यत्वं **आविर्विधत्ते** प्रकटीकरोति । ननु कामः शम्बरस्य वैरीत्वं मूर्त्तिमान् काम एव । अतः शम्बरस्य परिचितिः तव न युक्तेतिभावः । यतः शम्बरशब्देन जलं कामस्य अरिः च कथ्यते ॥४॥

रुक्मिणी ने यह कहते हुए कि 'आप तो अपनी अनुपम शोभा से साक्षात् कामदेव हैं अतः आपका जल से सम्बन्ध अच्छा नहीं है' अपने उज्ज्वल वस्त्र से श्रीनेमि को निर्जल (पोंछ) कर उन्हें चन्द्रमा के सदृश दो धवल वस्त्र समर्पित किये जिन्हें भगवान् श्रीनेमि ने धारण कर लिया ॥४॥

सौवर्णेऽथ न्यविशत विभुर्विष्टरे रिष्टरेखा-
लेखालोक्ये सितनिवसनः संप्रयुक्ते तयैव ।
नन्द्यावर्तावलिवलयिनि स्वर्णशैले निषण्ण
त्वामेव स्म स्मरयति तथा संद्बलाकाकलापम् ॥५॥

सौवर्णे ० हे जलधर ! **अथ** वस्त्रपरिधानानन्तरं **विभुः** श्रीनेमिः **सौवर्णे** सुवर्णमये **विष्टरे** आसने **न्यविशत** । किंरूपे विष्टरे—**रिष्टरेखालेखालोक्ये** रिष्टस्य रिष्टरत्नस्य लेखया रेखया कृत्वा लेखानां देवानां आलोक्ये आलोकनीये । पुनः किंरूपे—**तयैव** रुक्मिन्या एव **संप्रयुक्ते** उपढौकिते । किंरूपो विभुः—**सितनिवसन**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सितानि शुभ्राणि वसनानि वस्त्राणि यस्य सः । हे जलधर ! स नेमिः तथा तेन वस्त्रपरिधानासनोपवेशनादिप्रकारेण एवंविधं त्वामेव स्मरयति स्म स्मारयति स्म । अर्थात् लोकानाम् । किंरूपं त्वाम्—स्वर्णशैले मेरुपर्वते निषण्णं उपविष्टम् । किंरूपे स्वर्णशैले—नन्द्यावर्तावलिवलयिनि नन्द्यावर्तानां वृक्षाणां आवलेः श्रेण्याः वलयं वेष्टनं विद्यते यस्य सः तस्मिन् । पुनः किंरूपं त्वाम्—सद्बलाकाकलापं सत् शोभनो बलाकानां बकीनां कलापः समूहो यस्मिन् स तम् ॥५॥

हे मेघ ! इसके बाद श्वेत वस्त्रधारी भगवान् श्री नेमिनाथ रत्नों से जड़ित एवं देवताओं के द्वारा दर्शनीय अर्थात् अत्यन्त सुन्दर आसन पर बैठ गये जिसे रुक्मिणी ने ही लाकर रखा था । उस समय भगवान् श्री नेमि ऐसे लग रहे थे, मानों वृक्षसमूह से युक्त स्वर्णपर्वत पर बलाका युक्त तुम्हीं (मेघ) हो ॥५॥

विष्णोः पत्न्यः प्रकृतय इव स्पष्टमष्टासु काष्ठा-
स्वष्टाप्येतं परमपुरुषं कर्मणां पर्यवृण्वन् ।
भावान्वायिस्थितिविरचना व्यक्तसद्वेषरागा
भोगामुक्ता विविधरुचयः सङ्गतात्मप्रदेशाः ॥६॥

विष्णोः पत्न्यः ० हे जलधर ! अष्टापि विष्णोः पत्न्यः स्पष्टं यथा स्यात् तथा एवं परमपुरुषं श्रीनेमिं अष्टासु काष्ठासु दिक्षु पर्यवृण्वन् वेष्टयामासुः । किंरूपाः विष्णोः पत्न्यः—भावान्वायिस्थितिविरचना भावानां हास्यादिकविकाराणां अन्वयिनी अनुगामिनी स्थितिः विरचना यासां ताः तथा व्यक्तसद्वेषरागाः व्यक्तः स्पष्टः सद्वेषेण शोभनशृङ्गारेण रागो यासां ताः तथा भोगामुक्ताः भोगे आमुक्ता बद्धा भोगामुक्ताः तथा विविधरुचयः विविधा अनेकप्रकारा रुचयः कान्तयो यासां ताः तथा सङ्गतात्मप्रदेशाः सङ्गता मिलिता आत्मनां परस्परं प्रदेशाः यासां ताः । का इव—कर्मणां प्रकृतय इव यथा कर्मणां प्रकृतयः परमपुरुषं आत्मानं परिवेष्टयन्ति । किंरूपाः प्रकृतयः—भावान्वायिस्थितिविरचना भावानां चित्ताभिप्रायानां अन्वायिनी अनुगमनशीला स्थितिः विरचना यासां ताः तथा व्यक्तसद्वेषरागाः भोगामुक्ताः व्यक्तं स्पष्टं यथा स्यात् तथा सद्वेषरागस्य द्वेषसहितरागस्य आभोगेन विस्तारेण आमुक्ताः बद्धाः तथा विविधरुचयः विविधा अनेकप्रकारा रुचयोऽभिलाषो याभ्यः ताः तथा सङ्गतात्मप्रदेशाः सङ्गता मिलिता आत्मनो जीवस्य प्रदेशाः अंशाः यासां ताः ॥६॥

हाव भाव, परिहास आदि विचारों को जाननेवाली, सभी प्रकार के शृङ्गार करने से स्पष्टानुरागवाली, विविध कान्ति से युक्त तथा भोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लिप्त कृष्ण की आठों पत्नियों ने उचित स्थान पर खड़े होकर भगवान् को उसी प्रकार से घेरलिया जैसे द्वेषजनित भोगाकांक्षा एवं सुख की इच्छाओं के कारण आठ प्रकार की कर्म प्रकृति आत्मा को घेर लेती है ॥६॥

[यहाँ जैनों द्वारा मान्य आठ मूल कर्मप्रकृतियों की तुलना कृष्ण की आठ पटरानियों से की गई है]

आचख्यावित्यथ सविनयं भोष्मजा राजदन्त-
ज्योत्स्नाव्याजान्मलयजरसैः स्वामिनं सिञ्चती तम् ।
विश्वेवास्मान् सहसि भगवन्नुश्यसे तद्विशङ्कं
स्त्री गङ्गेवाधिवसति शिरो मानिताऽपीश्वरस्य ॥७॥

आचख्यावि ० हे मेघ ! **अथ** परिवेष्टनान्तरं **भोष्मजा** रुक्मिणी **सविनयं** यथा स्यात् तथा **आचख्यौ इति** अकथयत् । भोष्मजा किं कुर्वती—**राजदन्तज्योत्स्ना-व्याजात्** मुख्य-दन्तचतुष्कमिषात् **मलयजरसैः** चन्दनद्रवैः **तं स्वामिनं सिञ्चती** इतीति किं—**भो भगवन्** ! श्रीनेमे त्वं **विश्वा इव** वसुन्धरा इव **अस्मान् सहसि** क्षमसे, **तत्** तस्मात्कारणात् अस्माभिः **विशङ्कं** निःशङ्कं यथा स्यात् तथा त्वं **उश्यसे** जल्पसे । हे देवर ! **स्त्री मानिता सती ईश्वरस्यापि** राज्ञोऽपि **शिरो** मस्तकं **अधिवसति** चटतीत्यर्थः । **क इव गङ्गेव**, यथा गङ्गा जह्नुकन्या मानिता सती ईश्वरस्यापि शिवस्यापि शिरः अधिवसतिस्म ॥ ७ ॥

रुक्मिणी चन्दन रस से उन स्वामी नेमिनाथ को सिंचती हुई मुस्कराहट के बहाने विनयपूर्वक श्री नेमिनाथ से इस प्रकार बोली—हे नाथ आप हमारी बातों को पृथ्वी की तरह सहन करते हैं तभी तो हम निसंकोच बातें कर लेती हैं। कहा भी गया है कि सम्मानित स्त्री गङ्गा की तरह शङ्कर के शिर पर शोभित होती है अर्थात् उच्चस्थान प्राप्त करती है॥ ७॥

रूपं कामस्तव निशमयन् व्रीडितोऽभूदनङ्गो
लावण्यं चाबिभ ऋभुविभुर्लोचनानां सहस्रम् ।
तारुण्यश्रीर्व्यशिषदथ ते पुष्पदन्तौ शरद्व-
न्नेताऽरण्यप्रसवसमतां त्वं विना स्त्रीरमूनि ॥ ८ ॥

रूपं कामस्तव ० हे देवर ! **कामः** कन्दर्पः **तव रूपं निशमयन्** विलोकयन् **व्रडितः** लज्जितः सन् **अनङ्गः अभूत्** अशरीरी बभूव । **च** पुनः **ऋभुविभुः** इन्द्रः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तव लावण्यं निशमयन् लोचनानां सहस्रं अबिभः दधार । अथ अनन्तरं तारुण्यश्रीः यौवनश्रीः ते रूपलावण्ये व्यशिषत् विशेषं प्रापयत् । किंवत्–शरद्वत्,, यथा शरत् अश्वयुक् कार्तिकसमयः पुष्पदन्तौ शशिभास्करौ व्यशिनष्टि विशेषं प्रापयति । यथा नाममालायां पुष्पदन्तौ पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ । हे देवर ! त्वं स्त्रीः विना अमूनि रूपलावण्यानि तारुण्यानि अरण्यप्रसवसमतां अरण्यकुसुममानतां नेता प्रापकः ॥ ८ ॥

हे देवर ! काम तुम्हारे रूप को देखकर लज्जित हो अनङ्ग हो गया अर्थात् छुप गया । इन्द्र ने आपके लावण्य को देखने के लिए हजारों नेत्र धारण किये, यौवनश्री ने तो उन दोनों (रूप और लावण्य) के उत्कर्ष को और भी बढ़ा दिया है जैसे शरद् ऋतु चन्द्र और सूर्य की शोभा बढ़ा देती है । पर इन सारी चीजों को तुमने स्त्री के बिना (अर्थात् शादी के बिना) काननकुसुम (वनफूल) की तरह बना दिया है अर्थात् स्त्री के बिना तुम्हारी यह समस्त शोभा व्यर्थ है ॥ ८ ॥

नाभेयोपक्रममिह यथा [1]श्रेयसोऽध्वा तथैवो-
द्वाहस्यापि स्मरसि तदुपज्ञं न किं देवरेति ।
तत्तां दैवीं सृतिमपमृजन् कोऽपि नूत्नोऽसि सार्वो
हारीभूतद्विजमणिघृणिर्जाम्बवत्यप्यगासीत् ॥ ९ ॥

नाभेयोपक्रम ० हे जलधर ! जाम्बवत्यपि जाम्बवती नाम्नी राज्ञ्यपि । अगा-सीत् जजल्प । हे देवर ! त्वं इति किं न स्मरसि अपितु स्मरसि एव । इतीति किं, यथा–इह विश्वे आयसोऽध्वा मोक्षसम्बन्धीमार्गः नाभेयोपक्रमं नाभेय एव उपक्रमं आदिकरणं वर्त्तते तथैव उद्वाहस्यापि विवाहस्यापि अध्वा तदुपज्ञं स एव श्रीआदि-नाथ एव उपज्ञं मूलं कारणं वर्त्तते तत् तस्मात्कारणात् हे देवर ! त्वं तां दैवीं देव-सम्बन्धिनीं सृतिं मार्गं अपमृजन् लुम्पन् कोऽपि नूत्नः नवीनः सार्वोऽसि सर्वज्ञः वर्त्तसे । किंरूपा जाम्बवती—हारीभूतद्विजमणिघृणिः हारीभूता हारप्रयोजतो द्विजमणीनां दन्तरत्नानां घृणिः दीप्तिः यस्याः सा ॥ ९ ॥

(रुक्मिणी के बाद) जाम्बवती नाम की रानी ने हँसते हुए कहा कि हे देवर ! इस बात को आप क्यों नहीं सोचते कि आदिदेव जैसे मोक्ष-मार्ग के प्रवर्तक हैं उसी प्रकार विवाह के भी प्रवर्त्तक हैं । तो आप उस दैवी मार्ग को छोड़ने वाले कोई नवीन सर्वज्ञ हैं क्या ? ॥ ९ ॥

---

१. मूल में आयस शब्द है जो अशुद्ध प्रतीत होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गामानैषीद्वदनसदनं लक्ष्मणा लक्ष्मणास्ते
लक्ष्मीर्येषां घनवनमिवान्योपयोगैककृत्या ।
त्वद्रूपश्रीर्जलधिजलवन्नोपजोव्या परैश्चेत्
तल्लोके कैर्विरस इति नो तर्क्यसे तद्वदेव ॥१०॥

गामानैषी ० हे जलधर ! लक्ष्मणा नाम्नी राज्ञी इति **गां** वाणीं **वदनसदनं आनैषीत्** आनिनये । इतीति किं—हे देवर ! **लक्ष्मणाः** लक्ष्मीवन्तः **ते** कथ्यन्ते । **येषां लक्ष्मीः घनवनमिव** मेघजलमिव **अन्योपयोगैककृत्या** भवति अन्येषाम् उपयोगः अर्थम् एकं केवलं कृत्यं कार्यं यस्याः सा । हे देवर ! **त्वद्रूपश्रीः** चेत् यदि **जलधि-जलवत् परैः** अन्यैः **उपजोव्या** उपभोग्या न भविष्यति । तत् **लोके** मनुष्यलोके **तद्वदेव** जलधि जलवदेव **कैः** जनैः **विरस इति** नीरस इति **नो तर्क्यसे** नो विचार्यसे, अपितु सर्वैरपि विचार्यसे ॥ १० ॥

लक्ष्मणा नाम की विष्णु पत्नी ने कहा वस्तुतः ये लोग ही लक्ष्मीवान (धनवान) हैं जिनकी लक्ष्मी मेघ के जल की तरह दूसरों के उपयोग के काम में आती है। यदि आपकी रूपश्री समुद्र के जल की तरह दूसरों के काम आने वाली नहीं है तो क्या आप भी संसार में उसी समुद्र की तरह विरस (शुष्कसमुद्र पक्ष में खार) नहीं कहे जाएगें ? ॥ १० ॥

उत्तस्थेऽथो सपदि गदितुं वाग्मिसीमा सुसीमा
धीमन् ! पश्याकल इव गृहो न प्रणाय्यः प्रणाय्यः ।
तत्त्वं तन्वन्ननु गुरुगिरा स्वद्वितीयां द्वितीयां
प्राप्स्यस्यग्र्या विधुरिव कलाः सर्वपक्षे वलक्षे ॥११॥

उत्तस्थे ० हे जलधर ! **अथो** लक्ष्मणाजल्पनान्तरं **सुसीमा** नाम्नी राज्ञी **सपदि** शीघ्रं **इति गदितुं** इति कथयितुं **उत्तस्थे** उद्यमं चकार इत्यर्थः । किंरूपा सुसीमा—**वाग्मिनां** वाचालानां **सीमा** मर्यादा या सा । इतीति किं—हे **धीमन्** ! हे देवर ! **पश्य** विलोकय **गृहो** गृहस्थः **प्रणाय्यः सन्** निःकामः सन् **अकल इव** निःकल इव **न प्रणाय्यः** न असम्मतः अपितु असम्मत एव । तत् तस्मात्कारणात् हे देवर ! **त्वं गुरुगिरा** पूज्यजनवचनेन **द्वितीयां** कलत्रं **स्वद्वितीयां** आत्मनो द्वितीयां **तन्वन्** कुर्वन् **ननु** निश्चितं **सर्वपक्षे** सर्वस्वजनवर्गमध्ये **अग्र्याः** प्रधानाः **कलाः** महत्त्वविशेषान् **प्राप्स्यसि** । किंरूपे सर्वपक्षे **वलक्षे** दोषाभावात् निर्मले । क इव—**विधुरिव**, यथा विधुः चन्द्रमा वलक्षे पक्षे धवले पक्षे द्वितीया द्वितीयानाम्नीं तिथिं **स्वद्वितीयां** आत्मनो द्वितीयां कुर्वन् अग्र्याः कलाः प्राप्नोति ॥ ११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद वाग्मियों की सीमा (मर्यादा) अर्थात् मितभाषिणी सुसीमा बोली हे धीमन् ! देखिये गृहस्थ ब्रह्म की तरह निष्काम होकर अच्छा नहीं माना जाता। अतः आप गुरुजनों की बात मानकर अपनी द्वितीया (अर्थात्) पत्नी को ग्रहण कर आगे के सौभाग्यादि को उसी प्रकार प्राप्त करेंगे जैसे सभी शुक्लपक्षों में चन्दमा द्वितीया तिथि का विस्तार कर अग्रिम कलाओं को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

नार्या आर्यापर परमिति त्वं दिषन् कोऽसि निष्णो
जिष्णोर्मान्या प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो या ।
संपश्यस्व क्षणमपि महाव्रत्यपीशो न मुञ्चेद्
गौरीं गौरी गिरमिति जगौ प्रेमकोपादगौरी ॥१२॥

नार्या आर्या ० हे जलधर ! **गौरी** नाम्नी राज्ञी **इति गिरं जगौ** जजल्प । किंरूपा गौरी—**प्रेमकोपादगौरी** स्नेहकोपात् अगौरी कोपसम्बन्धात् रक्तीभूतेत्यर्थः । इतीति किं—हे **आर्यापर** ! आर्यकेभ्यः भद्रकेभ्यः अपरः अन्यः आर्यापरः तत्सम्बुद्धिः हे धूर्तः **त्वं परं** केवलं **नार्याः** नारीं इति अस्वीकारप्रकारेण **द्विषन्** दूषयन् **को निष्णोऽसि** को निपुणोऽसि **या** नारी **जिष्णोः** कृष्णस्य **मान्या** माननीया **प्रतनः** चिरन्तनः **भगवत् शान्तिमुख्यार्हतः** श्रीशान्तिनाथप्रमुखतीर्थकृतोऽपि मान्या । हे देवर ! **संपश्यस्व** विलोकयस्व **ईशः** ईश्वरः **महाव्रती** अपि प्रकृष्टव्रतोऽपि **क्षणमपि गौरीं** पार्वतीं **न मुञ्चेत्** न त्यजति । नार्याः इति अत्र द्विष् धातु संयोगे कर्मस्थाने षष्ठीज्ञेया ॥ १२ ॥

इसके बाद प्रेमक्रोध के कारण अगौरी (लाल) गौरी नामक रानी ने व्यंग्य में कहा—हे आर्यापर ! (अर्थात् धूर्त) जो नारी भगवान् श्री शान्तिनाथ जैसे मुख्यजिनों के द्वारा भी मान्य है उस नारी से द्वेष करने वाले तुम कौन से सिद्ध हो ? (अर्थात् शादी न करके बड़े सिद्ध बनते हो) और भी देखो—महाव्रती भगवान शंकर भी गौरी (पार्वती) को एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते ॥ १२ ॥

सत्या सत्यापितकृतकवाक्कोपमाचष्ट सख्यः !
साध्यः साम्नां न जलपृषतां तप्तसर्पिर्वदेषः ।
रुद्ध्वा तन्न स्वयमतिबलाच्चाशु वश्यं विधाय
स्वान्तं संविद्वदिममबलेत्यात्मदोषोऽद्य नोद्यः ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्या सत्यापि० हे जलद ! **सत्या** सत्यभामा नाम्नी राज्ञी **सत्यापितकृतक-वाक्कोपं** यथा भवति इति **आचष्ट** इत्याचख्यौ, सत्यापितः निर्मापितः कृतकः कृत्रिमः वाक्कोपः वचनकोपः सत्यापितकृतवाक्कोपं क्रियाविशेषणत्वात् नपुंसकत्वं । इतीति किं—हे **सख्यः** ! एषः देवरः **साम्नां** सामवाक्यानां **साध्यः** न साधयितुं शक्यः न । किंवत्—**तप्तसर्पिर्वत्**, यथा तप्त सर्पिः सन्तप्तघृतं **जलपृषतां** जलकणानां **साध्यं** न तत् तस्मात्कारणात् **इमं** देवरं **स्वयं अतिबलात् रुद्ध्वा** निरुद्ध्य च पुनः **आशु** शीघ्रं **वश्यं विधाय** आत्मायत्तं कृत्वा **अद्य नः** आत्मनां **अबला** इति **आत्मनः दोषः** स्वकीयः दोषः **नोद्यः** स्फोटनीयः किंवत्—**संविद्वत्**, यथा संवित् ज्ञानं **स्वान्तं** चित्तं रुद्ध्वा वश्यं विदधाति इति कृत्वा प्रत्ययस्योपमानं ज्ञेयम् ॥ १३॥

अपने कृत्रिम वाक्कोप को दिखाती हुई सत्यभामा ने कहा, हे सखियों ! यह देवर उपदेशों से वैसे ही वश में नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार जल बिन्दुओं से गरम घी । अतः आज इन्हें (नेमि को) घेरकर शीघ्र ही अपने वश में करके अपने 'अबला' इस दोष को उसी प्रकार मिटा दो जैसे ज्ञान चित्तवृत्ति को अवरुद्ध एवं अपने वश में करके अपने दोषों को दूर कर देता है ॥१३॥

पद्मावत्या तदनु जगदे नो मुदे देवरोऽसौ
नो कुत्राभूद्वद कुमुदिनीवत् कलाभृद्वयस्ये ! ।
अन्तर्धातुं प्रतिघमलिनाम्भोभृता तन्न युक्तं
पीयूषाब्धिं किमुत शिरसेशानवद्धर्तुमेतम् ॥१४॥

पद्मावत्या० हे मेघ ! **तदनु** सत्यभामावचनान्तरं **पद्मावत्या** पद्मावती नाम्न्या राज्ञ्या इति **जगदे**, इतीति किम्—**हे वयस्ये** हे सखि हे सत्यनामे वद ब्रूहि **असौ** देवरः **नः** आत्मनां **कुत्र मुदे** हर्षाय **नोऽभूत्** ? सर्वत्रापि मुदे **एव** बभूव । किंवत्—**कुमुदिनीवत्**, यथा कुमुदिनीनां **कलाभृत्** चन्द्रमा कुत्र मुदे न भवति **अपितु** सर्वत्र मुदे एव भवति । **तत्** तस्मात्कारणात् एतं देवरं **प्रतिघमलिनाम्भोभृता** कोपमलिनमेघेन **अन्तर्धातुं** आच्छादयितुं **न युक्तम्** । किंरूपं एतम्-**पीयूषाब्धिम्** अमृतसमुद्रम् **किमुत** पुनः **ईशानवत् शिरसा** मस्तकेन **धर्तुं** युक्तम् । यथा ईशानः ईश्वरः कलाभृतं शिरसा दधाति ॥१४॥

इसके बाद पद्मावती ने कहा हे सखियों ! जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदिनियों को आह्लादित करता है क्या उसी प्रकार यह देवर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(श्रीनेमि) हम लोगों को खुश नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं। अतः जिस प्रकार भगवान् शंकर चन्द्रमा को सिर पर धारण करते हैं उसी प्रकार हम लोगों को भी इन पर क्रोध नहीं करना चाहिए अपितु प्रेम से ही मनाना चाहिए ॥१४॥

गान्धारी चावगिति न परं ब्रह्मतो ब्रह्म जन्मा-
द्धृत्वैतासे ध्रुवमुपयतावप्यवाप्तासि तच्च ।
अस्तुङ्कारात् सुखय ननु नः पादयोः पत्यते ते
दास्यः स्मस्ते पटुचटुगिरा राज्यमप्याप्यमीश ! ॥१५॥

गान्धारी चाव० हे मेघ ! **च** पुनः **गान्धारी** नाम्नी राज्ञी **इति अवक्** इति अवोचत् । इतीति किं--हे नेमे ! **जन्मात्** आजन्म यावत् **ब्रह्म** ब्रह्मव्रतं **धृत्वा ब्रह्मतो** मोक्षात् **परम्** अन्यत् किञ्चित् **न एतासे** न प्राप्तासि, **च** पुनः **ध्रुवं** निश्चितं **उपयतोऽपि** विवाहेऽपि **तत्** ब्रह्म **अवाप्तासि** प्राप्तासि । हे देवर ! **ननु** निश्चितं तर्हि **अस्तुङ्कारात्** भवदुक्तं प्रमाणीभवतु इति कथनात् **नः** अस्मान् **सुखय** सुखिनीः कुरु । हे देवर ! **ते** तव **पादयोः पत्यये** पत्यमानमस्ति । **ते** तव **दास्यः स्मः** । हे **ईश** ! **पटुचटुगिरा** स्पष्टचाटुवचनेन **राज्यमपि आप्यं** प्राप्तुं योग्यं । 'निरकेन कृतेन राज्यमपि लभ्यते' इति लोकोपाख्यानकोऽस्ति ॥१५॥

गान्धारी बोली-हे देवर ! जन्म से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके आप ब्रह्म से ऊंचा कोई पद तो पाओगे नहीं और शादी कर लेने पर भी आप उस पद को प्राप्त करेंगे ही अतः "एवमस्तु" कहकर तुम हम सबको सुखी बनाओ हम तुम्हारे पैरों पर गिरती हैं, हम सब तुम्हारी दासी हैं, हे ईश ! उपयुक्त चाटुकारिता से तो राज्य भी प्राप्त किया जा सकता है, अतः इस चाटुकारिता से हम लोगों को सुख तो दो ॥१५॥

अन्योऽन्यस्यां सरसरसना नेतुरुत्केतुरागा
मत्स्यण्डोयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पमित्युक्तवत्यः ।
प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुरेताः ॥१६॥

अन्योऽन्यस्यां० हे जलधर ! **एताः** विष्णुपत्न्यः **नेतुः** नायकस्य श्रीनेमेः **प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमालाबालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुः** अपतन् । **प्रेम्णः** स्नेहस्य **स्थेम्ना** बाहुल्येन **क्षितितिलेन** पृथ्वीपीठेन सह मिलन्ती या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौलिमाणिक्यमाला मस्तकस्था रत्नश्रेणिः तस्या या बालांशुश्रीः बालकिरणश्रीः तस्याः शरणम् आधारो यौ तौ। एवंविधयोः तयोः किंलक्षणाः एताः—**अन्योऽन्यस्यां** परस्परं **मत्स्यण्डीयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पं** खण्ड्वायुक्त्रिगट गोलिकातुल्यम् इति पूर्वोक्तप्रकारेण **उक्तवत्यः** भाषितव्यः। **पुनः** कीदृशाः—**सरसरसनाः** सरसारसना यासां ताः तथा **उत्केतुरागाः** उत् ऊर्ध्वीकृतः केतुवत् ध्वजवत् रागो याभिः ताः ॥१६॥

अत्यन्त अनुरागपूर्वक परस्पर शर्करायुक्त त्रिकटु (पिप्पली, सोंठ, मिर्च) की तरह श्रीनेमि से खट्टी-मीठी बातें करती हुई श्री कृष्ण की पत्नियाँ प्रेमाधिक्य के कारण श्रीनेमि के चरणों में इसप्रकार झुकीं कि उनके सिर की मणियों की मालाएँ पृथ्वी पर आकर (सटकर) अपनी बालकिरणों से श्रीनेमि के चरणों को शोभित करने लगीं ॥१६॥

सर्वानन्यानपि ननु सुखाकुर्वतः प्रीतितन्तु-
स्यूतस्वान्ताः प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः।
दुःखाकर्तुं तव समुचिता न प्रजावत्य एता
राजीविन्यो दिनकृत इवावोचदित्यच्युतोऽपि ॥१७॥

सर्वानन्यानपि० हे जलधर! **अच्युतोऽपि बादो वाऽपि इति अवोचत्**। इतीति किं—हे बान्धव! **एताः प्रजावत्यः** भ्रातृजायाः **तव दुःखाकर्तुं** दुःखिनीकर्तुं **न समुचिताः** न योग्याः। कस्येव—**दिनकृत इव** यथा दिनकृतः सूर्यस्य **राजीविन्यः** कमलिन्यः **दुखाकर्तुं** न योग्याः। किंलक्षणस्य तव—**अन्यान्** अपरान् **सर्वान्** अपि जन्तून् **ननु** निश्चितं **सुखाकुर्वतः** सुखिनः कुर्वतः। किं विशिष्टाः एताः—**प्रीतितन्तुस्यूतस्वान्ताः** प्रीतितन्तुना स्यूतानि प्रोतानि स्वान्तानि चित्तानि यासां ताः, प्रीतिप्रतिबद्धचित्ता इत्यर्थः **तथा प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः** प्रणयतः स्नेहतो विनयाधानेन विनयधरणेन दैन्यं दीनतां प्रपन्नाः प्राप्ताः ॥१७॥

श्रीकृष्ण ने कहा—प्राणिमात्र को सुख देने वाले आप प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्नेह के कारण विनय करने वाली इन प्रजावती (भाभियों) को दुःखित न करें जैसे सूर्य कमलिनियों को दुखी नहीं करता अर्थात् आप इनकी बात मानकर प्राणिग्रहण के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें ॥१७॥

बाहौ धृत्वा प्रियमधुमुखा अप्यभाषन्त बन्धो!
सन्तः प्रायः परहितकृते नाद्रियन्ते स्वमर्थम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रष्ठस्तेषामपि बत ! कुतोऽतद्विलोपेऽसि दत्से-
ऽनन्वग्भूय स्वजनमनसामेवमाभीलकीलाः ॥१८॥

बाहौ धृत्वा० हे मेघ ! **प्रियमधुमुखा अपि** बलभद्रप्रमुखा अपि यादवाः इति **अभाषन्त** इति अवोचन्त । किं कृत्वा—**बाहौ** धृत्वा अर्थात् तं नेमिं इतीति किं—हे **बन्धो** ! हे नेमे ! **सन्तः** उत्तमाः **प्रायः** स्वभावेन **परहितकृतः सन्तः** अन्योपकारकारिणः **सन्तः स्वमर्थं न आद्रियन्ते** न अङ्गीकुर्वन्ति । हे श्रीनेमे ! त्वं **तेषां** सतां **मध्ये प्रष्ठोऽपि** मुख्योऽपि **बत** इति वितर्के **अतद्विलोपेऽपि** तस्य स्वार्थस्य विलोपः तद्विलोपः, **न** तद्विलोपः अतद्विलोपः, तस्मिन् अतद्विलोपेऽपि स्वार्थलोपाभावेऽपि सति **कुतः** कारणात् **अन्वग्भूय** पराङ्मुखीभूय **एवम्** अमुना पाणिग्रहणानङ्गीकाररूपेण प्रकारेण **स्वजन मनसाम् आभीलकीलाः** आभीलस्य दुःखस्य कीलाः ज्वालाः । **दत्से** दातुम इच्छसि ॥१८॥

बलभद्र आदि यादवों ने भी श्री नेमिनाथ के हाथों को पकड़कर कहा कि हे मित्र ! प्रायः सज्जन लोग परोपकार के आगे अपने स्वार्थ की परवाह नहीं करते । आप तो उन सज्जनों में श्रेष्ठ होते हुए भी उस स्वार्थ (मोक्ष) की हानि न होने पर भी इस पाणिग्रहण के प्रस्ताव से विमुख हो इन स्वजनों के हृदय में दुख की ज्वाला भड़का रहे हैं ॥१८॥

तीर्थेष्वन्येष्वमितविमतिर्दृश्यते दर्शनानां
सर्वेषां तु स्फुरति पितरौ तीर्थमत्यन्तमान्यम् ।
तौ ताम्यन्तौ त्वदनुपयमान्मोदयस्यद्य चेत्तत्
को दोषः स्यादितरवनिता अप्यवोचन्त चेति ॥१९॥

तीर्थेष्वन्ये० हे मेघ ! **च** पुनः **इतरवनिता** अपि विष्णुभार्यातोऽपरा अपि स्त्रियः **इति अवोचन्त**, इतीति किं—हे नेमे ! **सर्वेषां दर्शनानाम् अन्येषु** मातृपितृव्यतिरिक्तेषु **तीर्थेषु अमितविमतिः** अमानविसंवादो **दृश्यते** । **तु** पुनः **सर्वेषां दर्शनानां पितरौ अत्यन्तमान्यं तीर्थं स्फुरति** उच्छम्भते **चेत्** । यदि **तौ** सर्वदर्शनतीर्थरूपौ पितरौ **त्वदनुपयमात्** तव विवाहस्य अकरणात् **ताम्यन्तौ** खिद्यन्तौ । **अद्य** हे श्रीनेमे ! त्वं **मोदयसि** हर्षयसि, **तत् को दोषः स्यात्** को दोषो भवति ॥१९॥

अन्य स्त्रियों ने भी कहा कि दर्शनों में आप तीर्थों (किसके कौन मान्य हैं) के मानने में बहुत ही वैमत्य है पर माता पिता रूपी तीर्थ सभी की दृष्टि में महनीय है पूज्य है अतः आपके द्वारा विवाह प्रस्ताव को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्वीकार करने के कारण दुखित हुए माता पिता को आप यदि पुनः प्रसन्न कर देते हैं तो इसमें क्या दोष है ? ॥१९॥

ध्येयश्रेयः प्रणव इव यद्यद्विधेयोरसं यत्
दुःसाधं चाभिदधति विदः प्राणितव्यव्ययेऽपि ।
ओमित्युक्त्याऽप्यखिलतनुमन्मोदनं तद्विधातुं
किं कौसीद्यं विदुर तव तद्वर्तिनोऽन्येऽप्यवोचन् ॥२०॥

ध्येयश्रेयः० हे मेघ ! **तद्वर्तिनः** तत्प्रदेशवासिनः **अन्येऽपि** लोकाः **इति अवोचन्,** इतीति किं—हे **विदुर** ! हे विचक्षण ! श्रीनेमे **यत् अखिलतनुमन्मोदनं** समस्तप्राणिहर्षणं **प्रणव इव** ॐकार इव **ध्येयश्रेयः** ध्येयानां ध्येयवस्तूनां मध्ये श्रेयः उत्कृष्टं वर्त्तते च पुनः **यत् अखिलतनुमन्मोदनं विधेयोरसं** विधेयानां कर्तव्यानां मध्ये उरसं गरिष्ठं वर्त्तते । अन्यत् **विदो** विद्वांसो **यत् अखिलतनुमन्मोदनं प्राणितव्यव्ययेऽपि** प्राणत्यागेऽपि **दुःसाधं** साधयितुम् अशक्यम् **अभिदधति** कथयन्ति । **हे विदुर** ! हे विचक्षण ! **तव ॐ इति उक्त्यापि** एवमस्तु इति वचनेनापि **तत् अखिलतनुमन्मोदनं विधातुं** कर्तुं **किं कौसीद्यं** किम् आलस्यम् ॥२०॥

वहाँ पर उपस्थित अन्य लोगों ने भी कहा—"प्राणिमात्र को सुखी करना" यह उत्तम कृत्य ओंकार की तरह समस्त विचारों एवं कर्मों में श्रेष्ठ है तथा विद्वान् लोग प्राणत्याग करके भी जिसे दुःसाध्य मानते हैं अर्थात् उपरोक्त कर्म के आगे प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। हे विदुर ! (विद्वान्) सकलजनहर्षणरूपी लक्ष्य को केवल हाँ करके प्राप्त करने में आप आलस्य क्यों करते हैं? अर्थात् शादी के प्रस्ताव को स्वीकार कर सभी को प्रसन्न करें॥२०॥

नेताऽप्यन्तर्मनसमसकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः
किञ्चिध्यात्वा लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तम् ।
दुःखादास्यं दरविकसिताम्भोजयन्नाबभाषे
माधुर्याधःकृतमधुसुधं सम्मतं वो विधास्ये ॥ २१ ॥

नेताऽप्यन्तः० हे जलधर ! **नेताऽपि** श्रीनेमिरपि **माधुर्याधःकृतमधुसुधं** मधुरिमानिकृतमधु अमृतं यथा स्यात् तथा **आबभाषे** इति उवाच । किं कृत्वा—**अन्तर्मनसं** मनोमध्ये **किञ्चिद्ध्यात्वा** । किं लक्षणो नेता—**असकृत्** वारं वारं **मीलितोन्मीलिताक्षः** मीलिते मुकुलीकृते विकस्वरीकृते अक्षिणी नेत्रे येन सः । किं कुर्वन्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्यं मुखं दुःखात् दरविकसिताम्भोजयन् ईषत् विकसितकमलम् इव कुर्वन् । किं विशिष्टम् आस्यं—लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तं लसिताः स्फुरिताः ये दशनानां दन्तानाम् अभीशवः किरणाः ते एव किञ्जल्कानि केसराणि तैः कान्तम्, इतीति किं—हे बन्धो ! हे कृष्ण ! हे यादवाः ! अहं वो युष्माकं सम्मतं विधास्ये अभीष्टं करिष्ये ॥ २१ ॥

बार बार आँखों को खोलते एवं बन्द करते हुए मन में कुछ सोचकर दन्तकिरणरूपी पराग से युक्त अपने मुख को अधखिले कमल की तरह बनाकर मधुर वाणी से श्री नेमि ने कहा कि हे कृष्ण ! हे यादवों ! मैं आप लोगों के अभीष्ट को पूर्ण करूँगा । अर्थात् अन्य लोगों के प्रस्ताव को स्वीकार करूँगा ॥ २१ ॥

एतद्वर्णश्रवणमुदितः श्रीपतिः प्रोत्पताका-
दण्डैर्ह्लादादिव सपुलकां तत्पटान्तैः प्रनृत्ताम् ।
वर्णार्णोभिः सरणिनिहितैः कल्पपीनाङ्गरागां
मुक्तालेख्यैः स्फुरितहसितां द्वारिकामभ्यगच्छत् ॥२२॥

एतद्वर्णश्रवण ० हे जलधर ! श्रीपतिः कृष्णः द्वारिकाम् अभ्यगच्छत् प्रतिजगाम । किं रूपः श्रीपतिः—एतद्वर्णश्रवणमुदितः सम्मतं विधास्ये इत्यक्षरश्रवणात् हर्षितः । किंरूपां द्वारिकां—उत्प्रेक्ष्यते—प्रोत्पताकादण्डैः प्रकृष्टा उत् ऊर्ध्वा पताका येषु एवंविधैः दण्डैः कृत्वा ह्लादात् प्रमोदात् सपुलकाम् इव सरोमाञ्चाम् इव । पुनः किंरूपां—तत्पटान्तैः तेषां दण्डानां पटान्तैः वस्त्राञ्चलैः प्रनृत्ताम् इव । पुनः किंरूपां—सरणिनिहितैः मार्गन्यस्तैः वर्णार्णोभिः कुङ्कुमजलैः कल्पपीनाङ्गरागां कल्पतः रचितः पीनः अङ्गरागः अङ्गविलेपनं यस्याः सा तां तथा मुक्तालेख्यैः मुक्ताफलचित्रैः स्वस्तिकपूरणादिभिः स्फुरितहसितां स्फुरितं हसितं हास्यं यस्याः सा तां । अन्याऽपि स्त्री प्रियागमने एवंविधा भवति सपुलका प्रनृत्ता तथा कुङ्कुमैः कल्पतपीनाङ्गरागा स्फुरितहसिता च ॥ २२ ॥

"आप लोगों के अभीष्ट को पूर्ण करूँगा" श्रीनेमि के इन वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण अपनी उस द्वारिका नगरी को गये जो पताकादण्डों में फहराती हुई ध्वजा से प्रसन्नता पूर्वक नृत्य कर रही थी तथा मार्ग में गिरे कुङ्कुमजलों से अङ्गराग की रचनावली एवं मोतियों की चित्रावली से हास्य प्रकट करने वाली लग रही थी ॥ २२ ॥

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्वणेन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुधृणिं कल्पवल्ली सुमेरुम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुग्धाम्भोधि त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं झगिति च स मद्बीजिनं मां ययाचे ॥२३॥

दुग्धं स्निग्धं ० हे जलधर ! **च** पुनः **सः** कृष्णः **झगिति** शीघ्रं **श्रीनेम्यर्थं मद्बीजिनं मां ययाचे** मद्बीजिनः मत्पितुः सकाशात् मां ययाच इत्यर्थः। अत्र द्विकर्मकत्वात् षष्ठीस्थाने कर्मज्ञेयम्। कैः कृत्वा ययाचे—**इत्यादिभिः** वक्ष्यमाणैः **सामवाक्यैः** सामवचनैः; इतीति किं—हे उग्रसेन राजन् ! **सिता** शर्करा **स्निग्धं** सस्नेहलं **दुग्धं समयतु** प्राप्नोतु, **रोहिणी पार्वणेन्दुं** पूर्णिमाचन्द्रं समयतु, **हैमी मुद्रा** सुवर्णमयी मुद्रा **उरुघृणिं** गुरुरश्मिं मणिं समयतु, **कल्पवल्ली सुमेरुं** समयतु, **त्रिदशतटिनी** गङ्गा **दुग्धाम्भोधिं** क्षीरसमुद्रं समयतु ॥ २३ ॥

जैसे शर्करा स्निग्ध दुग्ध से मिलती है, रोहिणी नक्षत्र पार्वणचन्द्र से मिलती है, स्वर्णमुद्रिका अधिक कान्तिवाली मणि से मिलती है, कल्पलता सुमेरु से मिलती है उसी प्रकार राजीमती श्रीनेमि से मिले" इस प्रकार नीति वाक्यों को कहते हुए श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही मेरे पिता से मुझे मांगा ॥ २३ ॥

तद्बुद्ध्वान्तर्मुदमबिभृतां श्रीसमुद्रः शिवा च
प्रावृट्कालोदितमिव नवं त्वां सुराजा प्रजा च ।
तत्तत्कार्येष्वथ गणकतोऽवेत्य लग्नं विलग्नं
प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदामक्रमेताम् ॥ २४ ॥

तद्बुद्ध्वा ० हे जलधर ! **श्रीसमुद्रः च** पुनः **शिवा** श्रीशिवादेविनाम्नी राज्ञी **तत्** नेम्यर्थं मम याचनं **बुद्ध्वा** ज्ञात्वा **मुदं** हर्षं **अबिभृतां** बिभृतः स्म। **कमिव**—**त्वाम् इव**, यथा **सुराजा च** पुनः **प्रजा प्रावृट्कालोदितं** वर्षाकालोत्पन्नं **नवं** नूतनं **त्वां बुद्ध्वा मुदं** बिभृतः। हे मेघ ! **अथ** पुनः श्रीसमुद्रः श्रीशिवा **च गणकतः** ज्योतिषिकात् **लग्नम् अवेत्य** ज्ञात्वा **तत्तत् कार्येषु** तेषु-तेषु सर्वलोकप्रसिद्धविवाहकार्येषु **अक्रमेताम्** उपक्रमं कुरुतः स्म। किंविशिष्टं लग्नं—**प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहः सम्पदां विलग्नं** प्राप्तः उद्वाहः विवाहः येन सः प्राप्तोद्वाहः एवंविधः यः उद्वहः पुत्रः यः महः महोत्सवः तस्य या महः सम्पदः तेजोलक्ष्म्यः तासां विलग्नं मध्यम् ॥ २४ ॥

हे मेघ ! यह (राजीमती की माँ को) जानकर श्री समुद्र एवं शिवा नाम की रानी मन ही मन उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे वर्षा ऋतु में तुमको (मेघ को) देखकर राजा और प्रजा प्रसन्न होते हैं। पुनः वे लोग ज्योतिषियों से पुत्र श्रीनेमि के विवाह सम्बन्धी लग्न को जानकर लोक प्रसिद्ध वैवाहिक कार्यों के सम्पादन में लग गये ॥ २४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लग्नेऽभ्यासीभवति दिवसे दारकर्मण्यकर्मा-
ण्यारभ्यन्त प्रति यदुगृहं त्यक्तकृत्यान्तराणि ।
वासन्ताहे प्रतितरु यथा पल्लवानि प्रकामं
पुष्पोत्पाद्यान्यखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि ।। २५ ।।

लग्नेऽभ्यासी ० हे जलधर ! **लग्ने** लग्नसम्बन्धिनि **दिवसे** दिने **अभ्यासी भवति** सति समीपे भवति सति **प्रतियदुगृहं** यादवानां गृहं-गृहं प्रति **दारकर्मण्यकर्माणि** दारकर्मणि विवाहे साधूनि योग्यानि दारकार्मण्यानि एवंविधानि कर्माणि **आरभ्यन्ते** प्रारभ्यन्ते स्म । किंरूपाणि दारकर्मण्यकर्माणि—**त्यक्तकृत्यान्तराणि** त्यक्तानि कृत्यान्तराणि अन्यकार्याणि येभ्यः तानि, **यथा** शब्द इवार्थे । कानि **इव**—**पल्लवानि इव**, **यथा** पल्लवानि **वासन्ताहे** वसन्तदिवसे **प्रतितरु** तरुं-तरुं प्रति प्रारभ्यन्ते । किंरूपाणि पल्लवानि—**प्रकामम्** अतिशयेन **पुष्पोत्पाद्यानि** पुष्पाणि उत्पाद्यानि येषां तानि तथा **अखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि** अखिलानि समस्तानि गलितानि पतितानि प्रत्नानि पुरातनानि पत्रान्तराणि अपराणि पत्राणि येभ्यः तानि ।।२५।।

लग्न (विवाह) के दिन जैसे-जैसे नजदीक आने लगे वैसे ही सभी यादवों के घर में अन्य कार्यों को छोड़कर उसी प्रकार विवाह से सम्बन्धी कार्य होने लगे जैसे वसन्त के आने पर वृक्षों से पुराने पत्ते गिरने लगते हैं और नये पत्ते एवं पुष्प वृक्षों में लगने लगते हैं ।। २५ ।।

हृद्यातोद्यध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
क्षौमोल्लोचोन्नतघनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः ।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमङ्गल्यदामो-
द्दीप्तेन्द्रास्त्रः स्वनुकृतपयोधारमुक्तावचूलः ।।२६।।

पङ्क्त्याशङ्क्यास्पदमृगमदो वर्यवैडूर्यनद्ध-
क्षोणीखण्डोन्मुखरुचिरुहो मागधाधीतिकेकः ।
आसीत् पित्रा स्थपतिकृतिनाऽनेहसा सद्ग्रहेणे-
वाम्भोदर्तुः प्रगुणिततमो मण्डपश्चौपयामः ।। २७ ।।

हृद्यातोद्य ० **पङ्क्त्याशङ्क्या** ० (इति युग्मम्) हे जलधर ! च पुनः **औपयामः** विवाहसम्बन्धी मण्डपः **आसीत्** बभूव । किंभूतो मण्डपः—**पित्रा** उग्रसेनेन **स्थपति-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतिना प्रधानसूत्रधारेण प्रगुणिततमः अत्यर्थं प्रगुणीकारितः सज्जीकारितः इत्यर्थः। किंरूपो मण्डपः—उत्प्रेक्ष्यते—अनेहसा कालेन सद्ग्रहेण प्रधानरथ्यादिग्रहेण प्रगुणिततमः अम्भोदतुः इव वर्षाऋतुः इव। किंरूपो मण्डपः—हृद्यातोद्यध्वनिरसितः हृद्यातोद्यानां प्रधानवादित्राणां ध्वनितमेव शब्दितमेव रसितं गर्जारवो यस्मिन् सः, तथा केकिकण्ठाभिरामक्षोमोल्लोचोन्नतघनततिः केकिकण्ठवत् मयूरगलवत् अभिरामाः मनोज्ञाः क्षौमोल्लोचो एव पट्टदुकूलवितानो एव उन्नता उन्नतिं प्राप्ताः घनततिः मेघश्रेणी यस्मिन् सः, तथा दर्पणोत्कम्पशम्पः दर्पणा एव आदर्शा एव उत्कम्पा उत्कम्पनशीला शम्पः तडित् यस्मिन् सः, पुनः कीदृशः—रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमञ्जुल्यदामोद्दीप्तेन्द्रास्त्रः रत्नानां श्रेणिभिः खचितं जटितं निचितं निबिडीभूतं यत् मञ्जुल्यदामं स्वर्णमयमञ्जुल्यतोरणं तदेव उद्दीप्तं इन्द्रास्त्रं इन्द्रधनुः यस्मिन् सः, तथा स्वनुकृतपयोधारमुक्तावचूलः सुष्ठु अत्यर्थम् अनुकृता अनुगता रूपेण आत्मसदृशीकृताः पयोधारा जलधारा यैः तैः अनुकृतपयोधारा एवंविधा मुक्तावचूला मौक्तिकं झुम्बकानि यस्मिन् सः, तथा पङ्काशङ्कास्पदमृगमदः पङ्कस्य कर्दमस्य आशङ्कास्पदम् आशङ्कास्थानं मृगमदः कस्तूरिका यस्मिन् सः, तथा वर्यवैडूर्यनद्धक्षोणीखण्डोन्मुखरुचिचयः वर्यैः प्रधानैः वैडूर्यैः नीलरत्नैः नद्धं बद्धं यत् क्षोणीखण्डं भूतलं तस्य उन्मुखा ऊर्ध्वगामिन्यः रुचयः एव कान्तयः एव रुहा अङ्कुरा यस्मिन् सः, तथा मागधाधीतिकेकः मागधानां भट्टानां अधीतिः इव भणितिः इव केका मयूरवाण्यः यस्मिन् सः ॥ २६–२७ ॥ युग्मम्

राजीमती कहती है कि हे मेघ! मेरे पिता (उग्रसेन) ने विवाह मण्डप को श्रेष्ठ सज्जाकारों से इस प्रकार सज्जित करवाया जिस प्रकार काल (समय) श्रेष्ठ ग्रहों से युक्त वर्षा ऋतु को सजाता है। उस मण्डप की शोभा ऐसी जान पड़ती थी मानो साक्षात् वर्षा ऋतु ही आ गई हो।

उस मण्डप में बजने वाले मधुर वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि ही मेघ गर्जना थी, मयूरकण्ठ के रंगों के रेशमी वस्त्रों का वितान (चाँदनी) ही मंडराते हुए बादल थे, मण्डप में लगे दर्पण की चमक ही बिजली की चमक थी, सुवर्ण से युक्त रत्नों की लड़ियों से सजा तोरण ही इन्द्रधनुष था, मोतियों के लटकते गुच्छे ही वर्षा की धारा थी, मण्डप में छिड़की गई कस्तूरी ही कीचड़ थी, उस मण्डप में बिछाई गई श्रेष्ठ नीलमणियों की किरणें ही वर्षा ऋतु के अङ्कुर थे और भाटों के सुन्दर गीत ही मयूरों की सुन्दर बोलियाँ थीं। ।२६–२७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमोदेनानुपरततरोऽर्हदिवं यादवीनां
विष्वग्व्यापी पुरुरथ पुरेऽभूदुलूलध्वनिर्यत् ।
मन्ये धन्येतरनरकुलेष्वप्यनुत्साहधाम्नां
शोकानां तत्प्रतिहतिजुषां तन्ननाशावकाशः ॥२८॥

आमोदेन ० हे जलद ! **अथ** विवाहकर्मप्रारम्भानन्तरं **पुरे** द्वारकायां पुनः यत् **यादवीनां** यादवपत्नीनां **अर्हदिवं** नक्तंदिवं **उलूलध्वनिः** धवलध्वनिः **अभूत्** बभूव । किंरूपो उलूलध्वनिः—**आमोदेन** हर्षेण **अनुपरततरः** न उपरतः उपशान्तः **अनुपरतः पुरुः** प्रकृष्टोऽनुपरतः अनुपरततरः अत्यर्थम् अनुपशान्तः, तथा **विष्वक्व्यापी** समन्तात् प्रसरणशीलः । हे जलधर ! तत् अहमेवं मन्ये । **तत्प्रतिहतिजुषां** तैः धवलैः प्रतिहर्ति प्रतिहननं जुषन्ति सेवन्ति ये ते तेषां तत्प्रतिहतिजुषां । **शोकानां धन्येतरनरकुलेष्वपि** नीचकुलेष्वपि न शोकावकाशः नाशस्थानं न अभूत् । किंरूपानां शोकानां—**अनुत्साहधाम्नाम्** आलस्यगृहाणाम् ॥२८॥

हे मेघ ! विवाह कर्म के प्रारम्भ होने पर यदु वधुओं द्वारा उच्च स्वर में गाये जाने वाले मङ्गल गीतों के सम्पूर्ण द्वारिका में फैलने के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि द्वारिका के निर्धन पुरुषों के गृहों में भी आलस्य और शोक का नामोनिशान नहीं था अर्थात् सम्पूर्ण द्वारिका में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई थी ॥ २८ ॥

भूभृत्प्रेक्ष्या अपि वरवधूतातयोः प्रीतिभाजोः
सौधेष्वन्धङ्करणतिमिरारातिरत्नाजिरेषु ।
सीत्यस्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थं
पुञ्जा व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य चापीपचन्त ॥२९॥

भूभृत्प्रेक्ष्या ० हे जलधर ! **च** पुनः **वरवधूतातयोः** समुद्रविजय उग्रसेनयोः **सौधेषु** धवलगृहेषु **व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य** तण्डुलमुद्गः गोधूमप्रमुखस्य **सीत्यस्य** धान्यस्य **पुञ्जाः** समूहाः अपीपचन्त पाच्यन्ते स्म । किमर्थम्—**अत्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थम्** अत्यादरभरेण अतिसम्मानसमूहेन मिलन्तो ये पौराः नागरिकाः तेषां सद्गौरवार्थं प्रधानगौरवार्थं प्रधानगौरवनिमित्तम् । किंरूपाः पुञ्जाः—**भूभृत्प्रेक्ष्या** अपि पर्वतवत् विलोक्या अपि । किंभूतयोः तातयोः—**प्रीतिभाजोः** । किंभूतेषु सौधेषु—**अन्धकरणतिमिरारातिरत्नाजिरेषु** अन्धकरणस्य अन्धीकुर्वतः तिमिरस्य अन्धकारस्य अरातीनां शत्रूणां रत्नानाम् अजिराणि अङ्गणा येषु ते तेषु ॥ २९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे मेघ ! वर एवं वधू के हर्षित जनकों के, रत्नों से युक्त होने के कारण रात्रि में भी अन्धकार न रहने वाले महलों में, खुशी से मिलने आने वाले पुरवासियों एवं सम्बन्धियों के स्वागत के लिए चावल, दाल, गेहूँ, मूँग आदि अन्नों के ढेर के ढेर पकने लगे अर्थात् आये हुए सगे सम्बन्धियों के स्वागत के लिए विभिन्न प्रकार के भोजन बनने लगे ॥ २९ ॥

खाद्यस्वाद्याभरणसिचयाद्यर्चया बन्धुवर्गो
नानादेशागतनरपतीनेकतः सच्चकार ।
वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रा-
ऽलङ्कारैस्तं प्रभुमपि च मामन्यतोऽलञ्चकार ॥३०॥

खाद्यस्वाद्या ० हे जलधर ! **बन्धुवर्गः एकतः** एकस्मिन् पक्षे **खाद्यस्वाद्याभरण-सिचयाद्यर्चया** खादिमस्वादिम वस्त्रालङ्करण वस्त्रप्रमुखपूजया कृत्वा **नानादेशागत-नरपतीन् सच्चकार** । हे मेघ ! **बन्धुवर्गः अन्यतः** अन्यस्मिन् पक्षे **तं प्रभुं** श्रीनेमिं **च** पुनः **मां** राजीमतीम् **अलञ्चकार** । कैः—**वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्राऽ-लङ्कारैः** वर्णः लोकभाषयावानेकक्षेपणम् उद्वर्ण्य पिष्टिकया शरीरमर्दनं स्नपनं स्नानं वसनानि वस्त्राणि आलेपन् अङ्गविलेपनम् आपीडो मुकुटः पुण्ड्रं तिलकम् इत्यादि **अलङ्कारैः** ॥३०॥

हे मेघ ! वर एवं वधू के बन्धुजन एक तरफ विभिन्न प्रकार को स्वादु खाद्यवस्तुओं से, आभूषणों से एवं वस्त्रों से दूर-दूर से आये हुए राजाओं का स्वागत कर रहे थे तो दूसरी तरफ उबटन, स्नान, लेपन, वस्त्र-आभूषण, मुकुट तिलक, आदि विभिन्न अलङ्कारों से हमें (राजीमती) और प्रभु नेमि को सजा रहे थे ॥३०॥

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः ।
अध्यारोहन्मदकलमिभं विश्वभर्तौपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम् ॥३१॥

रोदोरन्ध्रे ० हे जलधर ! **विश्वभर्ता** श्रीनेमिः **औपवाह्यं** राजवाह्यम् **इभं** गजम् **अध्यारोहत्** अतितराम् अतिशयेन **पौनरुक्त्यं** कृतस्य पुनःकरणं **प्रापिपत्** प्रापयामास । किरूपम् **इभं मदकलं** मदेन मनोज्ञं तथा **गत्यैवाधःकृतं** गत्या एव अधः कृतम् । किरूपो विश्वभर्ता—**भूरितेजाः** । क्वसति—**आतोद्यौघध्वनिभिः**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादित्रसमूहशब्दैः अभितः समन्ततः उच्चैः अतिशयेन रोदोरन्ध्रे भूमिव्योम्नोरन्तराले पूरिते सति, उत्प्रेक्ष्यते—सुरनरवराहूतिहेतोरिव सुराणां नराणां च वरा श्रेष्ठा या हूतिः आकारणं तस्य हेतोरिव कारणादिव पूरिते। स्वामिना इभः प्रथमं गत्या अधःकृतः पश्चात् अध्यारोहणेन अधःकृतः, अतः पौनरुक्त्यं युक्तमेव उक्तम् ॥ ३१ ॥

हे मेघ ! वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों के आकाश एवं पृथिवी के समस्त कोणों में व्याप्त होने पर ऐसा लग रहा था मानो देवताओं और मनुष्यों का आह्वान हो रहा हो। इस प्रकार वाद्ययन्त्रों के बजने पर अति तेजस्वी विश्वभर्त्ता श्री नेमि ने उस औपवाह्य (राजगज) पर आरोहण किया, जिसे एक बार पहले भी उन्होंने नीचे किया था अर्थात् आरोहण किया था। अतः उसी कार्य को पुनः करने से पुनरुक्तता हो गई ॥ ३१ ॥

सर्वैः प्राप्तेऽप्यधिकमुचिते साधु संभावितो यत्
पूर्वो भागो भुवनविभुना स्कन्धमध्यास्य नेयम्।
अद्याप्येनं ननु गजपतेः प्राभवं विप्रकारं
स्मारं स्मारं भजति कृशतां साऽपरा खिद्यमाना ॥३२॥

सर्वैः प्राप्ते ० हे जलधर ! यत् भुवनविभुना त्रिभुवनस्वामिना श्रीनेमिना गजपतेः गजेन्द्रस्य स्कन्धमध्यास्य स्कन्धोपरि आरुह्य पूर्वोभागो पूर्वप्रदेशः साधु मनोज्ञं यथा स्यात् तथा सम्भावितः अतीव सुन्दरोऽयम् इति वर्णितः। इयं वक्ष्यमाणा अपरा न सम्भाविता। कथंभूता—सर्वैः अङ्गैः अधिकं यथा स्यात् तथा उचिते प्राप्ते सति। हे मेघ ! नन्विति सम्भाव्यतो सा अपरा पश्चिमप्रदेश अद्यापि अद्यतनं दिनं यावदपि एतं प्राभवं प्रभुसम्बन्धिनं विप्रकारं पराभवं स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा खिद्यमाना सती कृशतां भजति ॥ ३२ ॥

हे मेघ ! त्रिभुवनपति श्री नेमि ने उस गज के पूर्व भाग (स्कन्ध) पर ही आरोहण किया इसीलिए उसका (हाथी का) अग्रभाग ही वर्णनीय हुआ और पिछले भाग पर आरोहण न करने से पिछला भाग खिन्न हुआ। उस खिन्नता के कारण वह आज भी कृश अर्थात् नीचे है। तात्पर्य है कि आज भी हाथियों का अग्रभाग ऊँचा होता है तथा पृष्ठ भाग दबा होता है, इसका कारण है श्री नेमि का अग्र भाग पर ही चढ़ना। ऐसी कवि की कल्पना है ॥ ३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीतज्योतिः ससकलकलः पुण्डरीकापदेशात्
गावो वालव्यजननिभतश्चन्द्रिका चेलदम्भात् ।
तारा मुक्तामणिगणमिषान्निर्निमेषं पिबद्भि-
र्देवं सेवास्थित इति तदाऽतर्कि नैशः प्रदेशः ॥३३॥

शीतज्योतिः ० हे जलधर! **निर्निमेषं पिबद्भिः** अत्यर्थं विलोकमानैः पुरुषैः **तदा** तस्मिन् प्रस्तावे **नैशः** निशासम्बन्धीप्रदेश इति अमुना प्रकारेण **देवं** श्रीनेमिनं **प्रति सेवास्थित** इव सेवाकृते स्थित इव **अतर्कि** विचारितः । इतीति किं—**पुण्डरीकापदेशात्** पुण्डरीकस्य श्वेतछत्रस्य अपदेशात् मिषात् **ससकलकलः** सकलकलासहितः **शीतज्योतिः** चन्द्रमाः, **बालव्यजननिभतः** चामरव्याजात् **गावः** किरणाः **चेलदम्भात्** वस्त्रबलातचन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना, **मुक्तामणिगणमिषात्** तारा मुक्ताफलसमूह निभात् **तारा**ः ॥ ३३ ॥

उस समय रात्रि का वातावरण ऐसा लग रहा था मानो छत्र के व्याज से सम्पूर्ण कलाओं के साथ चन्द्रमा, चामर के व्याज से किरणें, वस्त्र के व्याज से चन्द्रिका, मणियों के व्याज से तारागण ये सभी अपलक दृष्टि से देखते हुए भगवान् श्री नेमि की सेवा में तत्पर हैं ॥३३॥

अग्रेऽभूवन् करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीरा
नानायानाधिगतगतयो वीरपत्न्यश्च ।
उत्कोशासिप्रहरणभृतः पत्तयः पार्श्वदेशे
प्रत्यावृत्तेः प्रकृतिविरतस्यास्य भीत्येव मार्गात् ॥३४॥

अग्रेऽभूवन् ० हे पयोद! **करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीराः** गजाश्व रथारूढयादवप्रवीराः **अस्य** श्रीनेमेः **अग्रेऽभूवन्** आसन् च पुनः **वीरपत्न्यः** यादवदाराः **अस्य श्रीनेमेः पश्चात् अभूवन्** । किंभूताः वीरपत्न्यः—**नानायानाधिगतगतयः** नानाप्रकारैः यानैः सुखासनादिभिः अधिगताः प्राप्ताः गतयो याभिः ताः । हे मेघ! **पत्तयः** पदातयः **अस्य** भगवतः **पार्श्वदेशे** उभयोः पार्श्वयोः अभूवन् । किंलक्षणाः **पत्तयः**—**उत्कोशासिप्रहरणभृतः** उत्कोशान् कोशात्प्रतीकारान्निःकासितान् असिप्रहरणात् खड्गास्त्राणि बिभ्रतीति उत्कोशासिप्रहरणभृतः । केन कारणेन—उत्प्रेक्ष्यते—**अस्य** श्रीनेमेः **मार्गात् प्रत्यावृत्तेः** पश्चाद्चलनस्य **भीत्येव** भीत्या इव **अभूवन्** । किंरूपस्य अस्य—**प्रकृतिविरतस्य** स्वभावेन विरक्तचित्तस्य ॥३४॥

हे मेघ! हाथी, घोड़े, रथ पर सवार यादव वीर श्री नेमि के आगे-आगे चल रहे थे, नाना प्रकार के वाहनों पर सवार यादवों की स्त्रियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछे-पीछे चल रही थीं। पैदलसेना हाथ में खुली तलवार को ऊपर किये हुए नेमिनाथ के बगल से चल रही थी यह सब ऐसा लग रहा था कि स्वभाव से ही विरक्त नेमि लौट न जाएँ इसी डर से वे लोग उन्हें घेर कर चल रहे थे ॥ ३४ ॥

मामुद्वोढुं सृतिमुपयतः पत्युराद्योतनोत्कै-
रातोद्यौघध्वनिनिशमनादेव वाजं भजद्भिः ।
पौरैर्गौराननरुचिभरैर्हूतिकर्मान्तरेणै-
तव्यं नैवाप्यधिकरुचिकैरित्युपादिश्यतेव ॥३५॥

मामुद्वोढुं ० हे मेघ ! उत्प्रेक्ष्यते—**पौरैः** नागरिकैः; इति **उपादिश्यतेव** इति आलोच्यतेव । इतीति किं—भो भो जनाः ! **अधिकरुचिकैरपि** अधिका रुचिः अवलोकनेच्छा येषां ते तैः अधिकरुचिकैरपि जनैः **हूतिकर्मान्तरेण** आकारणं विना न **एतव्यं** न गन्तव्यं । किंभूतैः पौरैः—**पत्युः** श्रीनेमेः **आद्योतनोत्कैरपि** आद्योतनम् अवलोकनं तस्मिन् उत्कैः उत्सुकैरपि । किंभूतस्य पत्युः—**मां** राजीमतीं **उद्वोढुं** परिणयितुं **सृतिं** मार्गम् **उपयतः** गच्छतः । पुनः किंरूपैः पौरैः—**आतोद्यौघध्वनिनिशमनात्** एव वदित्रशब्दश्रवणात् एव **वाजं** वेगं **भजद्भिः** तथा **गौरेषु आननेषु** मुखेषु **रुचिभरः** कान्तिसमूहो येषां ते तैः ॥३५॥

मेरा पाणिग्रहण करने के लिए आते हुए मेरे भावी पति श्री नेमिनाथ को देखने के लिए उत्सुक, श्रीमुखवाले, गौराङ्गपुरवासी, वाद्ययन्त्रों की ध्वनि को सुनकर देखने के लिए यह सोचकर नहीं जा रहे थे कि आमन्त्रण न होने कारण देखने जाना उचित नहीं होगा ॥ ३५ ॥

यावन्नान्दीरवमभृणवं स्नातभुक्तानुलिप्ता
कल्पाकल्पा स्तनितमिव ते केकिनी प्रोच्चकर्णम् ।
तावद्भ्रातर्विधुमिव विभुं तं चकोरी विदृक्षु-
रिच्छक्षुःक्षेपं सुमशरशराभ्याहतेवाकुलाऽऽसम् ॥३६॥

यावन्नान्दी ० हे जीमूत ! अहं राजीमती **प्रोच्चकर्णं** टहरितकर्णं यथा स्यात् तथा यावत् **नान्दीरवं** द्वादशतूर्यनिर्घोषम् **अभृणवं** शृणोमि स्म । केव—**केकिनी इव**, यथा केकिनी मयूरी प्रोच्चकर्णं यथा स्यात् तथा **स्तनितं** गर्जारवं शृणोति । किंरूपाऽहं—**स्नातभुक्तानुलिप्ता** स्नाता च भुक्ता च अनुलिप्ता स्नातभुक्तानुलिप्ता, तथा **कल्पाकल्पा** कल्पितो रचितः आकल्पः शृङ्गारो यया सा । हे भ्रातः ! हे मेघ ! **तावत् चक्षुःक्षेपं** चक्षुः क्षिप्त्वा **तं विभुं** श्रीनेमिनं **विदृक्षुः** सति विलोकयितुम् **इच्छुः**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सति आकुला व्याकुला आसम् अभवं । किंभूताऽहं—उत्प्रेक्ष्यते—सुमशरशरा-भ्याहता इव सुमशरस्य कुसुमबाणस्य शरैः बाणैः अभ्याहता इव प्रतिहता इव । क इव—चकोरी इव, यथा चकोरी विधुं चन्द्रमसं चक्षुः क्षिप्त्वा दिदृक्षुः सति आकुला भवति ॥३६॥

हे मेघ ! स्नान, भोजन, लेप एवं शृङ्गार की हुई मेघगर्जना सुनने को व्याकुल मयूरी की तरह मैंने ज्योंहीं नान्दीरव (बारह प्रकार के वाद्य यन्त्रों की ध्वनि) का सुना त्योंहीं चन्द्रमा को देखने के लिए उत्सुक चकोरी की तरह चारों तरफ दृष्टि फेंकती हुई कामदेव के बाणों से घायल होकर श्रीनेमिनाथ को देखने के लिए व्याकुल हो उठी ॥३६॥

पेञ्जूषेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्सूत्सुकाया-
मायान्त्यस्मै सखि ! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम् ?
इत्यालीनां सुबहु वचनं मन्यमाना विमानं
मत्तालम्बं तदनुचरिताऽशिश्रियं देवतेव ॥३७॥

पेञ्जूषेषु ० हे जलधर ! अहं मत्तालम्बं गवाक्षम् अशिश्रियम् आश्रितवती । क इव—देवता इव, यथा देवता विमानं श्रयति । किंभूताऽहं—तदनुचरित-भ्यः आलीभ्यः अनु पश्चात् चरिता चलिता, अथ वाताभिः आलीभिः अनुचरिता सेविता । अहं किं कुर्वाणा—आलीनां सखीनाम् इति वचनं सुबहु सुष्ठु अतिशयेन बहु यथा स्यात् तथा मन्यमाना । इतीति किं—हे सखि ! हे राजीमती पेञ्जूषेषु कर्णेषु स्वविषयसुखं श्रवणसुखं भेजिवत्सु प्राप्तवत्सु चक्षूंषि नेत्राणि सुख-यितुं किं न युक्तम् अपितु युक्तम् एव । किं विशिष्टानि चक्षूंषि—अस्मै स्वविषय-सुखाय अवलोकनाय उत्सुकायाम् आयान्ति आगच्छन्ति । इदं संतृड् प्रत्ययान्तं पदम् ॥३७॥

हे सखि ! कर्णों के अपने विषय (शब्द) सुख को प्राप्त कर लेने पर अपने विषय (दर्शन) सुख के लिए उत्सुक नेत्रों को सुख देना क्या उचित नहीं है ? अर्थात् आवश्यक है । इस प्रकार अपनी सखियों की बातों को सुनकर मैं उनके पीछे-पीछे वैसे ही गवाक्ष (खिड़की) का सहारा लिया जैसे देवतागण विमान पर आरोहण करते हैं ॥३७॥

श्रेयःसारागममुपयमाद्यङ्गमग्र्यासनस्थं
नासान्यस्तस्तिमितनयनं पुण्यनेपथ्ययोगम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लध्यानोपगतमिव सच्चन्दनस्याङ्गरागै-
स्तत्राद्राक्षं जगदिनमहं भोगिनं योगिनं वा ॥३८॥

श्रेयःसारागम ० हे जलधर ! **तत्र** तस्मिन् गवाक्षे **अहं** राजीमती **जगदिनं** जगत्स्वामिनं श्रीनेमिनं **भोगिनं वा** अथवा **योगिनम् अद्राक्षम्** अपश्यम् । किंरूपं **जगदिनं—श्रेयःसारागमं** श्रेयसा माङ्गल्येन सारः उत्कृष्टः आगमः आगमनं यस्य स तम्, तथा **उपयमाद्यङ्गम्** उपयमस्य विवाहस्य आदि प्रथमम् अङ्गं यः स तम्, तथा **अग्र्यासनस्थं** प्रधानसेनोपविष्टं, तथा **नासान्यस्तस्तिमितनयनं** नासिकाग्रन्यस्त-निश्चलनेत्रं, तथा **पुण्यनेपथ्ययोगं** पुण्यः पवित्रः नेपथ्यानां योगं संयोगो यस्य स तम् । पुनः कीदृशं—**सच्चन्दनस्य** प्रधानचन्दनस्य **अङ्गरागैः** विलेपनैः कृत्वा, **उत्प्रेक्ष्यते—शुक्लध्यानोपगतमिव** । किंविशिष्टं योगिनं—**श्रेयःसारागमं** श्रेयसि मोक्षे सारः उत्कृष्टः आगमः सिद्धान्तो यस्य स तम्, तथा **उपयमाद्यङ्गं** यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ ध्यान ६ धारणा ७ समाधि ८ अष्टौ योगाङ्गानि, उपसमीपे यमादि अङ्गानि यस्य स तम्, तथा **पुण्यनेपथ्ययोगं** पुण्यमेव नेपथ्ययोगो यस्य स तम् । अग्रेतनानि विशेषणानि सदृशानि एव ॥३८॥

हे मेघ ! उस खिड़की पर चढ़कर मैंने जगत्स्वामी श्रीनेमिनाथ को कल्याण प्रधान आगमन वाले, विवाह के प्रमुख अङ्ग हाथी पर सवार, नासिका पर दृष्टि लगाए हुए, चन्दनराग को लगाने से गौरवर्ण वाले तथा शुभ्र पवित्र वेष वाले एक तरफ भोगी के रूप में देखा तो दूसरी तरफ पद्मासन पर बैठे नासिका पर दृष्टि लगाए हुए वे एक योगी के रूप में भी दिखे ॥३८॥

मोहोदन्वान्मम निशमनं तस्य जैवातृकस्य
व्यातन्वत्याः कथमपि तथा तत्र चैधिष्ट पुष्टः ।
कोऽयं काऽहं क्व किमु विदधामीति तद्वीचिमाला-
लोलच्चेताः क्षणमवजगे नो यथा जाड्यमाप्ता ॥३९॥

मोहोदन्वान् ० हे जलधर ! च पुनः **मम** राजीमत्याः **तस्य** श्रीनेमेः **कथमपि** महता कष्टेन प्रच्छन्नत्वात् **निशमनम्** अवलोकनं **व्यातन्वत्याः** कुर्वत्याः सत्याः **मोहोदन्वान्** मोहसमुद्रः **तथा** तेन प्रकारेण **पुष्टः** सन् **ऐधिष्ट** वर्धतेस्म । किंरूपस्य **तस्य—जैवातृकस्य** चिरञ्जीविनः, **यथा अहं क्षणं** मुहूर्तं यावत् **इति नो अवजगे** इति न ज्ञानवती । इतीति किं—**अयं** भगवान् श्रीनेमिः **कः, अहं** राजीमती **का** ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्व कस्मिन् प्रदेशे, **किमु विदधामि** किं कुर्वन् अस्मि । किरूपाऽहं—**तद्वीचिमाला-लोलचेताः** तस्य मोहोदन्वतः वीचिमालाभिः कल्लोलश्रेणीभिः लोलत् लोलीभवत् चेतयो यस्याः सा, तथा, **जाड्यमाप्ता** जडताम् आप्ता प्राप्ता, ननु अन्योपि **समुद्र जैवातृकस्य** चन्द्रमसो **निशमने** विलोकने एधते, इति श्लेषलेशः ॥३९॥

उस खिड़की से उन आयुष्मान् श्रीनेमि का दर्शन करते हुए मुझमें मोहसमुद्र उमड़ पड़ा, उस समुद्र की तरङ्ग मालाओं से चञ्चल चित्त वाली मैं जड़ीभूत होकर क्षण भर के लिए जड़ीभूत हो गई तथा मैं कौन हूँ ? वह कौन है ? मैं क्या कर रही हूँ इत्यादि कुछ भी न जान सकी ॥३९॥

क्वायं देवस्त्रिभुवनपतिर्मर्त्यकीटः क्व चैषा
यद्यप्यार्षीन्निलयवलजं नो तथापि प्रतीये ।
इत्यूहे मे स्फुरदपि तदा लोचनं भानवीयं
भाग्याभावेऽमुकुलयदहो ! कामराजीवराजीः ॥४०॥

क्वायं देव ० हे जलधर ! **तदा** तस्मिन् श्रीनेमिविलोकनागमप्रस्तावे **मे** मम **भानवीयं** दक्षिणं **लोचनं स्फुरदपि भाग्याभावे सति** अभाग्ये सति **अहो** इत्याश्चर्ये । **कामराजीवराजीः** कामा एव विवाहलक्षणाभिलाषा एव राजीवानां कमलानां राज्यः श्रेणयः कामराजीवराज्यः ताः **अमुकुलयत्** अमुकुली चकार सङ्कोचीकृतवान् इत्यर्थः अत्र भानोरिदं भानवीयं सूर्यसम्बन्धिनां लोचनं दर्शनं राजीवराजी न मुकुलयति इत्याश्चर्यम् । क्वसति—इति ऊहे विचारे स्फुरति सति । इतीति किं—**अयं त्रिभुवनपतिः देवः** श्रीनेमिः **क्व च** पुनः **मर्त्यकीटः एषा** अहं **क्व** । क्व शब्दे महदन्तरो वर्त्तते । यद्यपि अयं भगवान् **निलयवलजं** मन्दिरतोडकम् **आर्षीत्** आगतः तथापि अहं **नो प्रतीये** प्रत्ययं न करोमि । अहं भगवान् मां परिणेष्यत्येव निश्चितं न करोमि इत्यर्थः ॥४०॥

हे मेघ ! कहाँ तो त्रिभुवनपति श्रीनेमि और कहाँ तुच्छ जीव मैं ? फिर भी श्रीनेमिनाथ विवाह हेतु मेरे द्वार तक आ पहुँचे । पर दक्षिण नेत्र ने फड़ककर मेरे भाग्याभाव को बताते हुए मेरे काम से युक्त मनोरथ रूपी कमल समूहों को संकुचित बना दिया अर्थात् इनसे मेरा विवाह होगा या नहीं ? ऐसी आशंका मन में उत्पन्न हो गई ॥४०॥

शान्तं पापं ! क्षिपसि ससिते क्षीरपूरेऽक्षखण्डान्
मङ्गल्यानामवसर इहामङ्गलं ते खलूक्त्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मामुद्वेगं सपदि दधतीमित्यवोचन् वयस्या
यावत्तावत्करुणमशृणोदेष रावं पशूनाम् ॥४१॥

शान्तं पापं ० हे जलधर ! **वयस्याः** सख्यः **मां** प्रति **यावत् इति अवोचन्** इति अजल्पन् । इतीति किं—हे सखि ! राजीमति **पापं शान्तं** विलयं गतम् । **ससिते** सशर्करे **क्षीरपूरेऽक्षखण्डान्** सुवर्चलखण्डान् त्वं **क्षिपसि, इहमङ्गल्यानाम् अवसरो** वर्त्तते । **ते** तव **अमङ्गलम्** अश्रेयम् **उक्त्वा** खलु पूर्यताम् । किंभूता मां— **सपदि** तत्कालम् **उद्वेगम्** उच्चाटं **दधतीम्** । हे मेघ ! **तावत्** एषः श्रीनेमिः **पशूनां करुणं** दीनं **रावं** शब्दम् **अशृणोत्** शृणोतिस्म ॥ ४१ ॥

हे मेघ ! अत्यधिक उद्वेग के कारण घबराई हुई मुझसे जब तक सखियों ने यह कहा कि हे सखि चुप रहो ! तुम शर्करायुक्त दुग्ध में बहेड़ा डालने की तरह इस मङ्गल की बेला में अमाङ्गलिक बातें मत सोचो 'तभी भगवान् श्रीनेमि ने पशुओं का करुण आर्तनाद सुना ॥४१॥

हेतुं तेषामवजिगमिषुः क्रन्दने सादिनाऽथो
नाथो नत्वा मुकुलितकरेणेति विज्ञप्यते स्म ।
एषां कीनैरिव जलनिधिर्नाथ ! नादेयवाहैः
शूल्यैः शोभातिशयमयिता गौरवस्ते विवाहे ॥४२॥

हेतुं तेषाम् ० हे जलधर ! **अथ** पशूनां करुणरावश्रवणानन्तरं **सादिना** हस्तिपकेन **नाथः** श्रीनेमिः **नत्वा** नमस्कृत्य **मुकुलितकरेण** योजितकरेण सता इति **विज्ञप्यते स्म** । किंरूपो नाथः—**तेषां** पशूनां **क्रन्दने** आक्रन्दनविषये **हेतुं** कारणम् **अवजिगमिषुः** जिज्ञासुः । इतीति किं हे नाथ ! हे नेमे ! **एषां** पशूनां **कीनैः** चित्रफलैः **शूल्यैः** शूलाकृतैः मांसैः **ते** तव **विवाहे गौरवः शोभातिशयं** शोभोत्कर्षम् **अयिता** एष्यति । क इव—**जलनिधिः** इव, यथा जलनिधिः समुद्रः **नादेयवाहैः** नदीसम्बन्धिभि प्रवाहैः शोभातिशयम् एति ॥ ४२ ॥

पशुओं के चीत्कार का कारण जानने के इच्छुक भगवान् श्रीनेमि से महावत ने हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ विविध प्रकार से पकाये हुए इन पशुओं के मांस से आपके विवाह की शोभा उसी प्रकार बढ़ेगी जैसे नदियों के जल से समुद्र की शोभा बढ़ती है ॥४२॥

मीलन्नेत्रद्वयमयमदःकृत्य कर्तास्म्यथैत-
न्निश्चित्यैवं समजमिभमानीनयत् सादिनैषाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रोतःसार्थं विविधगतिना चेतसा बन्धमोक्षा-
लङ्कर्मीणः सकलविषयग्राममात्मेव देवः ॥४३॥

मीलन्नेत्र ० हे जलधर ! **अयं देवः** श्रीनेमिः **सादिना** हस्तिपकेन **इभं** गजं पशूनां **समजं** समूहं प्रति **आनीनयत्** अप्रापयत् । किं कृत्वा—**मीलन्नेत्रद्वयं** मुकुलितनेत्रयुग्मं यथा स्यात् तथा **एवं निश्चित्य** निश्चयं कृत्वा, एवं किं—अहम **अवःकृत्य** इदं पशुमोचनरूपं कार्यं कृत्वा **अथ** पश्चात् **एतत् कर्तास्मि** एतत् दीक्षाग्रहणलक्षणकार्यं करिष्यामि । किंभूतेन सादिना—**विविधगतिना** विविधा नानाप्रकारा गतयो यस्मात् अर्थात् गजस्य स तेन । किंभूतः **अयं देवः**—**बन्धमोक्षलङ्कर्मीणः** बन्धस्य अधिकारात् पशुबन्धनस्य मोक्षे मोचने अलङ्कर्मीणः समर्थः । क इव—**आत्मेव**, यथा आत्मा **चेतसा श्रोतःसार्थं** इन्द्रियप्रकरं **सकल-विषयग्रामं** समस्तशब्दरूपरसस्पर्शगन्धादिविषयसमूहं **आनयति** प्रापयति । किंभूतेन चेतसा—**विविधगतिना** विविधा अनेकप्रकारां गतयो नरकतिर्यक्लक्षणा यस्मात् स तेन, यतो मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । किंरूपः आत्मा—**बन्धमोक्षा-लङ्कर्मीणः** बन्धे कर्मणां बन्धने मोक्षे शिवे अलङ्कर्मीणः समर्थः ॥ ४३ ॥

मैं पशुओं को छुड़ा कर दीक्षा ग्रहण कर लूँगा इस प्रकार आखों को बन्द कर सोचते हुए बन्ध-मोक्ष मेंसमर्थ श्रीनेमि को महावत ने उसी प्रकार उस पशुसमूह में पहुँचा दिया जैसे आत्मा विविध गति वाले मनके द्वारा श्रोत्रादि इन्द्रिय समूह को प्राप्त होकर शब्दादि विषयों को प्राप्त करता है ॥४३॥

दीनोत्पश्यान् पुरवननभश्चारिणश्चारबन्धं
बद्धान् बन्धैर्गलचलनयोर्वेपिनो मृत्युभीत्या ।
प्रीतः पृथ्वीपतिरिव जवादेष जन्तून् समन्तू-
नुन्मोच्य स्वं द्विरदमनयद्वेश्मनः सम्मुखत्वम् ॥४४॥

दीनोत्पश्या ० हे जलधर ! **एषः** श्रीनेमिः **स्वं द्विरदं जवात् वेगात् वेश्मनः सम्मुखत्वं** गृहस्य अभिमुखताम् **अनयत्** प्रापयामास नीतवान् इत्यर्थः । किंकृत्वा—**जन्तून् उन्मोच्य** मोचयित्वा किंरूपान् जन्तून्—**दीनोत्पश्यान्** दीना दीनमनसश्च उत्पश्या ऊर्द्ध्वावलोकनशीलाश्च तान् तथा **पुरवननभश्चारिणः** पुरे वने नभसि चरन्तीति पुरवननभश्चारिणः तथा **चारबन्धं** गुप्तिगृहे बन्धनं यथा स्यात् तथा **गलचलनयोः** कण्ठयोः पादयोः **बन्धैः** बद्धान् तथा **मृत्युभीत्या** मरणभयेन **वेपिनः** कम्पमानान् । क इव—**प्रीतः पृथ्वीपतिरिव**, यथा प्रीतः तुष्टः पृथ्वीपतिः समन्तून् सापराधान् जन्तून् मोचयति ॥ ४४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री नेमिने मौत के डर के कारण काँपते हुए तथा असहायावस्था में दीन होकर ऊपर देखने वाले उन पशु-पक्षियों को उसी प्रकार छुड़ा दिया जैसे राजा प्रसन्न होने पर सापराध लोगों को छोड़ देता है। इसके बाद श्रीनेमि हाथी को अपने घर के सामने ले आए अर्थात् अपने घर लौट गये ॥४४॥

यानत्याजं सपदि पितरावग्रतोऽथास्य भूत्वा
वर्षा वाष्पप्लवविगलनात् पौनरुक्त्यं नयन्तौ ।
इत्यूचाते चिरमतमहाज्जात ! कस्मादकस्मा-
दस्मादश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्त्वं निवृत्तः ? ॥४५॥

यान्त्याजं० हे जलधर ! **अथ** गृहसम्मुखगजवालनानन्तरं **सपदि** तत्कालं **पितरौ यानत्याजं** यानं त्यक्त्वा **अस्य** श्रीनेमेः **अग्रतो भूत्वा इति** ऊचाते इति अजल्पताम् । किंरूपौ पितरौ–**वाष्पप्लवविगलनात्** अश्रुजलपतनात् **वर्षा** वर्षाकालं **पौनरुक्त्यं नयन्तौ** इतीति किं–हे **जात** ! हे पुत्र ! **त्वं कस्मात्** कारणात् **अकस्मात्** सहसा अस्मात् **चिरमतमहात्** चिरं चिरकालं यावत् मतः अभीष्टः यो महात् विवाहलक्षणमहोत्सवः तस्मात् **निवृत्तः** पश्चात् वलितः । किंवत्–**अश्माऽऽस्फलित-तटिनी पूरवत्** यथा पाषाणस्फाटिततटिनी पूरे अकस्मात् निवर्त्तते पश्चात् वलति ॥ ४५ ॥

इसके बाद उसी समय यान से उतरकर श्रीनेमि के माता-पिता श्रीनेमि के आगे आकर वर्षा की तरह अश्रुपात करते हुए श्रीनेमि से बोले कि हे पुत्र ! पाषाण से टकराये हुए नदी प्रवाह की तरह तुम इस चिराभिलषित विवाहोत्सव से अकस्मात् क्यों निवृत्त हो गये ? ॥४५॥

तौ खिन्दानौ यदुपरिवृढो वारयित्वेत्यजल्पद्
बन्धो ! सिन्धो ! विनयपयसामाश्रितान् प्राक् प्रसत्तिम् ।
प्रापय्याथो दवयसि कुतः शुक्तिछलादह्यमानान्
नासंभाव्यं किमपि यदि वा ब्रह्मपर्यायसक्ते ॥४६॥

तौ खिन्दानौ० हे जलधर ! **यदुपरिवृढः** कृष्णः **तौ** पितरौ **वारयित्वा इति अजल्पत्** इति जजल्प अर्थात् नेमिं प्रति । किंभूतौ तौ-**खिन्दानौ** खेदं कुर्वाणौ । इतीति किं—हे **बन्धो** ! हे श्रीनेमे **विनयपयसां सिन्धो** ! हे विनयजलसमुद्र ! त्वम् **आश्रितान्** सङ्गीन् जनान् **प्राक्** पूर्वं **प्रसत्तिं** प्रसन्नतां **प्रापय्य** लम्भयित्वा **अथ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् कुतो हेतोः दवयसि दूरे करोषि अथवा दवं दावानलं नयसि । किंरूपान् आश्रितान्- शुक्छिखादह्यमानान् शुकः शोकस्य शिखाभिः ज्वालाभिः दह्यमानान् यदि वा अथवा ब्रह्मपर्यायसक्ते ब्रह्मणः ब्राह्मणस्य पर्यायः अपरशब्दः एतावता वाडवः तस्मिन् सक्ते आसक्ते पुरुषे किमपि असम्भाव्यं न सर्वमपि सम्भाव्यमेव भवति । अत्र शब्दभेदत्वात् ब्रह्मणः परब्रह्मणः पर्यायः अपरशब्दः मोक्षः तस्मिन् सक्ते इत्यर्थः ॥४६॥

दुःखी माता पिता को समझाकर श्रीकृष्ण ने नेमि से कहा विनयरूपी जल के समुद्र हे बन्धु ! अपने आश्रितों (सम्बन्धियों) को पहले सुखी बनाकर अब उन्हें शोक रूपी अग्नि में क्यों जला रहे हो ? अथवा मोक्ष के इच्छुक के लिए कुछ भी करना असम्भव नहीं है अर्थात् मोक्षार्थी बिना किसी की परवाह कुछ भी कर सकता है ॥ ४६ ॥

कारुण्यौकश्चरिषु विघृणो बन्धुतायां सुतृष्णक्
मुक्तौ मूर्त्तिद्विषि कुलकनीस्वीकृतौ वीततृष्णः ।
कौलीनाप्तेर्दरविरहितः संसृतेः कान्दिशीकः
प्रारब्धार्थांस्त्यजसि भजसेऽप्रस्तुतार्थांस्तन्नमस्ते ॥४७॥

कारुण्यौक० हे बन्धो ! त्वं चरिषु पशुषु कारुण्यौकः दयागृहं बन्धुतायां बन्धुसमूहे विघृणः निर्दयः । हे बन्धो ! त्वं मुक्तौ सुतृष्णक् अतिशयेन तृष्णालुः ! किंरूपायामुक्तौ–मूर्त्तिद्विषि मूर्त्त्याः शरीरस्य द्विष् शत्रुरूपा मूर्तिद्विष् तस्यां मूर्त्तिद्विषि मुक्तौ किल मूर्त्तिमान् कोपि न भवति । तेजोरूपत्वात् तत्र गतसर्वजीवानां त्वं कुलकनीस्वीकृतौ कुलकन्यिकायाः अंगीकरणे वीततृष्णः गतेच्छः । हे बन्धो ! त्वं कौलीनाप्तेः दुर्यशः प्राप्तेः दरविरहितः निर्भयः संसृतेः संसारात् कान्दिशीकः भयत्रस्तः । हे नेमे ! त्वं प्रारब्धार्थान् विवाहलक्षणान् अप्रस्तुतार्थान त्यजसि अप्रस्तुतान् दीक्षाग्रहणलक्षणान् अर्थान् भजसे । हे बन्धो ! तत् तस्मात् ते तुल्यं नमोऽस्तु नमस्कारो भवतु ॥ ४७ ॥

पशु-पक्षियों पर तो तुम करुणा दिखा रहे रहो पर अपने बन्धुओं के लिए निर्दय हो, शरीर को कष्ट देकर तो तुम मुक्ति के कामी हो परन्तु कुलीन राजीमती को स्वीकार करने के अनिच्छुक हो, लोकनिन्दा की तुम्हें परवाह नहीं परन्तु सांसारिक विषयों से डरते हो, प्रारब्ध अर्थात् राजीमती को तुम त्याग रहे हो पर प्रारब्ध अर्थात् मोक्षमार्ग को ग्रहण कर रहे हो अतः हे मित्र ! तुम्हें नमस्कार है अर्थात् जो मन में आए सो करो ॥ ४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नर्तेऽर्तीनां नियतमवरावावरीमां तपस्यां
यस्योदर्कः सततसुखकृत्कृत्यमर्घ्यं सतां तत् ।
दामत्कर्मप्रसितभविनो मोचयिष्ये चरीन् वा
नेमिः प्रत्यादिशदिति हरिं भूरि निर्बन्धयन्तम् ॥४८॥

नर्तेऽर्तीनां० हे जलधर ! **नेमिः** श्रीनेमिनाथः **हरिं** कृष्णं प्रति **इति प्रत्यादिशत्** इति उवाच । किरूपं हरिं—**भूरि** प्रचुरं यथा स्यात् तथा **निबन्धयन्तम्** आग्रहं कुर्वाणं । इतोति किं—हे कृष्ण ! **इमां तपस्यां** दीक्षां **ऋते** विना **नियतं** निश्चितम् **अपरा** काचित् **अर्तीनां** पीडानां **न अवावरी** स्फेटका न वर्त्तते । हे कृष्ण ! **सतां** सत्पुरुषाणां **तत् कृत्यम् अर्घ्यं** श्लाघनीयं **यस्य** कृत्यस्य **उदर्कः** तत् भवं फलं **सततसुखकृत्** भवति निरन्तरसौख्यकारकं भवति । हे कृष्ण ! **अतः** कारणात् अहं **चरीन् वा** अत्र वा शब्द इवार्थे चरीन् इव पूर्वम् उक्त पशून् इव **दामत्कर्मप्रसितभविनः** दामन्ति दाम इवाचरन्ति यानि कर्माणि तैः प्रसितान् प्रसितान् बद्धान् प्राणिनः संसारिणो जीवान् **मोचयिष्ये** मोचयिष्यामि ॥४८॥

बार-बार आग्रह करते हुए श्रीकृष्ण को श्रीनेमि ने यह कहकर मना कर दिया कि हे कृष्ण ! इस तपस्या (दीक्षा) के बिना स्त्री निश्चित ही बाधाओं को दूर नहीं कर सकती । सज्जनों का वही कार्य प्रशंसनीय होता है जिसका परिणाम सदैव सुखकारी हो । मैं कर्मपाश से बँधे हुए समस्त प्राणियों को इन्हीं पशुओं के समान मुक्त करूँगा ॥ ४८ ॥

तस्मिन्नेवं व्यसितवति प्रश्लथप्रेमपाशा
नाशाश्वासच्छलपरिगलज्जीविता यादवौघाः ।
सोरस्ताडं सुगुरु रुरुदू रोदसी रोदयन्तः
प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषान्मुष्ट सर्वस्ववत्ते ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नेवं० हे मेघ ! ते **यादवौघाः** यादवसमूहाः **सोरस्ताडं** वक्षस्थलताडन-सहितं यथा स्यात् तथा **सुगुरु** सुष्ठु अत्यर्थं गुरु गरिष्ठं यथा स्यात् तथा **रुरुदुः** रोदनं चक्रुः । क्वसति-**तस्मिन्** श्रीनेमिनाथे **एवं व्यवसितवतिसति** अहं एतां न परिणेष्ये किन्तु दीक्षामेव ग्रहीष्यामि इति कृतनिश्चये सति । किरूपाः यादवौघाः-**प्रश्लथप्रेमपाशाः** प्रकर्षेण श्लथः श्लथीभूतः प्रेमपाशाः स्नेहबन्धनं येषां ते, तथा **नाशाश्वासच्छलपरिगलज्जीविताः** नाशायां श्वासच्छली भवति गलत् परिक्षरत् जीवितं जीवितव्यं येषां ते, तथा **प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषात्** प्रत्युत्पन्नाः उत्पन्नाः ये प्रतिरवाः प्रतिशब्दाः तेषाम् मिषात् छलात् **रोदसी** भूमिव्योम्नोः अन्तरालं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोदयन्तः रोदनं कारयन्तः। किंवत् मुष्टसर्वस्ववत् यथा मुष्टसर्वस्वाः पुरुषाः रुदन्ति ॥ ४९ ॥

"मैं दीक्षाव्रत ही ग्रहण करूँगा" ऐसा श्री नेमि के निश्चय कर लेने पर शिथिल प्रेमपाश वाले नासिका श्वास के व्याज (बहाने) से प्राणों को छोड़ते हुए यादवगण सर्वस्व लुटे हुए व्यक्ति की तरह उत्पन्न हुई प्रतिध्वनि के व्याज से आकाश और पृथिवी को भी रुलाते हुए रोने लगे ॥ ४९ ॥

तेषामेव प्ररुदितवतां किङ्करन्नाकिचक्रो-
पोपानीतं विदधदभितोऽप्यर्थिसादर्थसार्थम्।
प्रातः प्रातः स्वभवनगतो डिण्डिमोद्घोषपूर्वं
प्राक्रंस्तासौ वितरणमथो वार्षिकं हर्षधाम ॥५०॥

तेषामेव० हे मेघ! अथ अनन्तरं असौ श्रीनेमिः स्वभवनगतः सन् स्वगृह-प्राप्तः सन् तेषां यादवानां प्ररुदितवतामेव कृते रोद नानामेव प्रातः प्रातः प्रभाते प्रभाते डिण्डिमोद्घोषपूर्वं पटहघोषणापूर्वकं वार्षिकं सावत्सरिकं वितरणं दानं प्राक्रंस्त प्रारब्धवान् असौ किं कुर्वन्—अभितोऽपि समन्ततोऽपि अर्थसार्थमपि द्रविणसमूहमपि अर्थिसात् याचकायत्तं विदधत् कुर्वन्। किंरूपम् अर्थसार्थं—किङ्करन्नाकिचक्रोपोपानीतं किङ्करन्ता किङ्करा इव आचरन्तो ये नाकिनो देवाः तेषां चक्रेण समूहेन उपोपानीतं ढौकितं। किंरूपो असौ हर्षधाम हर्षगृहं तेषां प्ररुदितवताम् इत्यत्र 'षष्ठी वाऽनादरे' इति पदेन षष्ठी सप्तमी प्राप्तौ षष्ठी ज्ञेयेति ॥ ५० ॥

यादव गण अभी रो ही रहे थे तभी सुख के धाम श्रीनेमि अपने घर (भवन) को जाकर सेवकों के समान देव-वृन्द द्वारा लाये गये धन को डिण्डिम (ढोल) घोष के साथ याचकों को बाँटते हुए वार्षिक दान आरम्भ कर दिये ॥ ५० ॥

प्रत्यावृत्ते परिणयभुवः प्राणितेशे निराशा
शम्पापातोपमिति पपतोत्पीडिता तत्प्रवृत्त्या।
पृथ्वीपीठप्रतिहततमोन्मूलिताधारसाला
वल्लीव द्राक् शकलविगलद्भूषणालिप्रसूना ॥५१॥

प्रत्यावृत्ते० हे जलधर! अहं द्राक् शीघ्रं पपत (पतितवति) क्वसति-प्राणितेशे हृदयवल्लभे श्रीनेमिनि परिणयभुवः विवाहभूमेः प्रत्यावृत्ते पश्चाद्वलिते सति। किंरूपा अहं—निराशा निर्गता आशा विवाहलक्षणवाञ्छा यस्याः सा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः किंविशिष्टा अहं-तत्प्रवृत्त्या तस्य पश्चाद्वलनस्य वार्त्तया, शाम्पापातोपमिति विद्युत्पातोपमानं यथा स्यात् तथा उत्पीडिता अत्यर्थं पीडिता, अयं भावः—यथा विद्युत्पातेन पीडयते तथा पीडितेत्यर्थः पुनः किरूपा अहं—सकलविगलद्भूषणालि-प्रसूना सकल समस्ता विगलन्ती पतन्ती भूषणानाम् आभरणानाम् आली श्रेणि प्रसूनानि च अर्थात् कण्ठमस्तकोपरि न्यस्तानि पुष्पाणि यस्याः सा। अहं क इव पपत—उन्मूलिताधारसालावल्लीव उन्मूलितः उच्छिन्नः आधाररूपः सालः वृक्षो यस्याः सा, एवंविधा वल्ली यथा द्राक् शीघ्रं पतति। किंलक्षणा वल्ली—पृथ्वीपीठप्रतिहततमा पृथ्वीपाठे अत्यर्थं प्रतिहता या सा पृथ्वीपीठप्रतिहततमा तथा सकलविगलद्भूषणालिप्रसूना सकला समस्ता विगलन्तः पतन्तो भूषणंप्रायाः अलयो भ्रमराः प्रसूनानि पुष्पाणि यस्याः सा ॥ ५१ ॥

हे मेघ ! प्राणेश्वर श्रीनेमि के विवाह स्थल से लौट जाने की खबर को सुनकर अत्यन्त उत्पीड़ित मैं समस्त आभूषणों को फेंककर उसीप्रकार पृथिवी पर गिर पड़ी जिसप्रकार आधारवृक्ष के गिर जाने पर उससे लिपटी हुई लता भी स्वतः भूमि पर गिर जाती है ॥ ५१ ॥

उद्यद्दुःखज्वरभरवती संनिमज्याहमस्मिन्
मोहाम्भोधौ सुखमिव तदा यत् पयोदान्वभूवम् ।
तापस्तस्मादुदलसवसौ कोऽप्यलं कम्पसम्प-
द्युक्तो यस्मात्समजनि ममानर्गलो विप्रलापः ॥५२॥

उद्यद्दुःख ० हे पयोद ! तदा तस्मिन् प्रस्तावे अस्मिन् मोहाम्भोधौ मूर्च्छा-समुद्रे संनिमज्य स्नात्वा अहं सुखमिव यत् अन्वभूवम् अन्वभवम्। किंरूपा अहं—उद्यद्दुःखज्वरभरवती उद्यत् उदयं प्राप्नुवत् दुःखज्वरभरो विद्यते यस्याः सा। हे पयोद ! तस्मात् संनिमज्यमानात् असौ कोऽपि अनिर्वचनीयः तापः अलम् अत्यर्थम् उदलसत् उल्लसतिस्म। किंभूतः तापः—कम्पसम्पत् युक्तः कम्प सम्पदा कम्पलक्ष्म्यायुक्तः सकम्प इत्यर्थः। हे मेघ ! यस्मात् सकम्पतापात् मम राजीमत्याः अनर्गलो निरर्गलो विप्रलापः विरुद्धवचनप्रलपनं समजनि जातः। अन्योऽपि ननु यः ज्वरभरवान् जलस्थाने संनिमज्जति तस्य तस्मात् संनिमज्जनात् सकम्पः तापः उल्लसति, विरुद्धवचन-प्रलपनं च भवति इति भावः ॥ ५२ ॥

हे मेघ ! दुःखरूपी ज्वर से पीड़ित मैंने मूर्च्छारूपी समुद्र में डूबकर क्षण मात्र के लिए अचेत होकर सुख का तो अनुभव किया परन्तु मूर्च्छा टूटने के पश्चात् मैं उसी प्रकार अनर्गल प्रलाप करने लगी जैसे ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के स्नान कर लेने पर क्षणिक सुख तो होता है पर तुरन्त ही वह और अधिक ज्वर होने के कारण उन्मत्त प्रलाप करने लगता है ॥ ५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्रेधूमध्वजगुरुजनं चेदुदुह्य व्यमोक्ष्यत्
तत् पाथोधौ प्रवहणमुपक्षिप्य सोऽमज्जयिष्यत् ।
राजन्यानामधिगुणतरोऽन्योऽथ भावी विवोढे-
त्यालीनां गीरजनि च तदा मे क्षतक्षारतुल्या ॥५३॥

अग्रेधूमध्व ० हे पयोद ! च पुनः तदा तस्मिन् अवसरे इति मे मम आलीनां सखीनां गीः वाणी क्षतक्षारतुल्या क्षतेषु क्षातुल्या क्षारक्षेपसमाना अजनि जाता । इतीति किं—हे राजीमति ! चेत् यदि सः अग्रेधूमध्वजगुरुजनं अग्नि गुरुजनानाम् अग्रे उदुह्य परिणीय व्यमोक्ष्यत्, तत् पाथोधौ समुद्रे प्रवहणं यानम् उत्क्षिप्य मध्ये क्षिप्त्वा अमज्जयिष्यत् अब्रुडमिष्यत्, तेन च एवंकृतं नास्ति तेन । अथ पुनः हे राजीमति ! अन्यः कश्चित् राजन्यानां सकुलक्षत्रियकुमाराणां मध्ये अधिगुणतरः अत्यर्थं गुणवान् विवोढ परिणेत भावी भविष्यति ॥ ५३ ॥

हे मेघ ! उस समय मेरी सखियाँ मुझे समझाने लगीं कि हे सखि यदि वे अग्नि एवं गुरुजनों के समक्ष तुम्हारा पाणिग्रहण कर विरक्त हो जाते तो तुम्हारी स्थिति समुद्र में छोड़ी हुई नौका सदृश हो जाती पर अभी तो कुछ नहीं बिगड़ा है—अन्य किसी गुणसम्पन्न राजकुमार से तो तुम्हारी शादी हो ही जाएगी, चिन्ता मत करो । सखियों की इस तरह की वाणी मुझे जले पर नमक छिड़कने जैसी लगी ॥ ५३ ॥

क्व ग्रावाणः क्व कनकनगः क्वाक्षकाः क्वामरद्रुः
काचांशाः क्व क्व दिविजमणिः क्वोडवः क्व द्युरत्नम् ।
क्वान्ये भूपाः क्व भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि ॥५४॥

क्व ग्रावाणः ० हे पयोद ! अथ सखीवचनालापाकर्णनानन्तरम् अहं ताः सखी प्रति इति प्रत्यजानि इति प्रतिज्ञां चक्रे । इतीति किं—हे सख्यः ! क्व ग्रावाणः पाषाणः, क्व कनकनगः मेरुः, क्व अक्षकाः बिभीतकाः, क्व अमरद्रुः कल्पवृक्षः, क्व काचांशाः काचखण्डानि, क्व दिविजमणिः चिन्तामणिः, क्व उडवः नक्षत्राणि, क्व द्युरत्नं सूर्यं । हे सख्यः ! क्व अन्ये भूपाः क्व भुवनगुरुः त्रिभुवन-स्वामीश्रीनेमिः अत्र मेरुपरिमाणवारन्तरं तत्, तस्मात् कारणात् अहं तस्य श्रीनेमेः ध्यानात् समयं कालं नेष्ये लास्यामि । केव—योगिनी इव, यथा योगिनी ध्यानात् समयं नयति एतावता अन्यतरं चित्तेऽपि न स्त्रियो परिणयं न दूरेऽस्तु, इति प्रतिज्ञाकृतेतिभावः ॥ ५४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे मेघ ! कहाँ पत्थर और कहाँ स्वर्णशिखर ? कहाँ बहेड़ा और कहाँ कल्पवृक्ष ? कहाँ काँच के टुकड़े और कहाँ चिन्तामणि ? कहाँ तारे और कहाँ भगवान् सूर्य ? कहाँ अन्य राजकुमार और कहाँ त्रिभुवन गुरु श्रीनेमि प्रभु ? अतः मैंने अपनी सखियों के समक्ष ही यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं योगिनी की तरह उन भगवान् श्रीनेमि के ध्यान में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर लूँगी ॥ ५४ ॥

यद्यप्येनं परिणयमहं विश्वविश्वाभिनन्द्योऽ-
तिर्यक्कारं त्वमिव सलिलासारमाञ्चत्पतिर्मे ।
आगार्हस्थ्यस्थिति तदपि चावार्षिकक्षं तवैवाऽ-
मुष्यैवाशां हृदि विदधती सेयमस्थां प्रजेव ॥५५॥

यद्यप्येनं ० हे धाराधर ! **मे** मम पतिः श्रीनेमिः **यद्यपि** एनं परिणयमहं विवाहमहोत्सवम् **अतिर्यक्कारम्** असम्पूर्णं कृत्वा **आञ्चत्** अगच्छत् **तदपि च** सा इयं तेन त्यक्त्वा अहं **आगार्हस्थ्यस्थिति** गृहस्थावासं यावत् **अमुष्यैव** श्रीनेमेरेव **आशां** परिणयनवाञ्छां **हृदि** हृदये **विदधती** आस्थां स्थितवती ! पतिः **क इव**—त्वम् **इव**, हे पयोद ! यथा त्वं **सलिलासारं** जलवेगवतीं वृष्टिम् **अतिर्यक्कारम्** असम्पूर्णं कृत्वा **अञ्चसि** गच्छसि । अहं केव—**प्रजा इव**, यथा **तदपि च** प्रजा लोकः **अवार्षिकक्षं** वर्षाकाले नक्षत्राणि यावत् **तवैव** आशां हृदि विदधती तिष्ठति । किंरूपो मे पतिः—त्वं च, **विश्वविश्वाभिनन्द्यः** विश्वेन समग्रेण विश्वेन जगता अभिनन्द्यः श्लाघनीयः ॥ ५५ ॥

अखिल विश्वाभिवन्द्य हे मेघ ! अपर्याप्त वर्षा करके तुम्हारे जाने के बाद भी जिस प्रकार प्रजा पुनः वर्षा की आशा लगाये रहती है उसी प्रकार जगत् पूज्य श्रीनेमि यद्यपि मेरा पाणिग्रहण किये विना ही चले गये पर मैं गृहस्थावस्था तक उनके आने की आशा को हृदय में रखकर जीती रही ॥ ५५ ॥

इति श्रीविधिपक्षमुख्याभिधान श्रीमदञ्चल-
गच्छेशश्रीजयकीर्तिसूरिशिष्यपण्डित-
महीमेरुगणिविरचितायां
श्रीमेघदूतबालावबोधवृत्तौ तृतीयः सर्गः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थः सर्गः

श्रीनेमीशः प्रतिदिनमथो कोटिमष्टौ च लक्षा
हेम्नः प्रातर्दददभिजनं कल्पसालायते स्म ।
चित्रं कम्पं करकिशलयं नाऽऽप पादप्रदेशे
लग्नाः पुण्यस्मितसुमनसश्छायया चाशि विश्वम् ॥१॥

श्रीनेमीशः ० हे जलधर ! **अथो** अनन्तरं **श्रीनेमीशः कल्पसालायते स्म** कल्पवृक्षइवाचरति स्म । किं कुर्वन्—**प्रतिदिनं** दिनं-दिनं प्रति **प्रातः** प्रभातसमये **हेम्नः** सुवर्णस्य **कोटिं, च** पुनः **अष्टौ लक्षाः अभिजनं** जनमाश्रित्य **ददत्** । हे जलधर ! **तत् चित्रम्** आश्चर्यं यत् **करकिशलयं कम्पं नाऽऽप पुण्यस्मितसुमनसः** पुण्याः पवित्राः स्मिताः विकस्वराः सुमनसः पुष्पाणि अथवा पुण्याः पवित्राः **स्मिताः** हर्षिताः सुमनसो देवाः **पादप्रदेशेलग्नाः, च** पुनः **छायया** कर्तृपदेन **विश्वं** जगत् **आशि** व्याप्तम् । ननु कल्पवृक्षस्य किशलयानि कम्पन्ते । सुमनसो मूर्ध्निप्रदेशे लगन्ति छाया च परिमिता भवतिअतश्चित्रम् ॥१॥

परमदानियों की उपमा कल्पवृक्ष से दी जाती है पर नेमिनाथ तो किसी बिन्दु पर कल्पवृक्ष से भी महान् हैं, इसी को प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है—

श्री नेमिनाथ प्रतिदिन प्रातः एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ याचकों को देते हुए कल्पवृक्ष की तरह प्रतीत हो रहे थे पर आश्चर्य तो यह है कि दान देते समय श्री नेमि का हाथ हिलता भी नहीं था जबकि फल देते समय कल्पवृक्ष की शाखायें हिलती हैं । पुष्प की तरह हर्षित देववृन्द श्रीनेमि के चरणों में लीन थे जबकि कल्पवृक्ष के पुष्प तो ऊपर ही लगते हैं । नेमिनाथ की यशोगाथा पूरे विश्व में फैली थी जबकि कल्पवृक्ष की छाया तो परिमित क्षेत्र में ही रहती है । इन्हीं कारणों से श्रीनेमि कल्पवृक्ष से भी महान् प्रतीत हो रहे थे ॥१॥

चिन्तारत्नं दृषदपगतज्ञानलेशः सुरद्रुः
स्वर्धेनुः सा पशुगतिगता पूर्णकुम्भश्च मृत्स्ना ।
चिन्तातीतं जगति वितरन् रुक्मरत्नादि दोषैः
प्रोक्तैरन्यैरपि परिहृतः सैष केनोपमेयः ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तारत्नं ० हे पयोद ! चिन्तारत्नं चिन्तामणि **वृषत्** पाषाणरूपं **सुरद्रुः** कल्पवृक्षः **अपगतज्ञानलेशः** गतज्ञानलवः 'विशेषाववोधो ज्ञानमुच्यते' एकेन्द्रियाणां तदभावात् युक्तमेव इदं विशेषणम् । **सा** सर्वलोकप्रसिद्धा **स्वर्धेनुः** कामधेनुः **पशुगतिगता** पशुत्वं प्राप्ता, **च** पुनः **पूर्णकुम्भः मृत्स्ना** मृत्तिकारूपः । हे जलधर ! **अतः कारणात् स एषः** श्रीनेमिः **केन** सह **उपमेयः** उपमायोग्यः अपितु न केनापि । **किंरूपः एषः—प्रोक्तैः** दृषदादिरूपैः **अन्यैः अपि** कार्पण्याः । **वन्दिकैः दोषैः परिहृतः** । **एष किं कुर्वन्—जगति** विश्वे **चिन्तातीतं** चिन्तितादधिकं **रुक्मरत्नादि** सुवर्णमण्यादि **वितरत् ददत्** ॥२॥

प्रार्थना से भी अधिक स्वर्ण-रत्नों का दान करने वाले तथा चिन्तामणि आदि के दोषों से रहित हे मेघ ! श्रीनेमि प्रभु की किससे उपमा दी जाय ? उनकी उपमा देने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है क्योंकि यदि चिन्तामणि से उपमा दी जाती है तो वह पत्थर ही है, कल्पवृक्ष से उपमा दी जाती है तो वह ज्ञानहीन ही है, कामधेनु से उपमा दी जाय तो वह पशुकोटि की है, पूर्णकुम्भ मिट्टी का ही है ॥२॥

सम्पूर्णायां शरदि शरदः प्राक्तनतौ कदाचित्
नेमिः क्षेमङ्करचरितधीर्याप्ययानाधिरूढः ।
शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः
शुद्धध्यानद्वयनत इव च्छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः ॥३॥
देवव्यूहैः समनुचरितः सर्वतो मागधद्भि-
र्ज्ञातियेषु प्रसृतमतिभिः साश्रुभिर्दृश्यमूर्त्तिः ।
दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो
गच्छन् दृष्टो रविरिव वनान्नीरजिन्या गवाक्षात् ॥४॥

सम्पूर्णायां ० देवव्यूहैः ० हे पयोद ! **कदाचित्** कस्मिंश्चित् प्रस्तावे **नेमिः** श्रीनेमिनाथः **मया गवाक्षात् गवाक्षम् आरुह्य काननं गच्छन् दृष्टः** । क्व सति— **दिव्यातोद्ये** दिव्यवादित्रे **निनदति** सति निनादं कुर्वति सति । पुनः कस्यां सत्याम्— **शरदः** शरत्कालात् **प्राक्तनतौ** वर्षाकाले **शरदि** वर्षे **सम्पूर्णायां** सत्यां सम्पूर्णे सति । किंरूपो नेमिः—**क्षेमङ्करचरितधीः** क्षेमङ्करे क्षेमकारिणि चरिते चारित्रे धीः बुद्धिः यस्य सः तथा **याप्ययानाधिरूढः** याप्ययानं शिविकादि आसनविशेषः, तस्मिन् आरूढः तथा **शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः** शुक्रः प्रथमः इन्द्रः ईशानाधिपो द्वितीयः इन्द्रः ताभ्यां धृते ये चलच्चामर ताभ्यां उपास्यमानः वामदक्षिणपार्श्वयोः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीज्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—**शुद्धध्यानद्वयनत इव** शुद्धध्यानद्वयेन धर्मध्यानशुक्लध्यानेन नत इव नमस्कृत इव तथा **छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्तिः** छत्रस्य पुण्डरीकस्य लक्ष्यात् मिषात् ईक्ष्या दृश्या कीर्तिः यस्य सः । पुनः किंरूपो नेमिः—**सर्वतः** समन्ततः **देवव्यूहैः** देवसमूहैः **समनुचरितः** अनुगतः । किंरूपैः देवव्यूहैः—**मागधविभ्रः** मागधा इव भट्टा इव आचरन्तो ये तैः तथा **ज्ञातेयेषु** गोत्रिजनेषु मध्ये **प्रसृतमतिभिः** प्रसरणशील-बुद्धिभिः **लोकैः साश्रुभिः दृश्यमूर्त्तिः** दृश्या अवलोकनीया मूर्त्तिः यस्य सः तथा भूषिताङ्गः । क इव—**नीरजिन्या इव**, यथा नीरजिन्या कमलिन्या **वनात् वनम्** आरुह्य **रविः** सूर्यः गच्छन् सन् दृश्यते ॥३–४॥ **युग्मम्** ॥

हे मेघ! एक बार वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर पालकी पर आरूढ़, कल्याण चरित्र में बुद्धि रखने वाले, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की भाँति झुके हुए, चामर डुलाने वाले इन्द्रद्वय से सेवित, छत्र को व्याज से दर्शनीय कीर्ति वाले, दिव्य दुन्दुभियों (नगाड़ों) की आवाज से युक्त, भाटों की तरह स्तुति करने वाले देवसमूह से घिरे हुए एवं वृद्ध कुटुम्बिजनों द्वारा अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखे जानेवाले, सर्वाङ्ग सुन्दर श्री नेमि को गवाक्ष (खिड़की) से मैंने उसी प्रकार देखा जैसे अस्ताचल को जाते हुए सूर्य को कमलिनी निहारती (देखती) है ॥३४॥

सद्योमाद्यद्विषमविरहाबाधविस्मारिणी मां
मूर्छाऽतुच्छाऽसजदसुपरिभ्रंशभीता सखीव ।
यावत्तावत् परपरिचितेर्मत्सरेणेव सख्यः
कृत्वा किञ्चिच्छलमलमपासारयंस्तां वराकीम् ॥५॥

सद्योमाद्य ० हे जलधर! **यावत् अतुच्छा** गुरुतर **मूर्च्छा सद्यः** तत्कालं **मां राजीमतीम् असजत्** आलिङ्गतिस्म । किंरूपा मूर्च्छा—**माद्यद्विषमविरहाबाधविस्मारिणी** माद्यन् मदोन्मत्ती भवन् विषमो दुःसहो यो विरहो वियोगः तेन यः आबाधः पीडनं तस्य विस्मारिणी विस्मृतिकारिणी । क इव—**सखीव**, यथा सखी **असुपरिभ्रंशभीता** सती असूनां प्राणानां परिभ्रंशो विनाशः तस्मिन् भीता त्रस्ता एवंविधा सती सखीम् आलिङ्गति स्म । हे पयोद! **तावत् सख्यः अलम्** अत्यर्थं **किञ्चिच्छलं** शीतोपचारलक्षणं **कृत्वा तां वराकीं** मूर्च्छाम् **अपासारयत्** दूरं निःकासयामासुः पृथक्चक्रुः इत्यर्थः । केन कारणेन—उत्प्रेक्ष्यते—**परपरिचितेः** अन्यपरिचयस्य **मत्सरेण इव**। अन्या अपि किल सख्यः स्वसख्या अपरसखीपरिचितिं न सहन्ते इति ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे मेघ ! अत्यन्त प्रबल एवं भयङ्कर विरहपीड़ा को भुलाने वाली अतिदीर्घ मूर्च्छा,ने मेरे प्राण न निकल जायें इस आशंका से भीत सखी की तरह ज्योंही मुझे आलिङ्गन करना चाहा त्योंही मेरी सखियों ने जल सेचनादि द्वारा उस बेचारी को इस भय से भगा दिया कि हमारी प्रिय सखी की कोई और सखी न हो जाए अर्थात् राजीमती ज्योंही मूर्च्छित हुई सखियों ने जल सेचनादि से मूर्च्छा को दूर कर दिया ॥५॥

त्यक्तैवातः परमचिकिलक्लिन्नवासोवदेषा
हा किं भावि ? स्फुटसि हृदय । द्वैधमापद्य किं न ।
ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्यो-
द्यातास्राम्बुर्व्यजनिषि ततोऽस्तोकशोकोदकुम्भः ॥६॥

त्यक्तैवातः ० हे जलधर ! ततः मूर्च्छागमनानन्तरम् अहं **अस्तोकशोकोदकुम्भः** अस्तोकः प्रचुरो शोकः स एव उदकं जलं तस्य कुम्भो घटः **व्यजनिषि** जाता । किं रूपो अस्तोकशोकोदकुम्भः--**ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्योद्याता-स्राम्बुः** ईदृक् चिन्तया आकुलतमम् अत्यर्थम् आकुलं यत् मनः तस्य यः तापः तेन बाष्पायितं उद्वान्तं बाष्पं यद् आस्यं मुखं तस्मात् उद्यातं निर्गतं अस्राम्बु पानीयं यस्मिन सः । ईदृक् चिन्ता का ? इत्याह--एषा अहम् अतः परम् अद्य पश्चात् **मचिकिलक्लिन्नवासावत्** कर्दमलिप्तवस्त्रवत् **त्यक्ता एव** मुक्ता एव । **हा इति** खेदे **किं भावि** किं भविष्यति । हे **हृदय** ! त्वं **द्वैधम्** आपद्य द्विधाभावं प्राप्य **किं न स्फुटसि** ॥६॥

कीचड़ लगे हुए वस्त्र की तरह मैं श्री नेमि के द्वारा त्याग दी गई हूँ अतः हे हृदय तुम दो टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हो ? पता नहीं अब क्या होगा ? इस चिन्ता से सन्तप्त मन के ताप से मेरा मुँह गरम-गरम श्वासों तथा आंसुओं की धाराओं से भर गया और तब मैं अपार शोक-जल से पूर्ण कुम्भ की तरह हो गई ॥६॥

प्राग्निर्दग्धं दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्म-
प्रख्यासौख्यैर्जगदिनजगज्जीवनापानपीनम् ।
सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानं
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयते स्म ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राग्निर्दग्धं ० हे जलधर ! **इदकं** अनुकम्पनीयम् इदं हृदयम् अर्थात् मम सम्बन्धि **स्फोटं स्फोटं** स्फुटित्वा स्फुटित्वा **चूर्णखण्डीयते स्म** चूर्णखण्डिः इव आचरति स्म । किंभूतं हृदयम्—**दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्मप्रख्यासौख्यैः** दिने दिने नवन्ति नूतनी भवन्ति तीव्राणि दुःसहानि वर्षेजानि वर्षोत्पन्नानि शुष्मप्रख्यानि अग्निसदृशानि यानि असौख्यानि दुःखानि तैः **प्राक्** पूर्वं **निर्दग्धं** ज्वलितम्, तथा **जगदिनजगज्जीवनापानपीनम्** जगदिनस्य जगत्स्वामिनः श्रीनेमेः यज्जगतो विश्वस्य जीवनरूपम् आपानम् अत्यन्तावलोकनं तेन पीनम् उपचितम्, तथा **सम्प्रति** अधुना **उष्णोच्छ्वसितवशतः** उष्णनिःश्वसितवशात् **बाष्पधूमायमानं** बाष्परूपधूमम् उद्गमत् । अन्यापि किल चूर्णखण्डीपूर्वं दह्यते तदनु जलसेकात् पानीक्रियात् तदनु च धूमं वमति इति युक्तम् एव तत् वत् आचरितम् इति ॥७॥

हे मेघ ! विवाहस्थल से लौटने के बाद दिन-प्रतिदिन नवीन होने वाले, वर्षों पूर्व उत्पन्न अग्नि की तरह तीव्र दुखों से दुखित तथा (दीक्षा ग्रहण करके जाते समय) श्री नेमि के दर्शनपान से पुष्ट और अब पुनः उष्ण उच्छवासों के व्याज से धूमायमान मेरा यह हृदय चूने की तरह फूट-फूटकर अलग हो रहा था ॥७॥

अत्र त्यक्त्वाऽखिलमपि यता स्वामिना काननाय
व्युच्छिन्नाशा मुकुलितमुखी दीर्घदाहैकसद्म ।
रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसायं-
वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बहुमन्येऽद्य मत्तः ॥८॥

अत्र त्यक्त्वा ० हे पयोद ! अहं **अद्य मत्तः** मत्तकाशात् **दिनकुमुदिनीः बहु** प्रचुरं यथा स्यात् तथा **अमन्ये** मन्ये स्म । किंरूपा अहम्—**स्वामिना** श्रीनेमिना **व्युच्छिन्नाशा** छेदिता आशा स्वीकारलक्षणवाञ्छा यस्याः सा । किंभूतेन स्वामिना—**अत्र** जगति **अखिलमपि** राज्यादिकं **त्यक्त्वा काननाय** काननं प्रति **यता** गच्छता । पुनः किंरूपा अहम्—**मुकुलितमुखी** मुकुलितं मुकुलीभूतं मुखं यस्याः सा, तथा **दीर्घदाहैकसद्म** दीर्घदाहस्य एकम् अद्वितीयं सद्म गृहं दीर्घदाहैकसद्म । किंरूपाः दिन-कुमुदिनीः—**रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनात् अस्तिसायंवीकाशाशा** रक्तः आरक्तः उदेष्यत् उदयं प्राप्तुकामः यो निजपतिः चन्द्रः तस्य करासञ्जनात् कराश्लेषात् अस्तिविद्यमाना सायं सन्ध्यासमये वीकाशस्य प्रकाशस्य आशां वाञ्छायासां ताः ॥ ८ ॥

हे मेघ ! सर्वस्व को छोड़कर वन जाने वाले स्वामी नेमि से भग्न आशा के कारण सङ्कुचित मुखवाली तथा दीर्घदाह से अत्यन्त तप्त मैं राजीमती उदय होने वाले रक्तवर्ण चन्द्रमारूपी अपने पति के करों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(किरणों) के आलिङ्गन से जिसे सन्ध्याकाल में अपने विकास की आशा है ऐसी कुमुदिनी को अपने से अधिक दुखी नहीं मानती अर्थात् कुमुदिनी को तो सायंकाल चन्द्रमा की किरणों का आलिङ्गन प्राप्त होगा ही पर मैं तो प्रभु के भुजापाश में कभी भी नहीं आ सकूँगी ॥८॥

कोकी शोकाद्वसतिविगमे वासन्ते चकोरी
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकण्ठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां ह्रद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ! ॥९॥

कोकी शोका० हे पयोद ! **कोकी** चक्रवाकी **वसतिविगमे** रात्रिविनाशे **शोकात् मुच्यते** 'मुच्यते इत्यत्र कर्मकर्तृत्ववादात्मनेपदं ज्ञेयम्' चकोरी वासरान्ते शोकात् मुच्यते। हे पयोद ! **नीलकण्ठी** मयूरी **शीतोष्णर्तुप्रशमसमये** शीतकालोष्णकाल-विरमसमये शोकात् मुच्यते । **भोः** इत्यामन्त्रणे । हे पयोद ! तु पुनः अहम् **आभवं** भवं यावत् **शुचां** शोकानाम् **अमत्रं** भाजनम् **आभवं** सामस्त्येन अभवम् । क इव— **ह्रद इव**, यथा ह्रदः **वारां** पानीयानाम् **अमत्रं** भाजनं भवति । किं भूताऽहम्— **पत्या** श्रीनेमिना **तरुणिमभरे** यौवनभरे **व्यक्ता** मुक्ता । केन इव—**चक्रिणा इव**, यथा चक्रिणा सर्पेण कञ्चुको त्यज्यते ॥९॥

हे मेघ ! रात के बीतने पर चक्रवाकी, दिन के अन्त में चकोरी तथा शीत एवं ग्रीष्मऋतु के समाप्त होनेपर वर्षाकाल में मयूरी शोक से मुक्त होती है परन्तु मेरे स्वामी श्रीनेमि ने मुझे पूर्ण यौवन में उसी प्रकार त्याग दिया जैसे साँप केंचुल को छोड़ देता है। अब मैं जन्म भर के लिए उसी प्रकार शोक का पात्र हो गई हूँ जिस प्रकार तालाब हमेशा के लिए जल का पात्र हो जाता है ॥९॥

शम्बाकृत्योपयमनियमोद्दुःखहल्याभिरुप्ते
भर्तुर्दीक्षाग्रहनिशमनेनाद्य बीजाकृतेऽथ ।
सिक्तो नेत्राम्बुभिरविरलैः शोकशालिर्विशाले
शालेयेऽस्मिन्नुरसि सरसे पश्य पम्फुल्यतेऽसौ ॥१०॥

शम्बाकृत्यो० हे पयोद ! **पश्य** अवलोकय **अस्मिन् सरसे** रससहिते **उरसि शालेये** भिन्नरूपकत्वात् हृदयशालिक्षेत्रे **असौ शोकशालिः पम्फुल्यते** अत्यर्थं फलति । किंलक्षणः शोकशालिः—**उपयमनियमोद्दुःखहल्याभिः** उपयमस्य विवाहस्य निय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेन निषेधेन उत्प्रबलानि यानि दुःखानि तानि एव हल्या महाहलानि तैः । शम्बाकृत्य द्विखेटयित्वा उप्तः वापितः । किंरूपे उरसि—शालेये अथ वपनानन्तरं भर्तुः श्रीनेमे दीक्षाग्रहनिशमनेन दीक्षाग्रहणश्रवणेन अद्य बीजाकृते उप्तः कृष्टः हलिते इत्यर्थः, तथा विशाले विस्तीर्णे । पुनः किंरूपः शोकशालिः—अविरलैः निरन्तरैः नेत्राम्बुभिः सिक्तः ॥१०॥

हे मेघ ! देखो विवाह के निषेध से उत्पन्न दुःखरूपी हलों से दो बार जोते गये तथा आज पति श्रीनेमि के दीक्षाग्रहण समाचार श्रवणरूपी बीजों के साथ पुनः एक बार जोते गये मेरे इस हृदयरूपी विशाल क्षेत्र में अविरल आसुओं से सिञ्चित शोकरूपी धान्य कैसा फल रहा है ? अर्थात् मेरे हृदय में शोक बढ़ता हो जा रहा है ॥१०॥

दुःखस्यैवं जलधर ! परां कोटिमाटीकितां मां
चक्रस्येवोद्धुरविरहतस्तस्य भार्यां विदित्वा ।
चेत्त्वं सम्यग् जगति सविता तद्भजोच्चैर्गवौघं
तन्वानो मन्मुद उदयदं तं क्षमाधीशवित्तम् ॥११॥

दुःखस्यैवं ० हे जलधर ! चेत् यदि त्वं जगति विश्वे सम्यक् सम्यक्प्रकारेण सविता सूर्यः अथवा सवितापिता वर्तसे । तत् तस्य श्रीनेमेः चक्रस्य इव उद्धुरविरहतः उत्कटवियोगात् एवंविधां मां भार्यां विदित्वा ज्ञात्वा तं क्षमाधीशवित्तं क्षमाधीशानां योगिनां मध्ये वित्तो विख्यातः क्षमाधीशवित्तस्तं क्षमाधीशवित्तं श्रीनेमिनं भज आश्रय, तस्य समीपे गच्छ इत्यर्थः । ननु अन्योऽपि सविता सूर्यः । चक्रस्य चक्रवाकस्य भार्यां उद्धुरविरहतः एवंविधां विदित्वा तं सर्वलोकप्रसिद्धं क्षमाधीशवित्तं उदयाचलं भजति । किंरूपां माम्—चक्रवाकीं च, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण दुःखस्य परां उत्कृष्टां कोटिं उत्कृष्टत्वम् आटीकितां प्राप्ताम् । त्वं किं कुर्वाणः—उच्चैः अतिशयेन गवौघं वाणीसमूहं जलसमूहं वा तन्वानः विस्तारयत् । रविपक्षे—किरणसमूहः तन्वानः । किंभूतं क्षमाधीशवित्तं—मन्मुदः मम हर्षस्य उदयदम् उदयदायकम् ॥११॥

हे जलधर ! सचमुच में यदि तुम संसार के जीवनदाता हो (क्योंकि मेघ पानी बरसाता है और पानी के बिना सब सूना है) तो चक्रवाकी की तरह, पति के असह्य वियोग के कारण दुःख की पराकाष्ठा को प्राप्त मुझे उनकी (नेमि की) भार्या समझकर मेरी प्रसन्नता के हेतु तपस्वियों में (ख्यात) श्रेष्ठ उन नेमि तक जलधारा को बढ़ाते हुए पहुँचो ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्रान्तेऽस्मिंस्तव गिरिवरे निःशलाकप्रदेशे
ध्यानासीनं यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिम् ।
तादूप्याप्तेरचलमचलस्येव सङ्गेन नाथं
वीक्ष्य स्थेयास्त्वमपि निभृतं तद्वदेवासमाधि ॥१२॥

विश्रान्ते ० हे जलधर ! **त्वमपि अस्मिन् गिरिवरे** उज्ज्यन्तः नाम्नि पर्वते **नाथं** श्रीनेमिनाथं **वीक्ष्य आसमाधि** समाधिप्राप्ति यावत् **तद्वदेव निभृतं** निश्चलं **यथा स्यात्** तथा **स्थेयाः** स्थितिं कुर्याः । किंरूपे अस्मिन् गिरिवरे—**तव विश्रान्ते** तव विश्रामस्थानके मेघाः किल पर्वतोपरि विश्राम्यन्ति । किंविशिष्टं नाथम्—**निःशलाकप्रदेशे** निर्व्यंजनस्थाने **ध्यानासीनं** ध्यानोपविष्टम् । पुनः कीदृशम्—**यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिं** यमनियमेषु धीः बुद्धिः यस्य सः धीरा निश्चला घोणाग्रे नासिकाग्रे दृष्टिः यस्य सः यमनियमधीः च धीरघोणाग्रदृष्टिः च **यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिः** तं विशेषणदृष्टिः तम्, तथा **अचलं** निश्चलम् । कुतः उत्प्रेक्ष्यते—**अचलस्य** पर्वतस्य **सङ्गेन तादूप्याप्तेः इव** पर्वतरूपता प्राप्तेः इव अचलम् ॥१२॥

हे मेघ ! तुम्हारे विश्रामस्थल उस निर्जन प्रदेशवाले पर्वत पर ध्यान-मग्न यम-नियम की बुद्धि से निश्चल, नासिकाग्र दृष्टिवाले और जो मानो अचल (पर्वत) के सङ्ग के कारण स्वयं भी अचल रूप से हो रहे हैं, ऐसे मेरे नाथ को देखकर तुम भी उन्हीं की तरह उनके समाधिकाल तक निश्चल हो जाना ॥१२॥

आपीयासौ शमसुखरसं संविदानन्दपूर्णो
यावद्धीमन् ! भवति भगवान् किञ्चिदुन्मीलिताक्षः ।
तावत्तस्य क्रमकमलयोः प्राप्य रोलम्बलीलां
शक्लोऽक्लान्तः सुमृदुवचसा वाचयेर्वाचिकानि ॥१३॥

आपीयासौ ० हे **धीमन्** ! हे पयोद ! **असौ भगवान्** श्रीनेमिः **शमसुखरसम्** उपशमसौख्यरसम् **आपीय** सामस्त्येन पीत्वा **संविदानन्दपूर्णः** चिदानन्दपूरितः सन् **यावत्** किञ्चित् **उन्मीलिताक्षः** उद्घाटितनेत्रो **भवति** । हे मेघ ! **तावत् तस्य** भगवतः **क्रमकमलयोः** चरणयोः **रोलम्बलीलां प्राप्य** भ्रमरलीलाम् आसाद्य **सुमृदुवचसा** अत्यर्थं कोमलवचनेन त्वं **वाचिकानि** सन्देशकान् **वाचयेः** कथयेः । किंभूतः-त्वम्—**शक्लः** प्रियम्वदः प्रियवादी इत्यर्थः, तथा **अक्लान्तः** अश्रान्तः ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे धीमन् ! जब श्रीनेमि भगवान् शमजन्य सुख रसके पान से पूर्ण होकर कुछ-कुछ आँखें खोलें, तभी तुम उनके चरणकमलों में भ्रमरलीला करते हुए शान्त एवं सौम्य होकर मधुर वचनों से सन्देश कहना ॥१३॥

या स्वीकृत्य प्रथममनघा सर्वसीमन्तिनीनां
धुन्योघानामिव सुरधुनीशेन कोटीरिताऽभूत् ।
खेदक्षाराम्बुनिधिसमिता दूरिताद्य त्वया सा
विज्ञप्तिं ते कलुषिततरा नेतरेवं विधत्ते ॥१४॥

य स्वीकृत्य ० हे श्रीनेमे ! **या** राजीमती **प्रथमं त्वया स्वीकृत्य सर्वसीमन्तिनीनां** सर्वस्त्रीणां मध्ये **कोटीरिताऽभूत्** मुकुटवदाचरिता बभूव । किंरूपा या—**अनघा** निर्दूषणा । क इव—**सुरधुनी इव**, यथा **सुरधुनी** गङ्गा **ईशेन** ईश्वरेण स्वीकृत्य **धुन्योघानां** नदीसमूहानां मध्ये कोटीरिता भवति । हे **नेतः** ! हे नेमे ! **सा** राजीमती **त्वया** भवता **दूरिता** सति दूरीकृता सति **अद्य ते** तव **विज्ञप्तिं विधत्ते** करोति । किंभूता सा—**खेदक्षाराम्बुनिधिसमिता** खेद एव क्षाराम्बुनिधिः क्षारसमुद्रः तेन सह समिता मिलिता, तथा **कलुषिततरा** अत्यर्थं कलुषी भूता । सुरधुनी अपि ईश्वरेण दूरिता सती क्षाराम्बुनिधिसमिता कलुषिततरा च भवति ॥१४॥

जो निष्पापा मैं स्वामी द्वारा पहले स्वीकार करने पर उसी प्रकार स्त्रियों की शीर्ष बना दी गई थी जैसे शंकर द्वारा स्वीकृत गङ्गा नदियों में श्रेष्ठ मानी जाती है। हे नेमि ! आज वही मैं राजीमती आप द्वारा दूर हटाई जाने पर शोकरूपी क्षारसमुद्र से मिलकर दुःखी हृदय-वाली होकर आपसे इस प्रकार निवेदन कर रही हूँ ॥१४॥

यां क्षैरेयीमिव नवरसां नाथ वीवाहकाले
सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनाऽपि ।
सा किं कामानलतपनतोऽतीव बाष्पायमाणा-
ऽनन्योच्छिष्टा नवरुचिभृताऽप्यद्य न स्वीक्रियते ॥१५॥

यां क्षैरेयीमिव ० हे **नाथ** ! त्वं **वीवाहकाले यां** राजीमतीं एवंविधीभूतां **पाणिनाऽपि न अग्रहीः** न गृहीतवान् । किंभूतां याम्—**नवरसां** नवो नूतनो रसशृङ्गारो यस्याः सा ताम्, तथा **सारस्नेहामपि** सारः उत्कृष्टः स्नेहो यस्याः **सा** ताम्, तथा **सुशिशिराम्** अत्यर्थं शीतलाम् । कामिव—**क्षैरेयीमिव**, यथा कश्चित् पुमान् एवंविधां क्षैरेयीं परमान्नं पाणिना न गृह्णाति । किंरूपा—**नवरसां** नूतनस्वादाम्, तथा **सारस्नेहां** सारः उत्कृष्टः स्नेहो घृतं यस्यां सा ताम्, तथा **सुशिशिराम्** अतिशीतलां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणिनाऽपि नाग्रहीः इत्यत्र अपि शब्दस्य अयं भावः, यथा किल क्षैरेयी नवरसाऽपि सारस्नेहाऽपि अतिशीतलासती केनापि पाणिना गृह्यते शीतलत्व दोषेन तथा अहम् अपि तथा सती न गृहीतावद् युक्तम् इति । हे नेमे ! **सा राजीमती अद्य त्वया नवरुचिभृताऽपि** नवां नूतनां रुचिं कान्तिम् अभिलाषं वा बिभर्ति इति नवरुचिभृत् तेन नवरुचिभृताऽपि **किं न स्वीक्रियेत** किं न अङ्गीक्रियेत । किंभूता सा—**कामानलतपनतः अतीव बाष्पायमाणा** बाष्पम् उद्वमन्ती, तथा **अनन्योच्छिष्टा** न अन्यैः उच्छिष्टा भुक्ता अनन्योच्छिष्टा, अन्येनापि नवरुचिना नवीनाभिलाषभृता अनलतपनतः अतीव बाष्पायमाणा अनन्योच्छिष्टा क्षैरेयी किं न स्वीक्रियते अपितु स्वीक्रियत एव ॥१५॥

नाथ ! विवाह के समय में नवीन तथा स्थिर प्रेमवाली जिस मुझको आपने मधुर तथा घृतयक्त किन्तु शीतल खीर की तरह हाथ से भी नहीं छुआ था, कामाग्नि से अत्यन्त उष्ण हो एवं वाष्पपूरित एवं अनन्य मुक्ता उसी मुझको नवीन कान्तिवाले आप आज क्यों नहीं स्वीकार करते ? ॥१५॥

आसीः पश्चादपि यदि विभो ! मां मुमुक्षुर्मुमुक्षुः
भूत्वा तत्किं प्रथममुररीचर्करीषि स्वबुद्धया ।
सन्तः सर्वेऽप्यतरलतया तत्तदेवाद्रियन्ते
यन्निर्वोढुं हरशशिकलान्यायतः शक्नुवन्ति ॥१६॥

आसीः ० हे **विभो** ! हे नेमे ! **यदि** त्वं **मुमुक्षुः भूत्वा** यतिः भूत्वा **मां पश्चादपि मुमुक्षुः** मोक्तुकामः **आसीः** अभूः, तर्हि **स्वबुद्धया** स्वबन्धु बुद्धया बन्धूनां स्वजनानां बुद्धया कृत्वा **प्रथमं किं उररीचकंरीषि** उररीचक्रिवान् अङ्गीकृतवान् । हे नेमे ! **सन्तः** उत्तमाः **सर्वेऽपि तत्तदेवाद्रियन्ते यत् हरशशिकलान्यायतः निर्वोढुं शक्नुवन्ति** ॥ १६ ॥

हे विभो ! यदि आप बाद में मुनि बनकर मुझे त्यागना चाहते थे तो पहले ही स्वजनों की बुद्धि से मुझको स्वीकार ही क्यों किया था ? सभी सज्जन पुरुष निश्चल बुद्धि वाले होने के कारण 'हर शशिकला न्याय से' उन्हीं-उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करते हैं जिनका निर्वाह वे कर सकते हैं ॥१६॥

सत्रादत्राहृतमसुमतां वृन्दमानन्दसद्म
ज्ञानाभावादपगुणमपि क्लेशनाशादकार्षीः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तं भक्तं जनमिममथो मोदयस्यर्त्तिभाजं
नो वाचाऽपि प्रसृमरकृप ! च्छेक ! कोऽयं विवेकः ॥१७॥

सत्रादत्रा ० हे श्रीनेमे ! त्वम् **असुमतां** प्राणिनां **वृन्दं** समूहं **क्लेशनाशात् आनन्दसद्म** हर्षगृहम् **अकार्षीः** । किंभूतम् असुमतां वृन्दम् – **सत्रात्** वनात् **अत्र** आत्मगृहे **आहृतम्** आनीतम्, तथा **ज्ञानाभावात्** विशेषावबोधज्ञानाभावात् **अपगुणमपि** निर्गुणमपि । **अथ** पुनः **इमं** मल्लक्षणं व्यक्तं स्पष्टं **भक्तं** भक्तिमन्तं **जनम् अर्त्तिभाजं** पीडाभाजं सन्तं **वाचाऽपि** वचनेनापि **नो मोदयसि** न हर्षयसि । हे **प्रसृमरकृप** ! हे प्रसरणशीलदय ! हे **च्छेक** ! हे दक्ष ! **अयं को विवेकः** ? किं विचारणम् ? ॥१७॥

हे नाथ ! वन से वध के लिए लाये गये तथा ज्ञानाभाव के कारण गुणरहित पशुओं के भी दुःखों का नाश कर आपने उन्हें आनन्दपूर्ण बना दिया तो स्पष्ट ही अपने भक्त किन्तु पीड़ा-पात्र इस जन को वचनों से ही क्यों नहीं आनन्दित करते हो ? हे दक्ष ! हे दयासिन्धु ! यह कैसा विवेक है ? ॥१७॥

प्रागुद्वाहं स्वजनजनितेनाग्रहेणानुमेने
संचेरेऽन्तर्गुरुपरिजनं पीलुना चोपयन्तुम् ।
द्वारात्प्रत्यावृतवथ भवान् कूकदस्यापि शावो
गर्ध्येतैवं गुणगणनिधे ! नो चतुर्हायणोऽपि ॥१८॥

प्रागुद्वाहं ० हे श्रीनेमे ! **प्राक्** पूर्वं **स्वजनजनितेन** लोककृतेन **आग्रहेण उद्वाहं** विवाहं **भवान् अनुमेने** अङ्गीकरोति स्म । हे नेमे ! **च** पुनः **भवान् अन्तर्गुरुपरिजनं** पूज्यपरिवारजनमध्ये **पीलुना** गजेन **उपयन्तुं** परिणेतुं **सञ्चेरे** सञ्चलितवान् । **अथ** पुनः **भवान् कूकदस्यापि द्वारात् प्रत्यावृतत्** पश्चाद्वलितः । "सकृतालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकदः" इत्युच्यते । हे **गुणगणनिधे** ! **चतुर्हायणोऽपि** चतुर्वार्षिकोऽपि **शावः** बालकः पूर्वोक्तप्रकारेण **नो गर्ध्येत** न विप्रतार्येत ॥१८॥

हे नाथ ! अपने पहले स्वजनों के आग्रह से विवाह को स्वीकार किया और गुरुजनों तथा परिजनों सहित विवाह करने के लिए हाथी से गये भी, फिर श्वसुर के द्वार से लौट आये । हे गुणनिधान ! चार वर्ष के बालक को भी इस तरह वञ्चित नहीं किया जाता जैसे आपने मुझे वञ्चित किया है ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पित्र्यः सोऽयं तव मुररिपुः सुन्दरीणां सहस्रैः
लीलागारेऽनुपरतरतः सन्ततं रंरमीति ।
ऊरीकर्तुं क्षणमुदसहस्त्वं तु नैकामपीदृक्-
सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥१९॥

पित्र्यः सोऽयं ० हे नेमे ! सः अयं तव पित्र्यः पितृव्यसुतः मुररिपुः कृष्णः लीलागारे शयनीयगृहे सुन्दरीणां सहस्रैः सह सन्ततं निरन्तरं रंरमीति अत्यर्थं रमते । किंरूपो मुरारिपुः–अनुपरतरतः अनुपरतम् अनुपशान्तं रतं कामक्रीडनं यस्य सः, तु पुनः हे श्रीनेमे ! त्वम् एकामपि सुन्दरी ऊरीकर्तुं अङ्गीकर्तुं क्षणं क्षणमात्रं न उदसहः न समर्थो भूः । क्वसति–ईदृक् शङ्खवादनहरिभुजामोटनलक्षणे सामर्थ्येऽपि सति बले सति, अथवा प्रकृतिमहतां स्वभावगुरूणां पुरुषाणां वृत्तं व्यापारं को वेत्ति ? अपितु न कोऽपि वेत्ति ॥ १९ ॥

आपके ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण एक हजार सुन्दरियों के साथ क्रीड़ागार में अविश्रान्त रूप से विहार करते हैं और आप इतना समर्थ होते हुए भी एक सुन्दरी को भी स्वीकार करने का उत्साह नहीं करते । ठीक ही कहा गया है कि स्वभाव से चतुर लोगों के चरित्र को कौन जानता है ? ॥१९॥

श्रीमानर्हन्नितरजनवन्मन्मथस्य व्यथाभिः
किं बाध्येतेत्यखिलजनतां मा रिरेकाम कामम् ।
ध्यात्वैवं चेत्तपसि रमसे तत्प्रतिज्ञातलोपे
कस्तामत्र त्रिभुवनगुरो ! रेकमाणां निषेद्धा ॥२०॥

श्रीमानर्हं ० हे श्रीनेमे ! चेत् यदि त्वम् एवं ध्यात्वा तपसि रमसे, तपः करोसि इत्यर्थः । एवं किम् इति–वयं कामम् अतिशयेन अखिलजनतां जनसमूहं इति मा रिरेकाम इति शङ्कां न कारयामः । इतीति किम्–श्रीमान् अर्हन् इतरजनवत् सामान्यलोकवत् मन्मथस्य व्यथाभिः कन्दर्पस्य पीडाभिः किं बाध्येत । तत् तर्हि हे त्रिभुवनगुरो ! प्रतिज्ञातलोपेसति प्रतिज्ञातस्य सम्मतं वो विधास्ये इत्यादि पूर्वम् अङ्गीकृतस्य लोपे सति विनाशे सति अत्र त्वयिविषये तां जनतां रेकमाणां शङ्कां कुर्वाणां को निषेद्धा ? को निषेत्स्यति ? ॥ २० ॥

लोग यह शंका न करें कि श्रीमान् अर्हत् भी अन्य लोगों की तरह कामव्यथा से पीड़ित होते हैं' यदि इस आशङ्का से आपने तपस्या में मन लगाया है तो भी हे त्रिभुवन गुरु ! पहले की हुई प्रतिज्ञा (मैं शादी करूँगा) का भङ्ग होने पर भी शङ्का करने वाली जनता को कौन रोक सकेगा? ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारुण्येऽपि प्रभवति यदि ध्वस्तवैराग्यरङ्गे
नीरागोऽस्मीत्यविकृतधिया जाममोगानहासीः ।
तत्किं पात्रीसमितजनतापङ्क्तभीतेन शङ्ख-
स्वानात् क्षोभः पुरि हरिभुजामोटनं च व्यधायि ? ॥२१॥

तारुण्येऽपि० हे नेमे ! यदि त्वम् इति अविकृतधिया निर्विकार बुद्धया कामभोगान् अहासीः अत्याक्षीः । इतीति किम् —अहं तारुण्येऽपि यौवनेऽपि प्रभवति सति समर्थो भवति सति नीरागोऽस्मि । किंरूपे तारुण्ये—ध्वस्तवैराग्यरङ्गे ध्वस्तो विध्वस्तो वैराग्यस्य रङ्गो येन सः तस्मिन् । हे नेमे ! तत् तर्हि किं कथं त्वया पात्रीसमितजनतापङ्क्तभीतेन भूता शङ्खस्वानात् शंख शब्दात् पुरि द्वारिकायां क्षोभः च पुनः हरिभुजामोटनं कृष्णबाहुवक्रीकरणं व्यधायि अकारि यः अन्यत् सकलमपि कर्मकर्तुं समर्थो भवति । केवलं भोजनवेलायामेव पङ्क्तौ समागत्य तिष्ठति स पात्रेसमितः उच्यते ॥२१॥

यदि आप यह कहते हैं कि वैराग्य शत्रु प्रौढ़ यौवन के होते हुए भी मैं नीराग (रागरहित) हूँ इस बुद्धि से मैंने काम भोगों को छोड़ा है, तो फिर' मैं शक्तिहीन जनता को श्रेणी में न गिन लिया जाऊँ इस भय से, शंख ध्वनि से नगर की जनता में क्षोभ एवं कृष्ण की भुजा को टेढ़ी क्यों किया था ? ॥२१॥

मुग्धं स्निग्धं स्मितमतिजवं रिङ्खणं यत्र यत्र
प्रेक्षाचित्रं भुवि विलुठनं बन्धनं रिक्तमुष्टेः ।
उत्तानत्वे करचरणनं प्रोक्तमव्यक्तवर्णं
यानं पद्भ्यामनृजु शनकैर्यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा ॥२२॥
आहूतस्याभिमुखनुभयापाणि दूरेण यानं
कण्ठाश्लेषः प्रणयिनि हठात् स्थानमङ्के जनन्याः ।
कूचाकर्षः पितुरिति कुतः प्राकृताभानुरूपं
दिव्यज्ञानत्रितयकलितोऽचेष्टथाश्चेदरागः ॥२३॥

मुग्धं० आहूतस्या० हे श्रीनेमे ! चेत् यदि त्वम् अरागः असि नीरागो वर्तते तर्हि दिव्यज्ञानत्रितयकलितः सन् कुतः कारणात् प्राकृताभानुरूपं सामान्यबालकयोग्यं ति अचेष्टथाः इति चेष्टाम् अकाराः । इतीति किम्-मुग्धं भद्रकं स्निग्धं सस्नेहलं स्मितं हास्यम् अतिजवम् अतिवेगं रिङ्खणं यत्र-तत्र वस्तूनि प्रेक्षाचित्रम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलोकनाश्चर्यं भुवि पृथिव्यां **विलुठनं**, तथा **रिक्तमुष्टेः बन्धनम् उत्तानत्वे करचरणनं** हस्तचरणोक्षेपणम् **अव्यक्तवर्णम्** अस्पष्टाक्षरं **प्रोक्तं** जल्पनम्, तथा **पद्भ्यां शनकैः** मन्दमन्दम् **अनृजु वक्रं यानं** गमनम्, **यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा** यत्तद्वस्त्वाकर्षणवाञ्छा, तथा **उभयापाणि** उभाभ्यां पाणिभ्याम् **अभिमुखं** सन्मुखम् **आहूतस्य** आकारितस्य **दूरेण यानं** गमनम्, तथा **हठात् प्रणयिनि** सस्नेहले **कण्ठाश्लेषः** कण्ठालिङ्गनं, तथा **जनन्याः** मातु **अङ्के** उत्सङ्गे **स्थानम्** अवस्थितिम्, तथा **पितुः कूर्चाकर्षः** कूर्चाकर्षणम् ॥२२-२३॥ युग्मम् ॥

हे नाथ यदि आप वस्तुतः अराग हैं तो दिव्य ज्ञानत्रयी से युक्त होते हुए भी सामान्य बालक की तरह 'कभी स्नेहिल हँसना, तेजी से सरकना, सामने पड़ने वाली किसी भी वस्तु को कौतूहल पूर्वक देखना, भूमि पर लोटना, खाली हाथ मुट्ठी बाँधना, उत्तान लेटकर हाथ पैर चलाना, अस्पष्टाक्षर बोलना, पैदल ही वक्रता के साथ चलना, किसी वस्तु को पकड़ने की इच्छा करना, दोनों हाथों से बुलाने वाले व्यक्ति से दूर भागना, प्रेमीजन के गले लगना, हठपूर्वक माँ की गोद में बैठ जाना, पिता की दाढ़ी को पकड़कर खींचना आदि बाललीला आपने क्यों की थी ?।२२-२३।

एतत्सर्वं गुरुजनमनोमोदनार्थं यदि त्वं
तत्त्वं विन्दुः स्वयमकुटिलं स्वीचकर्ष प्रकामम् ।
इत्थङ्कारं कतिचन समा मन्मुदे दारकर्म
स्वीकृत्यैतत् किमुपजरसं नो तपस्तप्यसे स्म ॥२४॥

एतत्सर्वं० हे श्रीनेमे ! **यदि त्वं प्रकामम्** अतिशयेन **गुरुजनमनोमोदनार्थं** पूज्यजनचित्ताह्लादनार्थं **स्वयम्** आत्मनैव **एतत् सर्वं** मुग्धं स्निग्धं स्मितमित्यादि **अकुटिलं** सरलं यथा स्यात् तथा **स्वीचकर्ष** अङ्गीचकर्ष । किंरूपः त्वम्-**तत्त्वं विन्दुः** तत्त्वस्य वेत्ता **तत्** तर्हि **मन्मुदे** मम हर्षाय **इत्थङ्कारम्** इत्थं कृत्वा गुरुजनवत् कृत्वा **कतिचन समाः** कियन्ति वर्षाणि **दारकर्म** विवाहं **स्वीकृत्य** अङ्गीकृत्य **उपजरसं** जरासमीपे **एतत् तपः किं नो तप्यसे स्म** ॥२४॥

यदि ये सब बाल लीलाएँ आपने माता पिता गुरुजनों को प्रसन्न करने के लिए की हैं तो इसी प्रकार मेरी मनस्तुष्टि के लिए मुझे स्वीकार करके वृद्धावस्था में आप तपस्या में लीन क्यों नहीं होते ? ॥२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रैलोक्येशः प्रथितमहिमा चारुचक्षुष्यरूप-
स्तुल्योन्मीलद्गुणविकलया जातु मा मीमिले स्वम् ।
एवं बुद्ध्वा तपसि वदसे यत्कृते मुक्तिकान्तां
तां मन्येथा अपगुणतया दर्शनस्याप्यनर्हाम् ॥२५॥

त्रैलोक्येशः० हे श्रोनेमे ! त्वम् **एवं बुद्ध्वा** एवं ज्ञात्वा **यत्कृते** यस्याः मुक्तेः कृते **तपसि वदसे** उद्यमं करोषि । एवं किमिति— **तुल्योन्मीलिन् गुणविकलया** तुल्याः अर्थात् आत्मनः सदृशा उन्मीलिन्तो विकस्वरनो ये गुणाः तैः विकलया रहितया स्त्रिया सह अहं **जातु** कदाचित् **स्वम्** आत्मानं **मा मीमिले** न मेलयामि एतावता या स्त्री सर्वगुणैः कृत्वा रूपेण मम नेमेः न सदृशी भवति तया सह आत्मानं न मेलयामि इति उक्तम् भवति । किंभूतोऽहम्—**त्रैलोक्येशः** त्रैलोक्यस्वामी, तथा **प्रथितमहिमा** विख्यातप्रभावः, तथा **चारुचक्षुष्यरूपः** चारु मनोहरं चक्षुष्यरूपं सुभगंरूपं यस्य सः । हे श्रोनेमे ! त्वं **तां मुक्तिकान्ताम् अपगुणतया अदार्यादिगुणाभावेन** सत्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयाभावेन वा **दर्शनस्यापि अनर्हाम्** अयोग्यां **मन्येथाः** विचारयेथाः ॥२५॥

हे नाथ ! यदि आप यह सोचकर तप के लिए यत्न कर रहे हैं कि त्रिलोकस्वामी लब्धप्रतिष्ठ सुन्दर दर्शनीय रूप वाला मैं अपने बराबर गुणों से रहित इस (राजोपती) के साथ अपने को नहीं मिलाऊँगा तो जिस मुक्ति के लिए आप यत्न कर रहे हैं आपकी वह मुक्ति—कान्ता तो गुण-रहित होने से दर्शन योग्य भी नहीं है । अर्थात् मुक्ति तो तीनों गुणों से परे और उसका दर्शन तो होता ही नहीं है ॥२५॥

प्रागानन्त्यैर्नृभिररमि या निर्गुणा चाकुलीनाऽ
दृश्याङ्गश्रीरभिजनघनोच्छेदिनी रागरिक्ता ।
सक्तस्तस्यां सकललालना निर्वृतीत्याख्ययैवाऽ-
भीकोत्तंसत्यजसि यदि तत्संसृतौ न स्थितिस्ते ॥२६॥

प्रागानन्त्यं० हे **अभीकोत्तंस** ! हे कामिपुरुषावतंस ! **या** मुक्तिकान्ता **प्राक्** पूर्वं **अनन्त्यैः** अनन्तैः **नृभिः अरमि** भुक्ता । किंभूता या—**निर्गुणा** निन्दार्थे अदार्यादिगुणरहिता, मुख्यार्थे सत्वादिगुणत्रयरहिता, **च** पुनः **अकुलीना** नीचा अथवा न **कौ** पृथिव्यां लीना अकुलीना, तथा **अदृश्याङ्गश्रीः** अदृश्या द्रष्टुम् अयोग्या अङ्गश्रीः अङ्गशोभा यस्याः सा **अदृश्या** परोक्षा **अङ्गश्रीः** यस्याः सा, तथा **अभि-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनघनोच्छेदिनी अभिजनस्य वंशस्य घनम् अत्यर्थम् उच्छेदिनी विनाशकर्त्री कुल-क्षयकारिणी इत्यर्थः अथवा अभि समन्तात् जनानां तत्र गत जीवानां घनस्य देहस्य उच्छेदिनी अशरीरत्वेन तत्र जीवानां स्थितत्वात्, तथा **रागरिक्ता** नीरागा। हे **अभीकोत्तंस** ! स त्वं **यदि** चेत् **तस्यां** मुक्तिकान्तायां निर्वृति **इति आख्यया एव** नाम्नैव **सक्तः** सन् **सकललल्लना** समस्तस्त्रीः **त्यजसि**। **तत् तर्हि ते** तव **संसृतौ** संसारे **स्थितिः न अवस्थानं** न ॥२६॥

जो मुक्ति कान्ता पहले ही अनन्त लोगों द्वारा भोगी (प्राप्त की जा चुकी) जा चुकी है, निगुर्णा है, अकुलीना है, अदर्शनीया है, गोत्र और शरीर का नाश करने वाली है तथा रागरहित है, इस प्रकार की मुक्ति के प्रबल इच्छुक आप केवल निर्वृत्ति—इस नाम से ही उसमें आसक्त होकर यदि सुन्दर ललनाओं को त्याग रहे हैं तो इस संसार में आप के लिए स्थान नहीं है अर्थात् आप संसार में रहने योग्य नहीं हैं ॥२६॥

वैरुद्ध्यं चेन्मनसि मनुषे स्त्रीषु तत् किं न पौंस्ने
त्वं भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः।
सर्वत्रैषा यदि तव पुरोभागितैवाथ युक्ता
शीर्षच्छेद्या अपि तदपि वै सूरतानामवध्याः ॥२७॥

वैरुद्धयं ० हे श्रीनेमे ! **त्वं चेत्** यदि **स्त्रीषु मनसि वैरुद्ध्यं** विरुद्धत्वं **मनुषे** मन्यसे। **तत्** तर्हि **पौंस्ने** पुरुषसमूहे वैरुद्धयं **किं न मनुषे** किं न मन्यसे ! हे नेमे ! **त्वं भद्राम्भोनिधिरपि** माङ्गल्यसमुद्रोऽपि सन् **गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रो** वर्तसे ननु यो भद्राम्भोनिधिः स्यात् सगलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रो कथं स्यात् इति विरोधः। अथ विरोध परिहारे गलन्ती पतन्ती पञ्चभद्रत्वस्य व्यसनित्वस्य मुद्रा यस्य सः। **अथ** पुनः हे नेमे ! **यदि सर्वत्र तव एषा पुरोभागिता एव** दोषैक दृष्टिता एव **युक्ता** स्वदोषान् न पश्यसि किन्तु परदोषान् एव पश्यति इतिभावः। **तदपि वै** निश्चितं सूरतानां दयावतां पुंसां **शीर्षच्छेद्या अपि** शीर्षच्छेत्तुं योग्या अपि **अवध्या** हन्तुं न युक्ता एव ॥२७॥

यदि आप अपने मन में स्त्रियों से द्वेष करते हैं तो पुरुषों से क्यों नहीं द्वेष करते ? आप माङ्गल्य के समुद्र होते हुए भी पञ्च कल्याणों से हीन हो रहे हैं। हे नेमि यदि आप में मात्र दोष-दृष्टि ही है तो भी वध योग्य व्यक्ति भी दयावानों की दृष्टि में अवश्य ही होता है ॥२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामः कामं विषमविशिखैरेष जेघ्नीयते यत्
यद्वा मन्युः परिभवभवो मां सपत्राकरोति ।
निर्वीराऽसौ तदहमबलाऽसासहिः पापतिश्चेत्
निश्चैतन्यान्नवतिपुरुषीं खातिकां स्यात्तदा किम् ? ।२८।

कामः कामं ० हे नेमे ! **यत्** यस्मात् कारणात् **एषः कामः** कन्दर्पः **विषमविशिखैः** कृत्वा दुःसहबाणैः कृत्वा **कामम्** अतिशयेन **मां जेघ्नीयते** पुनः पुनः हन्ति । **यद्वा** अथवा यतो हेतोः **परिभवभवः** पराभवोत्पन्नः **मन्युः** कोपः **मां सपत्राकरोति** अत्यर्थं दुःखिनीं करोति । **तत्** तस्मात् हेतोः **असौ** अहं राजीमती **अबला** असासहिः अत्यर्थं असहमाना सती चेत् यदि **निश्चैतन्यात्** चैतन्याभावात् **नवतिपुरुषीं** नवतिपुरुष-प्रमाणां **खातिकां पापतिः** अत्यर्थं पतितु कामा स्याम् इति योज्यम् **तदा** तर्हि **किं स्यात्** ? किंभूता अहम्—**निर्वीरा** पतिसुतरहिता इत्यर्थः ।।२८।।

यह काम अपने विषम बाणों से मुझे बार-बार मार रहा है और अनादर-जन्य क्रोध व्याकुल बना रहा है ऐसी स्थिति में पति पुत्रादि विहीन तथा चिड़चिड़ी मैं होश खोने से यदि नब्बे पुरुषों के बराबर गहरी खाई में कुद पड़ूँ तो क्या होगा ? २८।।

कर्षूं कर्षूंमिव निवसितं सद्दुकूलं कुकूलं
ग्लावं दावं नलिनमलिनं भूषणं त्र्यूषणं वा ।
सर्वं सर्वङ्कषविषमसौ मन्यतेऽनन्यनेमौ
नेमौ नेमौ भवति भवति स्पष्टमाशालतायाः ।।२९।।

कर्षूं कर्षूंमिव ० हे स्वामिन् ! **भवति** त्वयि **नेमौ** नेमिनाथे **आशालतायाः** आशावल्ल्याः **स्पष्टं** यथा स्यात् तथा **नेमौ** चक्रधारारूपे **भवति** सति **असौ** राजीमती **कर्षूं** नदीं **कर्षूंमिव मन्यते** करीषाग्निमिव मन्यते । **निवसितं** परिहितं **सद्दुकूलं** प्रधानपट्टदुकूलं **कुकूल** तुषानलं **मन्यते**, तथा **ग्लावं** चन्द्रमसं **दावं** वनवह्निं **मन्यते नलिनं** कमलम् **अलिनं** वृश्चिकं **मन्यते**, **वा** पुनः **भूषणम्** आभरणं **त्र्यूषणं मन्यते** त्रिकटु मन्यते । **सर्वम्** अन्यदपि **सर्वं सर्वङ्कषविषं मन्यते** सर्वभक्षकविषं मन्यते । किंरूपे नेमौ—**अनन्यनेमौ** अन्यान् नमति इति एवंशीलः अन्यनेमिः, न अन्यनेमिः तस्मिन् अनन्यनेमौ ।।२९।।

हे नाथ किसी को नमन करने वाले (जगद्वन्द्य होने के कारण तीर्थङ्कर दूसरों को नमन नहीं करते) आप जब से मेरी आशा लता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्छेदक बने तभी से यह राजीमती-नदी अङ्गार परिखा रेशमी वस्त्रों को तुषानल, चन्द्रमा को दावानल, कमल को विच्छू आभूषणों को त्रिकटु और पुष्प ताम्बूलादि स्वाद्य एवं खाद्य सभी वस्तुओं को शरीर व्यापी विष समान मानती है ॥ २९॥

अध्यारोप्य द्विरसनसनानन्द्यमादीनवं मां
दीनां किञ्चिद्दवयसि यदि प्राणितेशोचितं तत् ।
कौलीनाङ्कं ध्रुवमितरथा लप्स्यसे लोकनाथ !
व्याजान्नाना ननु तनुमतां नो निहन्त्यर्कजोऽपि ॥३०॥

अध्यारोप्य ० हे **प्राणितेश** ! हे प्राणस्वामिन् ! **यदि** त्वं किञ्चित् **आदीनवं** दोषम् **अध्यारोप्य मां दवयसि** दूरीकरोषि, **तत्** तर्हि **उचितं** योग्यं । किंभूतम् आदीनवम्—**द्विरसनसनानन्द्यं** द्विरसनानां दुर्जनानां सना सर्वदा आनन्द्यं श्लाघनीयम् । किंभूतां माम्—**दीनाम्** । हे **लोकनाथ** ! **इतरथा** अन्यथा **ध्रुवं** निश्चितं **कौलीनाङ्कं** दुर्यशोरूपलाञ्छनं **लप्स्यसे** प्राप्स्यसि । **ननु** निश्चितम् **अर्कजोऽपि** यमोऽपि **व्याजान्नाना** व्याजं मिषं विना **तनुमतां** तनुमतः प्राणिनः **नो निहन्ति** न मारयति । तनुमताम् इति अत्र हन्ति धातुयोगे द्वितीयास्थाने षष्ठीज्ञेया ॥३०॥

हे प्राण प्रिय ! यदि दुर्जनों को आनन्द देने वाला कोई दोष लगाकर आप मुझ दीन को सताते हैं तो यह ठीक ही है, अन्यथा आप कलङ्क के भागी होंगे । यहाँ तक कि यमराज भी बिना बहाने किसी को नहीं मारता है ॥३०॥

नो प्रत्यक्षानुमितिसमयैर्लक्ष्यमाणः प्रमाणैः
त्यागं कुर्वन्नसुखमपुषस्तावदुच्चैर्ममेश ! ।
संस्कारेण स्मृतिमुपगतः क्लेशदेष्टाऽसि यावत्
निष्प्रामाण्या स्मृतिरिति गदन्नक्षपादो न दक्षः ॥३१॥

नो प्रत्यक्षा ० हे **ईश** ! हे श्रीनेमे ! त्वं **प्रत्यक्षानुमितिसमयैः** प्रत्यक्षानुमानागमैः **प्रमाणैः** कृत्वा **लक्ष्यमाणः** सन् दृश्यमानः सन् **मम त्यागं कुर्वन् सन् उच्चैः** अतिशयेन **तावत् असुखं** दुःखं **न अपुषः** न पुष्टवान् **यावत् संस्कारेण** वासनया **स्मृतिम् उपगतः** स्मरणं प्राप्तः सन् **क्लेशदेष्टाऽसि** क्लेशदायको वर्तसे । अतः कारणात् हे **ईश** ! **अक्षपादो** नैयायिकानां गुरुः **न दक्षः** न चतुरः । किं कुर्वन्—**इति गदन्** इति व्यक्तं जल्पन् । इतीति किं—**स्मृतिः निष्प्रामाण्या** प्रमाणरूपा न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवति। अयम् अत्र भावः—अक्षपादस्तु स्मृतिमप्रमाणरूपां वक्ति यदि च सा अप्रमाणरूपा स्यात् तर्हि कथं स्मृत्या क्लेशदायको भवति। अतः सा प्रमाणमेव स तु नैव दक्षः ॥३१॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह स्मृति का प्रामाण्य न मानने वाले अक्षपाद मेरे विचार से सही नहीं हैं अर्थात् उनका सिद्धन्त अनुभव विरुद्ध है। जब आप मेरे द्वार से लौट रहे थे तो मैंने प्रत्यक्ष आपको देखा, जब बाजे गाजे के साथ आप वन को जा रहे थे तब अनुमान किया कि आप वन को प्रस्थान कर रहे हैं और सखियों ने कहा कि श्रीनेमि ने दीक्षा ले ली है तो राष्ट्र प्रमाण के द्वारा आपके संन्यस्त होने को जाना तीनों प्रमाणों से जानकारी होने पर तो दुःख हुआ ही पर जब जब आप स्मृति पथ पर आते हैं अर्थात् आपका जब मैं स्मरण करती हूँ तब तो और भी कष्ट होता है। इसीलिए मेरा अनुभव है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह ही स्मृति को भी प्रमाण कोटि में नैयायिकों को रखना चाहिए ॥३१॥

क्लेशाविष्टे प्रमुदितमतिर्दीर्घतृष्णे वितृष्णो
मूढे मूढेतरपरिवृढस्तापिते निर्वृतात्मा।
व्यक्तं रक्ते वसति हृदये चेद्विरक्तो ममेशा-
ऽऽधाराधेये तदुपचरिते केन भेदेतरेण ? ॥३२॥

क्लेशाविष्टे ० ईश ! **चेत्** यदि त्वं **मम हृदये वसति** तत् तर्हि **केन** पुरुषेण **भेदेतरेण** ऐक्येन कृत्वा **आधाराधेये** आधारभूत आधेयभूते वस्तुनी **उपचरिते** स्वीकृते अपितु न कोनपि इत्यर्थः। किंभूते हृदये—**क्लेशाविष्टे** क्लेशव्याप्ते **किंरूपस्त्वम्**—**प्रमुदितमतिः** हर्षितबुद्धिः। किंरूपे हृदये—**दीर्घतृष्णे** दीर्घतृष्णालौल्यं यस्य तत् तस्मिन् किंभूस्त्वम्—**वितृष्णः** विगतलौल्यः। किंरूपे हृदये—**मूढे** मूर्खे। किंलक्षणस्वम्—**मूढेतरपरिवृढः** मूढेतराणां दक्षाणां परिवृढः स्वामी। किंभूते हृदये—**तापिते** सन्तापं गमिते। किंभूतस्त्वम्—**निर्वृतात्मा** समाधिपरः। किंभूते हृदये—**व्यक्तं** स्पष्टं यथा स्यात् तथा **रक्ते** अनुरक्ते। किंभूतस्त्वम्। **विरक्तः** विरतः ॥३२॥

आधार और आधेय में मात्र औपचारिक भेद है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। हमारा हृदय आधार है। आप आधेय हैं दोनों में स्पष्ट रूप से अन्तर है क्योंकि हमारा हृदय क्लेश मग्न है और आप आनन्द मग्न हैं वह गाढ़ भोगैषणा वाला है और आप निष्काम हैं वह मूढ़ है आप विज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिरोमणि हैं, वह तापित है आप शीतलात्मा हैं, वह स्पष्ट ही राग युक्त है और आप विरक्त हैं। अतः आधार और आधेय में मात्र औपचारिक नहीं स्पष्टतः भेद है ॥३२॥

गोत्रस्यादावशकलपुरे चावरं वर्णमग्र्यो-
ज्जाग्रद्वर्णामुपतदमपि त्वं तु नातिष्ठपो माम् ।
शीलं यद्वोन्नतिमत इदं जात्यवर्णानपेक्षं
मेरुर्नाम्ना वहति शिरसा चैतमुन्नीलचूलः ॥३३॥

गोत्रस्यादा ० हे ईश ! **त्वं गोत्रस्य** वंशस्य शब्दच्छलात् गोत्रनाम्नो व **आदौ च** पुनः **अशकलपुरे** सम्पूर्णनगरे अथवा शब्दच्छलात् अशकलपुरे सम्पूर्ण-शरीरे **अवरं वर्णं** नीचं लोकम् अथवा शब्दच्छलात् नीचवर्णं नकाराक्षरं अथवा **नीचवर्णं** श्यामवर्णम् **अतिष्ठपः** अस्थापयः । हे ईश ! तु पुनः **माम् उपतदमपि** तयोः द्वयोः गोत्रपुरयोः समीपेऽपि **न अतिष्ठपः** । किंभूतां माम्— **अग्र्योज्जाग्रद्वर्णाम्** अग्र्यः प्रधानः उत्प्राबल्येन जाग्रत् जागरूकः वर्णः क्षत्रिय-लक्षणो ययोः यस्याः सा ताम् । **यद्वा** अथवा **उन्नतिमतः** पुरुषस्य इदं जात्यवर्णा-नुपेक्ष्यं **शीलं** सहजम् उन्नतिमतः, किल जात्यवर्णान् कुलीनानपि न स्वीकुर्वन्ति इतिभावः । यतो **मेरुः** स्वर्णगिरिः **नाम्ना च** पुनः **उन्नीलः** सन् **शिरसा** मस्त-केन **एतम् अवरं वर्णं** नीचवर्णं मकारलक्षणं श्यामलवर्णं **च वहति** उत्प्राबल्येन **नीला** श्यामला **चूला** चूलिका अग्रविभागो **यस्य** सः ॥३३॥

हे नाथ ! आपने अपने गोत्र अर्थात् नाम के आदि में अवर (नीच) वर्ण "नकार" को एवं अपने सम्पूर्ण शरीर में अप्रशस्त वर्ण (रंग) कृष्ण (काले रंग) को तो स्थान दिया पर प्रशस्त क्षत्रिय वर्ण एवं गौर वर्ण वाली मुझ राजीमती को आपने नाम गोत्र दोनों के पास भी नहीं रखा अर्थात् कहीं भी स्थान नहीं दिया। सम्भवतः बड़े लोगों का यह स्वभाव ही होता है कि वे उत्तम वर्ण आदि की अपेक्षा नहीं करते अर्थात् ऊँच-नोच का ध्यान नहीं रखते जैसे ऊँची पर्वतश्रेणी वाले मेरु ने भी अपने नाम के आदि में नीच वर्ण (अक्षर) 'म' को एवं सिर पर नील वर्ण की चोटी को धारण किया है ॥३३॥

आसीदाशेत्यमम ! महिषी प्रीतये ते जनिष्ये
श्यामा क्षामा त्वकृषि विधिना प्रत्युतोषोत्प्रदोषा ।
पश्याम्येवं यदि पुनरजात्मत्वमप्यापयिष्ये
मूलात्कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि प्रकृत्य ॥३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसोदाशे ० हे ईश ! **मम इति आशा आसीत्** इति मनोरथ आसीत् । इतीति किं—अहं ते तव **प्रीतये** प्रीत्यर्थं **महिषी** महिष माता पट्टराज्ञो **जनिष्ये** भविष्यामि । **तु** पुनः **विधिना** विधात्रा **प्रत्युत** सम्मुखं **श्यामा** कृष्णा **क्षामा** दुर्बला **उषा** धेनु **अकृषि** कृता । अष्टादशवार्षिका अप्रसूता स्त्री श्यामा उच्यते । किंभूता श्यामा—**उषोत्प्रदोषा** उषावत् रात्रिरिव उत्प्राबल्येन प्रकृष्टा दोषा अवगुणा यस्यां सा पतिसुतरहितत्वेन मङ्गलकार्यानधिकारित्वात् । किंभूता उषारात्रिः—**उत्प्रदोषा** उत् उत्कृष्टा प्रदोषौ सन्ध्यासमयो यस्याः सा । हे ईश ! **यदि पुन एवं पश्यामि** एवमपि पश्यन्त्यस्मि । एवमिति किं—अहं **पुनः विधिना अजात्मत्वमपि** छागीत्वमपि **आपयिष्ये** प्रापयिष्ये अथवा अजात्मत्वमपि सिद्धत्वमपि आपयिष्ये । किं कृत्वा—**सर्वतोऽपि** सर्वप्रकारेण **मूलात्** आदितः **कर्मप्रकृतिविकृतीः** कर्मणां ज्ञानावर्णादीनां कर्मदोहनादिः प्रकृतिः पशूनां स्वभावः विकृतयः पशूनां स्वभावाः ताः प्रकृत्यः प्रकर्षेण कृत्वा द्वितीयपक्षे **सर्वतोऽपि** समन्ततः **मूलात्** आदितः **कर्मप्रकृतिविकृतीः** कर्मणां ज्ञानावर्णादीनां प्रकृतयः कर्मग्रन्थिप्रसिद्धाः १५८ ताभिः प्रकृतिभिः या विकृतयो विकाराः ताः प्रकृत्यः अत्यर्थं छेदयित्वा "कृतैत् छेदने" इति धातोः प्रयोगः ॥३४॥

हे नाथ ! मेरी तो यह इच्छा थी कि मैं आपकी खुशी के लिए आपको कृताभिषेक महिषी (राज्ञी) बनूँ पर विधि ने मुझे दुबली-पतली अप्रसूता महिषी (भैंस) बना दिया मेरी इच्छा थी कि मैं आपके जीवन की उषा (प्रभात) बनूँ पर विधि ने प्रदोषा (रात्रि का प्रारम्भ) बना दिया। और अब तो मैं देख रही हूं कि विधि के विधान से कर्मप्रकृति के विकार मोहादि को सर्वथा काटकर (तोड़कर) जन्म से रहित अजा 'बकरी' भी बनना पड़ेगा अर्थात् तपस्या में लीन होकर मोक्ष को प्राप्त कर सिद्धत्व को प्राप्त करना होगा ॥३४॥

यावज्जीवं मदुपहितहृज्जीवितेन शयेन
प्रेम्णा पास्यत्यमृतमपि मे विन्नमासीत्पुरेति ।
प्रव्रज्यायाः पुनरभिलषंस्तन्मुखेनामुचन्मां
ज्ञानश्रीयुक् तदथ कमितोन्मुच्य तां तन्नमोऽस्तु ॥३५॥

यावज्जीवं ० हे ईश ! **पुरा पूर्वं इति विन्नं** विचारितम् **आसीत्** । इतीति किं—**जीवितेन** जीवितव्येन स्वामीश्रीनेमिनाथः **यावज्जीवम् अमृतमपि** पानीयमपि **मे** मम **शयेन** हस्तेन **प्रेम्णा** स्नेहेन कृत्वा **पास्यति** । किंभूतो जीवितेन—**मदुपहितहृत्** मयि उपहितं न्यस्तं हृत् हृदयं येन सः, पुनः **प्रव्रज्यायाः** दीक्षायाः **मुखेन**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत् अमृतं शुद्धाहारम् **अभिलषन्** सन् **माम् अमुचत्** । **अथ पुनः ज्ञानश्रीयुक्** ज्ञानलक्ष्मीयुक्तः सन् **तां** दीक्षाम् **उन्मुच्य तत्** अमृतं मोक्षं **कमिता** कामयिता अभिलषिता । हे ईश ! **तत्** तस्मात् कारणात् **ते** तुभ्यं **नमोऽस्तु** नमस्कारो भवतु । यतः त्वम् एकस्यामपि कस्यां न स्थिर इति ॥३५॥

हे नाथ ! मैंने पहले यह सोचा था कि मुझसे प्रेम करने वाले प्राणनाथ जीवनभर स्नेह से मेरे ही हाथ से पानी भी पीयेंगे । पर आपने मुझे छोड़कर अयाचित व्रत की दीक्षा ग्रहण कर ली और अब उस व्रत को भी छोड़ कर आप (दीक्षाफल) मोक्ष को चाहने लगे । अतएव अव्यवस्थित चित्त वाले आपको नमस्कार है । अर्थात् आप कहीं पर भी दृढ़ रहने वाले नहीं हैं ॥३५॥

काष्ण्र्योत्पादात्स्वजनवदनेऽतानि वर्णस्य तुल्यं
कृत्यं चाशाव्रततिनिकरोत्कर्तनान्नाथ ! नाम्नः ।
अर्थादर्थान्तरमभियता द्राग्यथा चान्वयस्या-
सत्कर्मेभप्रमथसमये कारि मा मातुरित्थम् ॥३६॥

काष्ण्र्योत्पादा ० हे नाथ ! त्वया **स्वजनवदनेकाष्ण्र्योत्पादात् यथा वर्णस्य** निजशरीरस्य कान्तेः **तुल्यं कृत्यं** सदृशं कार्यम् **अतानि** अकारि । हे **नाथ** ! त्वया **च** पुनः **आशाव्रततिनिकरोत्कर्तनात्** मनोरथवल्लीसमूहछेदनात् । **द्राक्** शीघ्रं **यथा नाम्नः** नेमि इत्यभिधानस्य **तुल्यं कृत्यम् अतानि** चक्रधारासदृशं कृत्यम् अकारि । हे **नाथ** ! त्वया **अर्थादर्थान्तरम् अभियता** अर्थात् विवाहलक्षणात् अर्थान्तरं दीक्षालक्षणम् अर्थम् अभियता भजता सता यथा **अन्वयस्य** हरि इति नाम्नो निजवंशस्य **तुल्यं कृत्यम् अतानि**, अत्र शब्दच्छलात् हरिः मर्कटः तस्य सदृशं कार्यम् अकारि । हे **नाथ** ! **असत्कर्मेभप्रमथसमये** असत्कर्माण्येव इभा गजाः तेषां प्रमथसमये विनाशप्रस्तावे **इत्थं** पूर्वोक्तप्रकारेण त्वया **मातुः** सदृशं **कृत्यं मा कारि** न कर्तव्यं । माता शिवा नाम्नी, अत्र शब्दच्छलात् शिवा शृगाली उच्यते । तस्याः सदृशं कृत्यं न कर्तव्यम् इति भावः ॥३६॥

हे नाथ ! अपने स्वजनों की बात न मानकर उनके मुख में कालिमा लगाकर अपने रंग के अनुसार कार्य किया है और हमारी आशा रूपी लताओं को काटकर आपने अपने नाम नेमि (चक्रधारा) के अनुरूप कार्य किया है तथा किसी एक कार्य में स्थिर न रहकर आपने अपने वंश (हरि वंश 'हरि' शब्द का अर्थ बन्दर भी होता है) के अनुरूप कार्य किया है जैसे बन्दर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते हैं उसी प्रकार आपने विवाह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म छोड़कर दीक्षा के बाद मोक्ष की इच्छा की और आगे पता नहीं क्या करेंगे ? इसीलिएहे नाथ ! अब असत्कर्मरूपी हाथी के विनाश के समय अपनी माँ के नाम शिवा (शिवा का अर्थ शृङ्गालो भी है) के अनुरूप कार्य मत करना अर्थात् तपस्या की कठिनता का आभास होने पर उसे भी छोड़कर मत भग जाना ॥३६॥

एवं नानावचनरचनाचातुरीमेकतोऽस्या
निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा चान्यतो दूतकर्म ।
राजीमत्या व्यसितमिति प्रेक्ष्य सख्यस्तदानीं
धिग्धिग्दैवं गतघृणमिति ध्यातवत्योऽभ्यधुस्ताम् ॥३७॥

एवं नाना ० हे लोकाः ! **तदानीं** तस्मिन् प्रस्तावे **सख्यः** तां राजीमतीम् **अभ्यधुः** प्रत्यवोचत् । किंभूताः सख्यः—**इति ध्यातवत्यः** इति ध्यातम् । इतीति किम्—**दैवं** दैवस्य **धिग् धिग्** धिक्कारः पतु । किं कृत्वा—**राजीमत्या इति व्यवसितं** चेष्टितं **प्रेक्ष्य** विलोक्य । इतीति किम्—**एकतः** एकस्मिन् पार्श्वे **अस्याः राजीमत्याः एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण **नानावचनरचनाचातुरीं** च पुनः **अन्यतः** अन्यस्मिन् पार्श्वे **निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा** अचेतन्यमेघमुखवचनेन दूतकर्म ॥३७॥

उस समय राजीमती की सखियाँ एक तरफ राजीमती के वचन-चातुर्य एवं दूसरी तरफ चेतनाविहीन मेघ के द्वारा किये जाने वाले दूत कर्म को देखकर विचार की कि उस दयाहीन दैव (नेमि) को धिक्कार है और पुनः वे राजीमती से बोलीं ॥३७॥

क्वासौ नेमिर्विषयविमुखस्तत्सुखेच्छुः क्व वा त्वं
क्वासंज्ञोऽब्दः क्व पटुवचनैर्वाचिकं वाचनीयम् ।
किं कस्याग्रे कथयसि सखि ! प्राज्ञचूडामणेर्वा
नो दोषस्ते प्रकृतिविकृतेर्मोह एवात्र मूलम् ॥३८॥

सख्यो यदवोचन् कविस्तदाह—

क्वासौ ० हे राजीमति ! **विषयविमुखः असौ नेमिः क्व, वा तत्सुखेच्छुः** तस्य विषयसुखस्य इच्छुः अभिलाषिणी **त्वं क्व, असंज्ञः** अचेतन्यः **अब्दः** मेघः **क्व, पटुवचनैः** पटुवाक्यैः **वाचनीयं** वाचयितुं योग्यं **वाचिकं** सन्देश-वाक्यं **क्व** । हे **सखि** ! त्वं **कस्याग्रे किं कथयसि** वा अथवा हे राजमति ! **ते** तव **दोषो न** कथंभूतायाः ते— **प्राज्ञचूडामणेः** प्राज्ञानां दक्षाणां चूडामणेः शिरोमणेः । किन्तु **अत्र** असदृशकरणे **प्रकृतिविकृतेः** स्वभावविकारस्य **मोह एव मूलं** मूलकारणम् ॥३८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे सखि ! कहाँ तो विषयसुख से विमुख वह श्रीनेमि और कहाँ विषयसुख-लोलुप तुम ? कहाँ वह अचेतन मेघ और कहाँ कुशल वक्ताओं द्वारा कहा जाने वाला तुम्हारा सन्देश ? किसके सामने क्या कह रही हो—यह भी तुम्हें ज्ञात नहीं। हे सखि ! बुद्धिमती होते हुए भी यह तुम्हारा दोष नहीं है यह तो स्वभाव परिवर्तन के मूल कारण मोह का ही दोष है अर्थात् तुम मोहवश ही ऐसा कर रही हो ॥३८॥

श्रीमान्नेमिर्व्यजयत महामोहमल्लं तदेष
त्वां तत्पत्नीं सखि ! मनुमहे बाधते बद्धवैरः ।
किं त्वेवं ते यदुकुलमणेर्वीरपत्न्या विसोढुं
नैतन्न्याय्यं तदिममधुना बोधशस्त्रेण हिन्द्धि ॥३९॥

श्रीमान्नेमि ० हे **सखि** ! राजीमति ! वयम् इति **मनुमहे** इति मन्यामहे । इतीति किम्—**यत्** यस्मात् हेतोः **श्रीमान्नेमिः महामोहमल्लं व्यजयत** जयति स्म, **तत्** तस्मात् कारणात् **एषः** महामोहमल्लं **बद्धवैरः** सन् **तत्पत्नीं त्वां बाधते** पीडयति, **किन्तु** पुनः हे **सखि** ! हे राजीमति ! **ते** तव **एवम्** अमुना प्रकारेण निश्चैतन्याम्बुदमुखसन्देशकप्रेषणलक्षणेन **एतं** महामोहमल्लं **विसोढुं** सहितुं **न न्याय्यं** न युक्तम् । किंरुपायाः ते—**यदुकुलमणेः** यादववंशस्य मस्तकमणेः, तथा **वीरपत्न्याः** । **तत्** तस्मात् कारणात् त्वम् **इमं** महामोहमल्लं **अधुना बोधशस्त्रेण हिन्द्धि** जहि ॥३९॥

हे सखि ! ऐसा लग रहा है कि श्री नेमि ने मोहरूपी महामल्ल को जीत लिया है, इसीलिए वह (मोह) उनसे (श्री नेमि से) क्रुद्ध होकर उनकी पत्नी तुम्हें ही पीड़ित कर रहा है। यदुकुल शिरोमणि की वीर पत्नी होकर तुम्हारे लिए इस मोह जनित कामपीड़ा को सहना उचित नहीं है अतः अब तुम भी सम्यग्ज्ञानरूपी शस्त्र से महामोह रूपी मल्ल को मार डालो ॥३९॥

रागाम्भोधौ ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिर्यः
संप्लाव्येत प्रतनुगरिमा स क्षमाभृद्गणोऽन्यः ।
औन्नत्यं तत्तदचलगुरुश्चैष माध्यस्थ्यमीशो
धत्ते येन स्फुटवसुममुं स्प्रष्टुमप्यक्षमास्ताः ॥४०॥

रागाम्भोधौ ० हे राजीमति ! **यः क्षमाभृद्गणः** यतिसमूहः **ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिः** सविलासस्त्रीचाटुवाग्विच्छित्तिभिः **रागाम्भोधौ** मोहसमुद्रे मध्ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्लाव्येत । सः क्षमाभृद्गणः अन्यः कश्चित् । किंभूतः सः—प्रतनुगरिमा तुच्छ-महिमा । हे राजीमति ! एषः ईशः श्रीनेमिः तत् औन्नत्यं च पुनः तत् माध्यस्थ्यं धत्ते । किंरूपः एषः—अचलगुरुः; अचला निश्चलाः तेषु गुरुः, येन औन्नत्येन माध्यस्थेन च ताः ललितललनाचाटुवाग्भङ्गयः अमुम् ईशं श्रीनेमिनं स्प्रष्टुमपि स्पर्शं कर्तुमपि अक्षमाः असमर्थाः किंरूपम् अमुम्—स्फुटवसुं स्फुटं प्रकटं वसु कान्तिः यस्य स तम् । अथ श्लेषार्थः—यः क्षमाभृद्गणः पर्वतसमूहः जलभङ्गिभिः अम्भोधौ संप्लाव्येत । सः क्षमाभृद्गणः अन्यः कश्चित् च पुनः एषः अचलगुरुः मेरुः तत् औन्नत्यम् उच्चैस्तरत्वं तत्माध्यस्थ्यं धत्ते । येन औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च ताः जलभङ्गयः तम् अचलगुरुं मेरुं स्प्रष्टुमपि अक्षमाः । किंभूतम् अमुम्—स्फुटवसुं स्फुटानि प्रकटानि वसूनि रत्नानि यस्मिन् स तम् ॥४०॥

हे सखि ! छोटे पर्वत को भाँति तुच्छ गरिमा वाला वह यतिसमूह अन्य ही है, जो स्त्रियों के चञ्चल नेत्रभङ्गिरूपी जल तरङ्गों से मोह समुद्र में हिलोरे लेने लगता है अर्थात् डूब जाता है । भगवान् नेमिनाथ तो पर्वतों के राजा, रत्नों से दीप्त उस मेरु की तरह कान्तिमान् होकर चारित्र के उस ऊँचाई को प्राप्त कर विश्व के मध्य में स्थित हैं जिन्हें मोहरूपी समुद्र की तरङ्गें स्पर्श करने में भी असमर्थ हैं ॥४०॥

मा विश्वस्या मतिमति ! वर प्राक्पदां वर्णिनीं तां
रागोत्सृष्टानुपलशकलान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य ।
चूर्णो नाम्ना स खलु भगवानेष जात्यं तु वज्रं
नो रागाङ्गैरविकलबलै रज्यते जातु कैश्चित् ॥४१॥

मा विश्वस्य ० हे **मतिमति** ! हे बुद्धिमति ! त्वं **तां** सर्वलोकप्रसिद्धां **वरप्राक्पदां** वर इति अक्षरद्वयं प्राक्पदे उपपदे यस्य सा ताम् एवं विधां **वर्णिनीम्** एतावता वरवर्णिनीं हरिद्रां **रागोत्सृष्टान्** रागरहितान् **उपलशकलान्** पाषाण-खण्डान् **रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य** विलोक्य **मा विश्वस्याः** विश्वासं मा कुर्याः । अहमपि वरवर्णिनी अस्मि प्रधानस्त्री अस्मि । अतः तं नीरागं नेमिनं रञ्जयिष्यामि सरागं करिष्यामि इति सञ्चिन्त्य मा विश्वस्याः । **खलु** निश्चितं हे सखि ! इति वरवर्णिन्या रज्यमानः **सः** उपलशकलगणोः **नाम्ना** नाम्नाभिधानेन **चूर्णः** चूर्णकः । अत्र अयं भावः—हरिद्रायोगेन चूर्णको रक्तो भवति इति, **तु** पुनः **एष भगवान्** श्रीनेमिः **जात्यं** सत्यं **वज्रं** कूलिशं **जातु** कदाचित् **कैश्चित्** अविकलबलैः परि-पूर्णपराक्रमैः **रागाङ्गैः** रागप्रकारैः **नो रज्यते** न रक्तीक्रियते ॥४१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे बुद्धिमति ! पाषाणखण्ड चूने को लाल कर देने वाली उस वर वर्णिनी (हरिद्रा) को देखकर तुम ऐसा विश्वास मत कर लो कि मैं भी वरवर्णिनी (श्रेष्ठरूपरंगों वाली) हूँ अतः श्रीनेमि के पाषाण हृदय को राग रञ्जित कर दूंगी। वह पाषाण खण्ड तो नाम से चूना है जो हरिद्रा के संयोग से रक्त हो जाता है, पर नेमिनाथ तो सचमुच (असली) वज्र (हीर) हैं जो मोह रूपी गाढ़े से गाढ़े रंग से भी रंगे नहीं जा सकते ॥४१॥

सध्रीचीनां वचनरचनामेवमाकर्ण्य साऽथो
पत्युर्ध्यानादवहितमतिस्तन्मयत्वं तथाऽऽपत् ।
सङ्ख्याताहैरधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा
तस्माद्भेजेऽनुपमिति यथा शाश्वतीं सौख्यलक्ष्मीम् ।४२॥

इतिश्रीजैनमेघदूतमहाकाव्ये
चतुर्थः सर्गः
॥४॥
समाप्तम्

सध्रीचीनां ० अथो अनन्तरं **सा** राजीमती **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण **सध्रीचीनां** सखीनां **वचनरचनाम् आकर्ण्य अवहितमतिः** सावधानमतिः सती **पत्युः** श्रीनेनेः **ध्यानात् तथा तन्मयत्वं** पतिमयत्वम् **आपत्** प्राप । **यथा तस्मात्** पत्युः ध्यानात् **सङ्ख्याताहैः** गणितदिवसैः **अनुपमिति** निरुपमान यथा स्यात् **तथा शाश्वतीम्** अविनश्वरां **सौख्यलक्ष्मीं भेजे** आश्रितवती । किंभूता सा--**अधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा** अधिगतम् आश्रितं महानन्दस्य मोक्षस्य यत्सर्वस्वं रहस्यं तदेव सद्म स्थानं यया सा॥४२॥

इति श्रीविधिपक्षमुख्याभिधान श्रीमदञ्चलगच्छेश श्रीजयकीर्तिसूरिशिष्य पण्डितमहीमेरुगणिविरचितायां श्रीमेघदूतमहाकाव्यबालावबोधवृत्तौ चतुर्थः सर्गः समाप्तः

॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥

सखियों की इस प्रकार को वचन रचना (वाणी) को सुनकर राजीमती पति (नेमि) का ध्यान करती हुई तन्मय हो गई। इसके बाद केवल ज्ञान को प्राप्त भगवान नेमि के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण कर पति के ध्यान में लीन होकर स्वामी की तरह ही राग-द्वेष आदि से मुक्त होकर कुछ ही दिनों में वह परमानन्द के सर्वस्व मोक्ष को प्राप्त कर अनुपम तथा अनन्त सुख को प्राप्त किया ॥४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक ग्रन्थ सूचनिका

अक्षर अमर रहें : ले०–वाचस्पति गैरोला, प्रका०–चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सन् १९५९

अग्निपुराण : महर्षि व्यास, प्रका०–संस्कृत संस्थान, बरेली, द्वितीय संस्करण, १९६९.

अभिधानचिन्तामणि : हेमचन्द्राचार्य, प्रका०–सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, प्रथम संस्करण, सन् १९४६.

अभिनव रस सिद्धान्त : ले०– डा. दशरथ द्विवेदी, प्रका०– विश्व-विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७३.

अभिज्ञान शाकुन्तल : कालिदास, प्रका०–मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०.

अमरकोष : सम्पा०–पं० हरगोविन्दशास्त्री, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सन् १९७०.

अलंकार चिन्तामणि : अजितसेन, सम्पा०–डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७३.

अलंकार धारणा : विकास और विश्लेषण : डा. शोभाकान्त मिश्र, प्रका०–बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना- ३, प्रथम संस्करण, सन् १९७२.

अलंकार सर्वस्व : राजानकरूप्यक, प्रका०–चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७१.

अलंकारों का क्रमिक विकास : पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, प्रका०–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६७.

"आज" दैनिक समाचार पत्र : ज्ञानमण्डल यंत्रालय, वाराणसी, १२ मई, सन् १९५९.

इण्डियन एण्टिक्वेरी : (पत्रिका), अप्रैल सन् १८७८.

इन्दुदूत : विनयविजयगणि, प्रका०–श्री जैन साहित्यवर्धक-सभा, शिरपुर, सन् १९४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तररामचरित : भवभूति, सम्पा०—जनार्दन शास्त्री, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६३.

ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर : ए० बी० कीथ (भाषान्तर) डा० मंगलदेव शास्त्री, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६०.

ऋग्वेद प्रका०—संस्कृति संस्थान, बरेली, सन् १९६२.

कालिदास ले०—वा० वि० मिराशी, प्रका०—पाप्युलर प्रकाशन, बम्बई, तृतीय संस्करण, सन् १९६७.

कालिदास (अंग्रेजी) श्री अरविन्द, प्रका०—आर्य साहित्य भवन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९२९.

कालिदास और भवभूति ले०—द्विजेन्द्रलाल राय, प्रका०—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई, द्वितीय संस्करण, सन् १९५६.

कालिदास : ए क्रिटिकल स्टडी : ले०—ए० डी० सिंह, प्रका०—भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७६.

कालिदास : ए स्टडी : जी सी० झाला, प्रका०—पद्मा प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९४३.

कालिदास का भारत : ले०—भगवत शरण उपाध्याय, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९५४.

कालिदास के काव्य : ले०—रामप्रताप त्रिपाठी, प्रका०—किताब महल (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९६६.

कालिदास के काव्य में ध्वनि तत्त्व : ले०—डा० मंजुला जायसवाल, प्रका०—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी.

कालिदास के सुभाषित : ले०—भगवत शरण उपाध्याय, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५९.

कालिदास ग्रन्थावली : सीताराम चतुर्वेदी, प्रका०—अखिल भारतीय परिषद्, काशी, वि०सं०२००७.

कालिदासीयं मेघदूतम् : सम्पादित, वी० जी० परांजपे, प्रका०—डेकन बुक स्टाल, फार्ग्युसन कालेज रोड, पूना, द्वितीय संस्करण, सन् १९४१.

काव्य चिन्ता : ले०—डा० रमाशंकर तिवारी, प्रका०—चौखम्बा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्या भवन, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सन् १९६३.

काव्यमाला : १३वाँ पुष्प, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई.

काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट, व्याख्या–आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०–ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६०.

काव्यादर्श : दण्डी कवि, प्रका०-श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी, वि०सं० १९३८.

काव्यालंकार : भामह, प्रका०-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सन् १९६२.

काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्या–रामदेव शुक्ल, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६६.

काव्यालंकारसूत्र : वामन, व्याख्या–आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९५४.

कुमारसम्भव : कालिदास, सम्पा०–वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, बारहवाँ संस्करण, सन् १९५३.

गरुड़पुराण : महर्षि व्यास, प्रका०–संस्कृति संस्थान, बरेली, द्वितीय संस्करण, सन् १९६९.

घटखर्परकाव्य : घटखर्पर कवि, व्याख्या–रामपाल शास्त्री, प्रकाशक–चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

चन्द्रदूत : विमलकीर्तिगणि, प्रका०–श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, वि०सं० २००९.

चाणक्यनीति : नीतिज्ञ चाणक्य, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी.

छन्दोनुशासन : हेमचन्द्राचार्य, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९१२.

छन्दोमंजरी : गंगादास, "प्रभा" व्याख्यासहित, प्रका०–चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी.

✓ जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार : फतेहचन्द बेलानी, प्रका०–पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनरत्नकोश : हरिदामोदर वेलणकर, प्रका०–भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९४४.

जैन ग्रन्थावली : प्रका०–श्री जैन श्वेताम्बर कांफ्रेंस, बम्बई, वि. सं. १९६५.

जैनमेघदूत : आचार्य मेरुतुंग, प्रका०–श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, सन् १९२४.

जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास : ले०–प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापडिया (भाग १-२-३) प्रका०–श्री मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, प्रथम संस्करण, सन् १९५६.

जैन साहित्य और इतिहास : ले०–नाथूराम प्रेमी, प्रका०–हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, प्रा० लि०, बम्बई, द्वितीय संस्करण, सन् १९५६.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६ : श्री गुलाबचन्द चौधरी, प्रका०–पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, वाराणसी-५

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : ले०–मो० दली० देसाई, प्रका०–श्री जैन श्वे० कान्फ्रेंस, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९३३.

जैन सिद्धांत भास्कर : आरा (बिहार), (षण्मासिक पत्रिका)

दि बर्थ प्लेस आफ कालिदास : ले०–लक्ष्मीधर कल्ला, दिल्ली, सन् १९२६.

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, प्रका०–गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९५२.

ध्वन्यालोक लोचन : अभिनव गुप्त, प्रका०–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६३.

नलचम्पू : त्रिविक्रम भट्ट, सम्पा०–कैलाशपति त्रिपाठी, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, वि०सं० २०३४.

नवसाहसांकचरित : पद्मगुप्त परिमल, व्याख्या–जितेन्द्रचन्द्र भारतीय, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१.

नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९२९.

निरुक्त : महर्षियास्क, प्रका०–श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, वि०सं० १९८२.

नेमिदूत : कवि विक्रम, प्रका०–जैनप्रेस, कोटा.

नैषधचरित : श्री हर्ष, व्याख्या–हरगोविन्द शास्त्री, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सन् १९५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पउमचरियम् : विमलसूरि, सम्पा०–डा० हर्मन जेकोबी, हिन्दी अनुवादक-शान्तिलाल वोरा, प्रका०–प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६२.

पालिजातकावलि : सम्पा०–पं० बटुकनाथ शर्मा, प्रका०–मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९४०.

पार्श्वाभ्युदयकाव्य : कवि जिनसेन, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०९.

पिंगलछन्दः सूत्रम् : आचार्य पिंगल, व्याख्या–जीवानन्द विद्यासागर, प्रका०–वाचस्पत्य मुद्रणालय, कलकत्ता, प्र०सं०, सन् १९२८.

पुरातनप्रबन्धसंग्रह : सम्पा०–जिनविजयमुनि, प्रका०–सिंघी जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९३६.

प्रबन्धचिन्तामणि : आचार्य मेरुतुंग (प्रथम), प्रका०–सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति निकेतन, बंगाल, प्र० सं०, वि० सं० १९८९.

प्राच्य वाणी (पत्रिका) : अनन्तलाल ठाकुर, कलकत्ता, सन् १९४५.

बृहद्देवता : महर्षि शौनक, सम्पा०–रामकुमार राय, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६३.

भारती कवि-विमर्श : ले०–रामसेवक पाण्डेय, प्रका०–इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, प्रथम संस्करण, वि०सं० २००७.

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : ले०–डा० नगेन्द्र, प्रका०–ओरियण्टल बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९५५.

भारतीय साहित्यशास्त्र : ले०–पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०–प्रसाद परिषद्, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९५०.

भारतीय साहित्यशास्त्र : ले०–ग० देशपाण्डे, पाप्युलर प्रकाशन, बम्बई-७, प्रथम संस्करण, सन् १९६०.

भारतीय साहित्यशास्त्र कोश : ले०–राजवंश सहाय प्रका०–बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना-३, प्रथम संस्करण, सन् १९७३.

भोजप्रबन्ध : बल्लाल कवि, सम्पा०–काशीनाथ पाण्डुरंग, वारब, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, प्र०-सं० सन् १८९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुस्मृति : महर्षि मनु, प्रका०–पुस्तक मंदिर, मथुरा, वि.सं. २०१५.

महाकवि कालिदास : ले०–डा. रमाशंकर तिवारी, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, तृतीय संस्करण, सन् १९७२.

महाभारत : प्रका०–गीताप्रेस, गोरखपुर.

मालतीमाधव : भवभूति, सम्पा०–रामप्रताप त्रिपाठी, प्रका०–लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९७३.

मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास, सम्पा०–वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका०–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, आठवाँ संस्करण, सन् १९३५.

मेघदूत : कालिदास, सम्पा०–शेषराज शर्मा, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, सन् १९७१.

मेघदूत : कालिदास, सम्पा०–पं० वैद्यनाथ झा, प्रका०–चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी, प्र० सं० सन् १९७८.

मेघदूत : कालिदास, सम्पा०–रामचन्द्र शास्त्री पणशीकर, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्र० सं०, सन् १९४०.

मेघदूत : कालिदास, सम्पा०–वासुदेव शर्मा, प्रका०-निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १३ वाँ, सं०, सन् १९२९.

मेघदूत : कालिदास, संपा०– ब्रह्मशंकर शास्त्री प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्र० सं०, सन् १९५९.

मेघदूत : कालिदास, सम्पा०–गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, प्रका०–नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, प्रथम सं०, सन् १९१७.

मेघदूत : आलोचनात्मक अध्ययन : ले०–चुन्नीलाल शुक्ल, प्रका०–साहित्य भण्डार, मेरठ,

मेघदूत : एक अध्ययन : ले०–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल,प्रका०–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, वि०सं०, २०१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदूत : एक अनुशीलन : ले०–पं० देवदत्त शास्त्री, प्रका०–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी.

मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उसका सांस्कृतिक अध्ययन : ले०–सुधीर कुमार गुप्त, प्रका०–भारतीय मंदिर, खुरजा, उ० प्र०, प्रथम संस्करण, सन् १९५४.

रघुवंश : कालिदास, व्याख्या–हरगोविन्द मिश्र, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, तृ० सं०, सन् १९६१.

रस सिद्धान्त : ले०–डा० नगेन्द्र, प्रका०–नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६४.

वाचस्पत्यम् (पं० भा०) : संकलनकर्ता–तारानाथ भट्टाचार्य, प्रका०–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्र० सं०, सन् १९६२.

वाल्मीकीय रामायण : महर्षि वाल्मीकि, सम्पा०–नारायण स्वामी अय्यर, प्रका०–मद्रास ला जर्नल प्रेस, मद्रास, सन् १९३३.

विक्रमांकदेवचरितम् : कवि बिल्हण, सम्पा०–रामावतार शर्मा, प्रका०–ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, प्र० सं०, वि०सं०, १९७८.

वैदिक पदानुक्रम कोश (तृतीय खंड) : विश्वबन्धु शास्त्री, प्रका०–वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, प्रथम संस्करण, सन् १९३६.

वृत्तमौक्तिक : भट्टचन्द्रशेखर, सम्पा०–विनयसागर, प्रका०–राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन् १९६५.

वृत्त रत्नाकर : केदारभट्ट, सम्पा०–नृसिंहदेव शास्त्री, प्रका०–संस्कृत पुस्तकालय, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७१.

वृत्तवार्तिक : रामपाणिपाद, सम्पा०–साम्बशिव शास्त्री, प्रका०–त्रावणकोर राज्य द्वारा राजकीय प्रेस में, सन् १९३७.

शब्दकल्पद्रुम (द्वि. का.) : राधाकान्तदेव, प्रका०–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दरत्नमहोदधि (द्वि० भाग) : श्री मुक्ति विजय जी, प्रका०--श्री विजयनीतिसूरि वाचनालय, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९४१.

श्री आर्यकल्याण गौतम स्मृति ग्रन्थ : सम्पा०--मुनि कलाप्रभसागरजी, बम्बई.

श्रीमद्भागवत् : महर्षि वेदव्यास, प्रका०--गीताप्रेस, गोरखपुर,

श्रुतबोध : कालिदास, व्याख्या--ब्रजरत्न भट्टाचार्य प्रका०--निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, षष्ठ सं. सन् १९२८.

संस्कृत आलोचना : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०--हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वितीय सस्करण, सन् १९६३.

संस्कृत कवि चर्चा : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०--मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९३२.

संस्कृत कवि दर्शन : डा० भोलाशंकर व्यास, प्रका०--चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी.

संस्कृत काव्यकार : हरिदत्त शास्त्री, प्रका०--साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय संस्करण, सन् १९७०.

संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान : डा० नेमिचन्द्रशास्त्री, प्रका०--भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७१.

संस्कृत के सन्देश काव्य : डा० रामकुमार आचार्य, प्रका०--डा० रामकुमार आचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय कालेज, अजमेर, सन् १९६३.

संस्कृत नाटककार : कान्ति किशोर भरतिया, प्रका०--प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, सन् १९५९.

संस्कृत शास्त्रों का इतिहास : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०--शारदा मंदिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६९.

संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, प्रका०--चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६०.

संस्कृत साहित्य का इतिहास : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०--शारदा मंदिर, वाराणसी, तृतीय संस्करण, सन् १९५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : वाचस्पति गैरोला, प्रका०--चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६०.

संस्कृत सुकवि समीक्षा : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका०--चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६३.

सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, प्रका०--चौखम्बा ओरिण्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७६.

सहृदयम् (पत्रिका) : संस्कृत मासिक, मद्रास, भाग २३.

साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ, प्रका०--चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, वि० संवत्, २०२६.

सुवृत्ततिलक : क्षेमेन्द्र, प्रका०--चौखम्बा विश्व भारती, वाराणसी-१.

हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर : एम० कृष्णमाचारियर, प्रका०--तिरुमलु तिरुपति देवस्थानम् प्रेस, मद्रास, प्रथम संस्करण, सन् १९३७.

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org